अप्रैल १९५२
संव २००९

भाग ७५ सं० १

प्रधान सम्पादक

डा० हीरालाल निगम

एम० एस-सी डी० फिल

Approved by the Directors of Education
Uttar Pradesh and Madhya Pradesh for use
in Schools, Colleges and Libraries

विषय-सूची

मुद्रक—वैनगार्ड प्रेस, प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद्, प्रयाग।

वार्षिक मूल्य तीन रुपये, एक संख्या का मूल्य चार आने।

पृथ्वी की शिलाएँ

ले० जगपति चतुर्वेदी

पृथ्वी के गर्भ का रहस्य विज्ञान ने किस रूप में प्रस्तुत किया है, इसकी जानकारी बड़ी ही रोमांचकारी है। इनका वर्णन भूगर्भ विज्ञान का मुख्य विषय है। उस विज्ञान के साधारण विषय-निरूपण में यह शिलाओं के संबन्ध में प्रारम्भिक अध्याय है।

जब कभी हमें कोई लम्बी यात्रा करनी होती है तो हम मार्ग के लिए व्यय का हिसाब लगाकर पग उठाते हैं। वास्तव में हमारा यह संबल ही हमारी यात्रा की छोटाई या बड़ाई, लघुता या दीर्घता, सरलता या कठिनता का आभास दे सकता है, किन्तु कितने ऐसे भी साहसी, वीर पुरुष होते हैं जो संबल की चिन्ता न करके भी यात्रा के लिये चल पड़ते हैं और उसे पूरा किए बिना दम नहीं लेते। ऐसी ही सामग्री-हीन और साहसिक यात्रा भूगर्भ विज्ञान की कही जा सकती है जिससे जिज्ञासु खोजियों ने अपनी जिज्ञासा और खोजवृत्ति से पृथ्वी के सम्बन्ध का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर उसकी तह में छिपी सामग्रियों को अपने अथक परिश्रम से ढूंढ़ निकाल निकालकर संसार के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया। उनका कोई पथ-प्रदर्शक नहीं था। उनके पास मार्ग का कोई संबल नहीं था। उनकी यात्रा का कोई उत्साहवर्द्धक वा प्रेरक कारण नहीं था। उन्होंने तो अपनी जिज्ञासा वृत्ति से ही अन्य क्षेत्रों वा कार्यों में लगे रहकर धीरे-धीरे इस विज्ञान की जड़ जमाकर इसे एक स्वतंत्र रूप दिया।

हमारी पृथ्वी कितनी विस्तृत है, उसके तल कितने विभिन्न प्रकार के हैं, उसके महासागर और स्थल खंडों की रचना कैसी विशाल है, जीव-जन्तुओं, वनस्पति आदि का फैलाव और आकार-प्रकार कितना अधिक है, इन सबकी पूर्व युग-युगान्त में क्या अवस्था थी, उनमें कब-कब कैसे-कैसे परिवर्तन हुए हैं, उन अवस्थाओं और परिवर्तनों का भव्य चित्र किस प्रकार बोलते हुए चलचित्र (टाकी) की भाँति प्रदर्शित किया जा सकता है, ये कम मनोरंजक चर्चाएँ नहीं हैं। संसार की आज की, तुषार से आच्छादित हिमालय, आल्प्स, राकी आदि विशालकाय, दुर्लंघ्य पर्वतमालाओं का पूर्व रूप मामूली सपाट भूतल ही नहीं, बल्कि उससे भी नीचे, समुद्र के क्षुद्र घोंघे, शंख, मछली आदि जन्तुओं से पददलित जलखंड था और दक्षिणी पूर्वी अफ्रिका, मेडागास्कर, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अमेरिका के ब्राजील आदि बीच के, आज के, जलखंडों से पृथक-पृथक न होकर किसी समय एक ही विस्तृत महादेश के भाग थे अथवा पृथ्वी पर आज से पूर्व कितने ऐसे जीव-जन्तुओं की जातियों का जन्म और लोप हो चुका जिनको हम कोई नाम भी नहीं दे सकते, जिनके हजार डेढ़-हजार मन तक तौल का हम कोई अटकल भी नही लगा सकते। इन सब बातों के अतिरिक्त पृथ्वी के तलों और निचली तहों की भी रचना, उनके निर्मायक पदार्थों की पूर्वकथा अथवा परिवर्तनशीलता, संसार की रूप रेखा, जलवायु आदि में उनके युगयुगों में मुख्य भाग आदि को भी बताने में भूगर्भ विज्ञान को कितनी सफलता मिली है, इसको समझते समय हमें ध्यान में रखना होगा कि इस विज्ञान के खोजियों ने कोई जादू की लकड़ी काम में नहीं ली, पृथ्वी के गर्भ में प्रविष्ठ करने का कोई अपूर्व साधन उन्होंने

नहीं प्राप्त कर लिया, विज्ञान का कोई सर्वथा नया सिद्धान्त उन्होंने प्रयोगशाला में नहीं ढूंढ़ निकाला, बल्कि भूतल पर की मिलने वाली साधारण वस्तुओं की ही देख-रेख तथा उनके गंभीर निरीक्षण से एक-एक सत्य की कड़ी विज्ञान की खोज में जोड़जोड़कर अपने अनुसंधान का सजीव महल खड़ा किया।

पृथ्वी तल पर हम पर्वत की ऊँची से ऊँची चोटी एवरेस्ट छः मील से कुछ कम ऊँची ही देखते हैं जहाँ मनुष्य अपनी दृष्टि और खोज की निसेनी पहुँचा सकने में सफल हो सकता है, किन्तु दूसरी ओर महासागर की अधिक से अधिक गहराई फिलीपाइन्स के निकट प्रशान्त महासागर (पैसिफिक ओशेन) में मिलती है। इस गहराई का पता लगने पर भी उस तक खोज के साधन पहुँचाने का मनुष्य के पास कोई साधन नहीं। वहाँ पर पानी के ऊपरी दबाव का इतना अधिक दबाव मिल सकता है कि कोई यंत्र समुद्र की तलेटी तक पहुँच ही नहीं सकता। किसी मनुष्य के वहाँ तक पहुँचने की बात तो और भी कठिन है। इस तरह बारह मील की इन दोनों मिली हुई मुटाइयों के बराबर पृथ्वी के तल का दृश्य कुछ-कुछ हमारे सामने आ सकता है। इतने ही फैलाव के साधन पर मनुष्य की पृथ्वी संबंधी सभी खोजें आधारित हैं।

पृथ्वी के तल वा पपड़ी की इतनी मुटाई के भाग पर हम एक स्थूल या विहंगम दृष्टि डालना उचित समझेंगे। गहरे महासागरों के पेटे की बात तो जाने दीजिए जिन तक मनुष्य की अभी तक किसी प्रकार पहुँच ही नहीं हो सकी है, किन्तु मनुष्य की पहुँच हो सकने वाली गहराई के समुद्र के पेटे या तलेटी के भी नीचे की स्थिति ज्ञात हो सकना सुविधाजनक नहीं है। उस पेटे का भी भलीभाँति निरीक्षण कर सकना कठिक है परन्तु स्थल खंड सबके लिए खुला है जो उसकी खोज में घर से बाहर निकल सकने का कष्ट कर सकता हो। यह खुला हुआ पृथ्वी-तल का भाग ही मनुष्य की तीक्ष्ण दृष्टि से एक विलक्षण संग्रहालय रूप में परिवर्तित हुआ जान पड़ता है। हिमालय की चोटी एवरेस्ट संसार के भूखंड की पर्वत-श्रेणियों का सबसे ऊँचा भाग है, जिसकी ऊँचाई समुद्र-तल से २९१४१ फीट है। ऐसे स्थलों में हमें भूमि-खंड का अधिक ऊँचा भाग दिखाई पड़ता है। इन सब ऊँचे-ऊँचे भागों का निर्माण जिन शिलाओं से हुआ है उन्हें तलछटीय या समुद्रीय शिलाएँ माना जाता है। हमें स्थूल दृष्टि से कहीं तो ऐसे ऊँचे पहाड़ दिखाई पड़ते हैं और कहीं सपाट मिट्टी से ढँका मैदान। वहीं मिट्टी फल फूल, वनस्पति आदि की उत्पत्ति करती है। उसी के नीचे से कुओं से पानी भी हमें प्राप्त होता है जो पीने और सिंचाई के काम आता है। हम नदियों के पेटे और कुओं की खुदाई वा पुल आदि बनाते समय इस मिट्टी की निचली तहों तक पहुंचाते हैं। बड़ी नदियों पर पुल बनाते समय इंजीनियर गहराई तक पाए धसाता है जहाँ पर नदी के जल द्वारा हानि पहुँचाई जा सकने वाली नरम तह न हो। वैसी ही पथरीली तह धरती पर मिट्टी या पानी के नीचे सब जगह होती है। ऊपर की मिट्टी की तह से हम उसे न देख सकने के कारण समतल भूमि के मैदान और ऊँचे तल पर ऊपर की मिट्टी न होने से पथरीला भाग ही दिखाई पड़ने पर पहाड़ या पहाड़ी नाम देते हैं। वास्तव में सारा जगत पथरीली तह के ऊपर ही है। हाँ जगह-जगह पर उन पथरीले तलों के प्रकार वा उस पर के ऊपर की मिट्टी की तह और उसके ऊपर भी पेड़-पौधों की बाढ़ में विभिन्नता अवश्य ही है। मिट्टी की तह और कुछ नहीं बल्कि हिमालय ऐसे पर्वतों की पथरीली तह का ही सड़ा-गला वा बिखरा रूप है जो आज हमें इतना लाभप्रद दिखाई पड़ती है। रासायनिक विश्लेषण करने पर इन सब नरम वा कड़े रूप के पदार्थों में एकरूपता स्पष्ट जान पड़ती है। अतएव भूगर्भ विज्ञान के विद्वान यदि मिट्टी, बालू, कोयला, चूना पत्थर आदि शिला शब्द के अन्दर ही मानते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यदि किसी का रूप बदला है, कण बिखरे हैं, कीचड़ धूल आदि की तरह गंदला रूप है तो

भी कोई बात नहीं। वे सब हैं उसी शिला के वंशज इस वंश का जो रूप तलछटीय शिला के नाम से पुकारा जाता है वही स्थल के ऊपर हमें सब जगह अधिकांश रूप में दिखाई पड़ता है। इसे हिमालय की ऊँची शिखर वा दूसरी ऊँची पर्वत-मालाओं के रूप में हम कहीं-कहीं कई मील ऊँचा भले ही देखें परन्तु स्थल पर इसके सब जगह फैलाव का औसत लिया जाय तो कुल मोटाई आधा मील ही होगी। किन्तु इस शिला या इसके बिखरे हुए रूपों के अतिरिक्त एक दूसरी शिला कहीं-कहीं धरातल पर ही देखी जाती है जिसका रूप पृथक रूप का मालूम पड़ सकता है। इसे मूल या आग्नेय शिला कहते हैं।

मूल या आग्नेय शिलाएँ तलछटीय शिलाओं से वैसी ही विभिन्नता रखती दिखाई पड़ सकती है जैसी नए सिले वस्त्र और गुदड़ी में मिलने वाले पुराने कपड़ों के तैयार किए पहनावे में हो सकती है। प्रकृति ने अग्नि शिलाओं की रचना में अपने गर्भ के पदार्थों को कोरे रूप में प्रयुक्त किया है लेकिन तलछटीय शिलाओं में उन पदार्थों के वे रूप नहीं रह गए हैं। एक तो उनके मौलिक पदार्थ या तत्व बिखर-बिखर कर कुछ नए और कुछ पुराने पदार्थों या यौगिकों की रचना किए होते हैं, दूसरे सभी कण घिसे-घिसाए रूप में ही होते हैं। अग्नि-शिला में पृथ्वी की भीतरी तह का कोरा पदार्थ प्रचंड ताप से पिघले रूप में रहकर जमा होता है जिससे उनके रवे या मणिभ (क्रिस्टल) खिले हुए रूप के होते हैं। रसायन विज्ञान हमें रवों के बनने का सुन्दर दृश्य दिखा सकता है। कुछ पदार्थों के घोल (पानी या तरल पदार्थों में घुले रूप) या पिघले द्रव किसी निश्चित ताप पर अपने अंदर विचित्र रूप के कण बनाते हैं जिनका आकार कुछ निश्चित रूप के कोणों या किनारों का होता है। उनका भली भांति अध्ययन कर भेद भी निश्चित किया जा चुका है।

हमें रवों के निर्माण और आकार-प्रकार के भेद में न उलझ कर शिलाओं की कुछ चर्चा करनी है। अतएव हमें यही जान लेना चाहिए कि यदि रवे धीरे धीरे बनने का समय पावें तो पूर्ण वृद्धि पाकर बड़े आकार के बन सकते हैं, परन्तु उनके लिए निश्चित तापक्रम को कुछ स्थिर न रखा जा सके तो तापक्रम शीघ्र कम या अधिक हो जाने से उनका बहुत छोटा रूप हो सकता है। यह तो रवों की छोटाई या बड़ाई की बात हुई। इसके अतिरिक्त ऐसा भी हो सकता है कि उचित तापक्रम पर्याप्त समय तक मिलने पर भी किसी कारण फैलने का स्थान न पा सकने पर उनके रवे अधबने या दबे हुए रूप के रह सकते हैं। परन्तु इन बाधाओं से उनकी जाति पहचानने में तो बाधा नहीं हो सकती। अतएव किसी न किसी रूप में रवों का रूप हमें आग्नेय शिलाओं में देखने को मिल सकता है। बड़े रवों वाले शिला-खंड में तो अपनी आंख से भी उनका रूप पहचान सकते हैं किन्तु छोटे आकार के रवे वाले शिला खंडों को सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखकर हम उनके मणिभ का दिग्दर्शन कर सकते हैं। प्रारम्भिक शिलाओं की रचना में जिन रवों को प्रकृति ने रक्खा था या इस समय भी जो ज्वालामुखी के उद्गार के समय भूगर्भ से बाहर आए द्रव पाषाण या लावा रूप में धरातल पर आकर सूक्ष्म रूप में बनते दिखाई पड़ते हैं, उनको जब प्रकृति वर्षा, तुषार, आँधी, सर्दी गर्मी, नदी की धारा या समुद्र की लहरों आदि अपने अन्य उपादानों द्वारा खंडन मंडन कर मूल शिला से पृथक कर बखेर देती और उन्हें अपने भाग्य पर धक्के खाने के लिए छोड़ देती है तो वे चक्कर खाते-खाते, सब तरह के धक्कों, खंडन-मंडन क्रिया और भौतिक तथा रासायनिक प्रक्रियाओं की चोट सहते-सहते जीर्ण-शीर्ण रूप के होकर नदी, झील, या समुद्र की तरेटी में पहुँच कर फिर कुछ अन्य सहायकों, जल के बंधक साधनों और दबाव की क्रियाओं से शिला रूप में होकर दृढ़ता धारण करते या कहीं स्वतन्त्र या अन्य वस्तुओं के साथ पड़े रहते हैं। हम सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से इन अभागे, धक्के खा-खाकर अपने मणिभीय रूप या आकारों को नष्ट किए कणों को घिसे-घिसाए रूप में देख सकते हैं।

पृथ्वी की पपड़ी में सबसे ऊपरी तह या पट्टी में हम

आधे मील की औसत मोटाई में जहाँ तलछटीय शिलाओं के होने का प्रमाण पाते हैं वहाँ उनके नीचे आग्नेय शिलाओं की पट्टी मिलती है। तलछटीय शिला के ठीक नीचे की पट्टी 'ग्रेनाइट' नाम की अग्नि शिला है। उसकी गहराई दस मील तक होगी। ग्रेनाइट की पट्टी के नीचे की अग्निशिला की ही पट्टी 'बसाल्ट' नाम की शिला है जो २५ या ३० मील की मोटाई में पृथ्वी के चारों ओर फैली होगी। बसाल्ट की पट्टी के नीचे भी पृथ्वी की गहराई में आधी दूर तक कुछ विशेष प्रकार की शिला ही है जिसको अग्निशिला का एक अन्य भेद कह सकते हैं। ये सभी शिलाएँ पृथ्वी की गहराई के आधे भाग तक फैली होकर मुख्यतया ठोस रूप में ही हैं। किसी कारणवश इनमें से कदाचित् बसाल्ट की तहें भूकंप के क्षोभ के समय भूतल में फटी दरारों या एक ही छेद से गले रूप में ऊपरी तल पर पहुँचकर भयानक कांड उपस्थित करती हैं। एक छेद से निकलने वाला लावा मुँह के ऊपर जमता जाकर ही उसे पर्वत रूप में ऊँचा करता जाने पर ज्वालामुखी पर्वत नाम दे देता है। ग्रेनाइट की पट्टी का ऊपरी तल हमें दक्षिण भारत, पूर्वी दक्षिणी अफ्रिका, ब्राजील आस्ट्रेलिया और कनाडा आदि में अब भी खुले रूप में दिखाई पड़ता है जहाँ कुछ अंश कदाचित् मूल रूप की तह का भी हो परन्तु उससे नीचे की अग्निशिलाओं की कोई पट्टी या तल अपने मूल स्थान पर देखने को नहीं मिल सकता। प्रकृति कदाचित् हमारी अशक्तता समझकर ही निचली तहों में से बसाल्ट के नमूने पृथ्वी के ऊपरी तल पर दहकते हुए लावा के रूप में पहुंचाती है। उनके सम्बन्ध में हम बाद में पृथक् रूप से वर्णन करेंगे। यद्यपि मूल स्थान पर बसाल्ट की तह हमें सुलभ नहीं है किन्तु ज्वालामुखियों या पृथ्वी के इसी प्रकार के क्षोभों से ऊपर लाए हुए लावा के अंशों की कमी नहीं है। वे बड़े विस्तृत क्षेत्र में भी फैलकर हमारे लिए आवास तथा कृषि, व्यवसाय आदि का आधार बने हैं। नीचे की तह से अधिक से अधिक २५ मील की गहराई के पदार्थ हमें धरातल पर पहुंचे हुए मिलते हैं। अतएव २५ मील की गहराई तक के भूखंड को पपड़ी या पर्पटी नाम दिया गया है। हम इतने ही भाग का अध्ययन प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

हम यहाँ पर कुछ अन्य शिलाओं की चर्चा कर देना अनुचित नहीं समझते जो इन शिलाओं के ही रूप से कुछ मिलती किन्तु प्रकारान्तर की हैं। इनमें हम चूने का पत्थर या खरिया मिट्टी का नाम पहले ले सकते हैं। जबलपुर में पहाड़ों की तरह इनको भी शिला रूप में देखा जाता है जिन्हें खोद-खोदकर लोग घरों की पुताई करते हैं। खरिया मिट्टी का ढोंका भी और कुछ नहीं, एक शिला खंड ही है। ये दोनों पदार्थ दो नाम के होने पर भी एक ही मूल पदार्थ हैं। इनको जीव जन्तुओं की कड़ी खोल, हड्डी और घोंघे, शंख आदि का प्रसाद समझना चाहिए। घोंघे, दोहन, शख, सीपी आदि भी जीव हैं जो जल में अपने शरीर को कड़ी खोल के रूप में बना लेते हैं। इनकी ही अगणित संख्या के युगों तक एकत्र ही पैदा होते और मरते जाने से समुद्र में कभी तलछटीय शिलाओं की तरह एक पतली या मोटी से मोटी तह ही बन गई। वही हमें चूने के पत्थर रूप में मिलती है। हम सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर इसके कणों में उन जन्तुओं के कठोर खोल को स्पष्ट देख सकते हैं। पत्थर-कोयला भी इसी तरह पूर्वकाल के भारी-भारी जंगलों के कीचड़ में दबकर कठोर शिला रूप में हो जाने से बना है, जिसमें उनके डाल पत्ते प्रायः अपना रूप छोड़े दिखाई पड़ते हैं। इन डाल पत्तों के चिन्ह की तरह तलछटीय शिलाओं में हमें जीव-जन्तुओं के कंकाल या पगचिन्ह तक अपना आकार सुरक्षित रखकर शिला रूप ही हो गए दिखाई पड़ते हैं। इनको अवशेष या निखातक (खोदकर निकाला पदार्थ—फासिल) कहते हैं।

पत्थरों के पेट में छिपे हुए मृत जन्तुओं के कंकाल पेड़ बनस्पति आदि के ढाँचे या जन्तुओं के नर्म भाग या पग-चिन्ह तक के अवशेष हमें जिस रूप में संसार में मिलते हैं, उनसे पृथ्वी की पूर्व रचना के संबंध में बहुत कुछ ज्ञात

हो सका है। पत्थरों को खोदकर पाए जाने से ही इनको निखातक या खोदकर निकाला हुआ (फासिल) कहने से इन संबंध के ज्ञान या खोजों को निखातक विज्ञान (पेलियाएटालाजी) कहा जा सकता है किन्तु आज से बहुत पहले भी ये जन्तुओं या वृक्षों की जड़, तने, डाल या पत्ते तक का वास्तविक रूप सुरक्षित रखसकने वाले चिन्ह लोगों को जब तब मिल जाया करते होंगे। खोज-वृत्ति के अभाव में इनके सम्बन्ध में लोगों की तरह-तरह की मनगढंत, अटकलपच्चू विचार या कल्पनाएँ लोगों के विवेकहीन मिथ्याविश्वास को प्रकट कर सकती हैं। कोई कहता था कि ये ब्रह्मा की सृष्टि के आदिम प्रयोग से हैं जिसे उन्होंने संतोषजनक न देखकर त्यक्त कर दिया। दूसरे कहते कि जिस तरह हमें पृथ्वी के सौन्दर्य के लिए धरातल के ऊपर विविध प्रकार के फूल पत्ते आदि दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार पाताल जगत के ये आभूषण स्वरूप हैं। कुछ की यह भी कल्पना थी कि ये सूर्य भगवान के प्रसाद हैं अपूर्व कल्पना किसी व्यक्ति ने यह की कि शैतान ने इन अवशेषों या निखातकों को मनुष्य को धोखा देने और चकित करने के लिए पाषाण गर्भ में स्थित किया है।

पाषाण-गर्भ में स्थित अवशेषों या निखातकों की विवेकपूर्ण खोज इटली के उद्भट विद्वान लियोनर्डो डा विंची ने आज से ४, ५ सौ वर्षों पहले की। लियोनर्डो इटली के फ्लोरेंस नगर में इंजीनियर था, किन्तु वह बड़ा ही मेधावी व्यक्ति था। आधुनिक युग के कलाकारों, वैज्ञानिकों और कवियों में उसको आदरपूर्वक स्थान दिया गया है। उसकी बनाई भव्य प्रस्तर-मूर्तियाँ संग्रहालयों में आज भी स्थान पाती हैं। इसने वैज्ञानिक रूप की अनेक खोजों की भविष्यवाणी की थी। इसे फ्रांस-सम्राट् के आमंत्रण पर फ्रांस जाने का अवसर मिला था।

एक कुशल इंजीनियर के रूप में देश के भिन्न-भिन्न स्थलों के निरीक्षण का अवसर मिलने से लियोनर्डो को निखातकों अर्थात् पत्थरों में छिपे अवशेषों का अध्ययन करने का भी अवसर मिला। इटली देश के पर्वतों के गर्भ में आधुनिक समुद्री जीवों के अनुरूप निखातकों का आकार उसे विशेष रूप से आकर्षित कर सका। समुद्र के किनारे जा-जाकर उसने जीवों का निरीक्षण करना प्रारम्भ किया और उनके रूप से पर्वतीय तल के निखातकों का मिलान प्रारंभ किया। दोनों में उसे अद्भुत समानता दिखाई पड़ी। अतएव उसने निष्कर्ष निकाला कि ये निखातक या अवशेष अवश्य ही कभी समुद्र-तल में बने होंगे और पानी में मिट्टी, रेत आदि के साथ दब कर अंतस्तल में दबे रहकर उस जमी हुई तरेटी के अंग हो गए होंगे। उस तरेटी के ही अन्य तलों से दबकर कड़ा होने और फिर सारे तल के ऊपर उठ जाने से पर्वत बना होगा। यह लियोनर्डो के पर्वत खंड और समुद्र तल में मिट्टी रेत आदि जमने और उनमें सीप घोंघे, जीवों के कंकाल आदि दब जाने का प्रत्यक्ष निरीक्षण करने का परिणाम था जिससे उसको ऐसी बात सूझी। लियोनर्डो ने पर्वत के पाषाण-खंड में निखातकों का ध्यानपूर्वक प्रत्यक्ष निरीक्षण कर देखा कि उसमें समुद्री जीवों की कड़ी खोल के छोटे या बड़े सभी रूप हैं मानो कोई जीव पैदा होकर अल्पायु ही हो, कोई वय प्राप्त हो तथा कोई जीर्ण अवस्था का हो। उनमें जीवों के नर्म मिट्टी पर चलने के समान बने पग-चिन्ह भी थे। कुछ टूटे फूटे घोंघे या कड़ी खोलों के भाग थे। कुछ सीपी आदि की तरह नीचे-ऊपर की दोनों खोलों युक्त थे। इस तरह की सृष्टि तारात्रों या आकाश की किसी शक्ति के अद्भुत प्रभाव से बनी नहीं हो सकती थी। जन्म, मृत्यु और मध्य जीवन सभी रूपों का जमघट उनमें कैसे किसी बाहरी शक्ति की देन से हो जाता। वे प्रलय या तूफान के प्रभाव से भी इतने दूर के स्थल खंड में पहुँचे नहीं हो सकते थे, क्योंकि तूफान या प्रलय के क्षोभ से एक साधारण सीप की खोलों का जोड़े रूप में बचा रह सकना किस प्रकार संभव हो सकता था! फिर कुछ जन्तु उसे ऐसे दीख पड़े जिनकी मंद गति से दो-ढाई सौ मील की दूरी तै कर पर्वत खंड की यात्रा

कर सकना कभी भी संभव नहीं हो सकता था। इन तर्कों और प्रत्यक्ष निरीक्षणों से लियीनर्डों का निकाला निष्कर्ष भूगर्भ विद्या की महत्वपूर्ण खोज थी।

लियोनर्डो डा विंची ने पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में अपनी ये खोजें कीं। उसके कुछ समय बाद जर्मन देश के दो विद्वानों ने अठारहवीं शताबदी में इस खोज को और आगे बढ़ाया। उन विद्वानों के नाम लेहमैन और क्रिश्चियन फुशेल हैं। अपने देश में ग्रेनाइट नाम की आग्नेय शिलाओं के ऊँचे पर्वतीय खंड के अंचल में दूसरे प्रकार की शिलाओं से बनी कुछ निचली भूमि में उन्होंने निरीक्षण करने की पर्याप्त सामग्री देखी। लेहमैन ने ऊँचे विद्रूप शिलाखंड के ग्रेनाइट रुप को भी देखा जिसमें निखातकों या अवशेषों का अभाव था। उधर बड़ा मैदान बनाने वाले पत्थर निखातकों से भरे-पुरे और तहयुक्त दिखाई पड़ते। प्रस्तर शब्द का अर्थ ही है 'स्तरयुक्त'। वास्तव में इस शब्द के ठीक अर्थ के अनुरूप ही लेहमैन को मैदान वाले शिलाखंड दिखाई पड़े। इनमें उसने एक के बाद एक तह की खोज कर तीस स्तर या तहों तक का पता लगाया। इन तहों में भी अवशेष पाकर उसका ठीक ही अनुमान हुआ कि विद्रूप और अवशेष या निखातक (फासिल) हीन ग्रेनाइट पर्वत अवश्य ही पूर्व रचना के परिणाम होंगे और उनके अंगों के खंडित पदार्थों के जमने और उनमें दबे हुए जन्तु कंकालों के चिन्हों से मिलकर प्रस्तर या तहदार पत्थर बने। इन प्रस्तरों में उसे पृथ्वी का इतिहास लिखा दिखाई पड़ा। उसने अवशेष या निखातक-हीन शिला को मुख्य या मौलिक शिला नाम दिया तथा अवशेष युक्त तथा स्तरों वाली शिलाओं को, बहुत दूर-दूर तक फैलकर अनेक तहों में बनी होने के कारण गौण शिला नाम दिया। यह भूगर्भ-विज्ञान की खोज में एक अगला पग था। फुशेल ने अपनी खोजों से स्वतंत्र रूप से यह ज्ञात किया कि अवशेष या निखातकों की विद्यमानता किसी विशेष क्रम को प्रकट करती है। शिला की निर्दिष्ट तहों में कुछ निर्दिष्ट रूप के निखातक (फासिल) या अवशेष ही पाए जाते हैं। यह क्रम का निर्देश अवश्य ही एक महत्व रखता है जो पृथ्वी की का रहस्य खोलने में सहायक हो सकता है।

फ्रांस देश में एक गरीब किसान का निकोलस नाम का लड़का अपना निर्वाह किसी तरह बालकपन में कर किसी पादरी की उदारता से गांव में ही कुछ शिक्षा प्राप्त कर सका। उसके प्रश्रयदाता ने उसकी प्रखर बुद्धि देखकर उसे पेरिस की भव्य नगरी में भेज दिया। वहाँ वह कुछ निजी रूप से अध्यापन कर निर्वाह करने लगा। धीरे-धीरे वहाँ कुछ विद्वानों और वैज्ञानिकों की मंडली के सम्पर्क में आ सका। सौभाग्य से सन् १७६३ ई० में उसे किसी विद्वान की कृपा से सरकारी नौकरी मिल गई और वह सरकारी उद्योग-धन्धे विभाग का निरीक्षक (इंस्पेक्टर आफ इंडस्ट्रीज) नियुक्त हो गया। यह सरकारी विभाग अपने कर्मचारी रूप में केवल एक व्यक्ति का विभाग था। इस पद पर रहते हुए निकोलस डेसमरेस्ट ने देश के भिन्न-भिन्न भागों का निरीक्षण करने का अवसर प्राप्त किया। फ्रांस के एक जिले में एक उजाड़ सा पठार है। वहाँ पठार के ऊपर न तो कोई बस्ती थी और न उन दिनों कोई सुविधापूर्वक जाने का मार्ग। वहाँ जाने का कोई विशेष आकर्षण भी नहीं था। कुछ मनचले खोजी कभी-कभी उधर चले जाते थे। वहाँ पठार पर ज्वालामुखियों के कुछ चिन्ह, जमे हुए लावा आदि के भाग से बने पाषाण थे। डेसमरेस्ट ने पैदल ही जाकर, सब स्थानों को देखते, देहातियों से दिल खोलकर हँसते हुए मिलते निरीक्षण आरम्भ किया। जहाँ कहीं भी चट्टानों की खुदाई करते मजदूर मिलते, उन खंडों तक वह जाता, सब से बातें कर उन स्थानों का हालचाल जानने का का प्रयत्न करता। उसे धीरे-धीरे सब स्थानों को देखकर भली-भाँति ज्ञात हुआ कि किस प्रकार ज्वालामुखी का मुख कोई ऊँचा शंकाकार (लट्टू को उल्टा रखकर नाचने वाला कीला ऊपर और ऊपर वाला भाग नीचे रखने पर बना रूप) टीला होता है, उसका शीर्ष कुछ पचका हुआ

सा होता है। उस मुख से निकले लावा के जमे हुए रूप चारों ओर सर्प की चालसे फैले और जम गए दिखाई पड़ते हैं जिन पर आसमान के तल से भिन्न प्रकार के कुछ विशेष पौधे ही उगे दिखाई पड़ते हैं। उसने यह भी देखा कि यही सर्प की तरह फैले भाग मोटी तह होने पर दरार फट फट जाने से विचित्र खंभों या स्तंभ के रूप में दिखाई पड़ते हैं। मूल ज्वालामुखी के लापता हो जाने पर भी मोटी तह की रचना पत्थर रूप में होने पर या लावा के धीरे-धीरे जमने पर ये खम्मे बने होते हैं। अधिक मोटी तह में कभी-कभी ऊपरी तह में खम्भों की एक श्रेणी मिलती है और नीचे की तह अधिक धीरे-धीरे जमने से अधिक सुन्दर रूप के खम्भों में दूसरी, तीसरी श्रेणी रूप में दिखाई पड़ती है।

एक प्रकार से ज्वालामुखी से लावा निकलकर उसका मुँह बनने, जमकर बाहर की लम्बी-लम्बी साँप की तरह तहें जमने या अन्य प्रकार की मोटी तहें जमने या उस प्रकार की शिला से ही दुहरे तिहरे खम्भों वाली विचित्र वस्तु बनने का अनुक्रमिक चित्र चलचित्र के रूप में वहां पठार पर उपस्थित था। डेसमरेस्ट ने उसका अध्ययन कर प्रकट किया कि पृथ्वी के गर्भ से बाहर निकले पिघले पदार्थों के ही जमने से आग्नेय शिलाएँ किस प्रकार भूतल पर विद्यमान होती हैं। उसकी इस खोज का महत्व आज के भूगर्भ-विज्ञानवेत्ता कभी भी अस्वीकार नहीं कर सकते।

इन खोजों के होने के पश्चात् भी जर्मनी में एक दूसरा विद्वान हुआ जिसने अपनी प्रतिभा से भूगर्भ विद्या का प्रचार करने में बहुत अधिक सहायता तो अवश्य की किन्तु उसने एक भ्रान्त धारणा भी फैला दी कि आग्नेय शिलाएं अग्नि या ज्वालामुखी के प्रभाव की न होकर समुद्र देवता का ही प्रसाद हैं। इस विद्वान का नाम अब्राहम वर्नर था। इसका पिता एक लोहा ढालने वाला व्यवसायी था। अतएव अपने पुत्र अब्राहम वर्नर में खनिज विज्ञान की रुचि होने का विशेष प्रयत्न किया। जर्मनी के सैक्सोनी प्रान्त में फ्रीबर्ग के खनिज विद्या के विद्यालय से इसने शिक्षा प्राप्त कर अपनी ऐसी योग्यता का प्रदर्शन किया कि २५ वर्ष आयु में ही वह वहां अध्यापक नियुक्त हो गया। धीरे-धीरे उसकी प्रतिभा का इतना यश फैला कि देश-देशान्तरों से खनिज विद्या का अध्ययन करने के लिए छात्रों का वहां तांता बंध गया। खनिज विद्या के इस विख्यात आचार्य ने निश्चय ही अपने छात्रों में खनिज विद्या की उन्नति के प्रति अगाध प्रेम उत्पन्न करना प्रारम्भ किया। किन्तु उसने बाहरी जगत का भ्रमण और निरीक्षण न कर सकने के कारण एक यह भ्रान्त मत बना लिया कि किसी समय सारा जगत् एक महासमुद्र के गर्भ में था। संसार के पृष्ठ को बनाने वाली सभी वस्तुएँ उस विचित्र महासागर के जल में ही घुली हुई थीं। उनमें से धीरे-धीरे सब से भारी पदार्थों के जमने से निचली तह ग्रेनाइट ऐसे पाषाण की बनी, फिर उससे हल्की वस्तुएँ अन्य शिलाओं और मिट्टी की तहों को क्रम-क्रम से बना सकीं। ज्वालामुखी को वह ऐसी ही कोई गौण या बाद की घटना बतलाता था, जिसका भूगर्भ की रचना से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। इस तरह वर्नर का सिद्धान्त महासमुद्र या वरुण देव की कृपा का प्रसाद होने से वरुणवादी (नेपच्यूनिस्ट) प्रसिद्ध हुआ। दूसरा दल इसके विपक्ष ज्वालामुखीवादी (वाल्केनिस्ट) हुआ। दोनों दलों में जो संघर्ष हुआ वह पिछली शताब्दी की खोजों की कहानी में एक विशेष स्थान ही रखता है।

अब्राहम वर्नर के शिष्य बड़े कट्टर वरुणवादी होकर निकलते। उन्हीं में से लियोपोल्ड वान बुच, डी अबायसन तथा हम्बोल्ट भी थे जिन्होंने स्वयं विस्तृत क्षेत्र में शिलाओं का निरीक्षण कर अपने आचार्य का मत मिथ्या देखा और उसका खंडन करने में संकोच नहीं किया। लियोपोल्ड वान बुच एक सम्पन्न परिवार का व्यक्ति था। अटूट विद्या प्रेम से ही वह वर्नर के निकट पहुंचा था। अनेक देशों में उसे शिलाओं की रचना का रूप देखने का अवसर मिला। उसने यह देखा कि ज्वालामुखी की क्रिया गौण नहीं कही जा सकती। उसके लावा से बने शिलाखंडों का व्यापक

रूप देश-देशों में दिखाई पड़ा। अंत में उसने बाल्टिक तटीय देशों में नार्वे में ग्रेनाइट का अद्‌भुत रूप देखा। वह थोड़े स्थान में न होकर बहुत विस्तृत क्षेत्र में तो फैला था ही, उसकी स्थिति निश्चित रूप से बाद की बनी गौण या तलछटीय शिलाओं की कुछ तहों के ऊपर दिखाई पड़ी। यही नहीं, प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण ने और भी स्पष्ट रूप का दिग्दर्शन कराया। नवीनतर काल की तलछटीय शिलाओं की तह के अंतरालों, लम्बे छिद्रों में प्रविष्ट कर पतली या नोकीली तह के रूप में जमी हुई दिखाई पड़ी। यह क्रिया पानी के अन्दर जमी होने पर ग्रेनाइट की शिला किस प्रकार भेद सकती थी? यह तो निश्चित प्रमाण था कि ग्रेनाइट का पदार्थ पिघले हुए रूप से बाद में जमा है और तलछटीय शिलाओं में उसी पिछले रूप के कारण अंतरालों, छिद्रों आदि में पतली तह या नसों के रूप में घुसा दिखाई पड़ता है। यद्यपि अनेक वैज्ञानिकों ने आग्नेय शिलाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पहले ही खोजें कर ली थीं तथा प वान बुच की खोज और घोषणा ने वरुणवादियों की मिथ्या धारणा पूर्णतया खंडित करने का काम किया।

परिवर्तित शिलाएँ (मेटामार्फिक राक्स)

तलछटीय शिलाओं की तहों और निखातक या अव. शेष और आग्नेय शिलाओं की रवा युक्त रचना से विभिन्न रूप की शिलाएँ भी देखने को मिलती हैं। यथार्थ में ऊपर तल की बनी तलछटीय या आग्नेय शिलाओं के पुनः भूतल के आकस्मिक परिवर्तनों के कारण दबाव और अधिक गर्मी के प्रभाव में पड़ने से इनका रूप परिवर्तित हो जाता है। भूगर्भ से पिघले रूप में ऊपर की ओर आया हुआ पाषाण-द्रव (मग्मा) स्वय आग्नेय शिला बनते समय अपने भयंकर ताप से अपने विस्तार क्षेत्र के किनारे की शिलाओं को रूपान्तरित कर देता है। उस प्रकार के परिवर्तन के कारण हमें तलछटीय शिला के निखातकों (अवशेषों) या स्तरों का रूप नहीं दिखाई पड़ सकता। कभी केवल भूगर्भ की कोई उत्तम लहर या ज्वाला ही आकर बड़े व्यापक क्षेत्र के पाषाण को उत्तप्त कर परिवर्तित कर देती है। इन परिस्थितियों में तलछटीय या आग्नेय शिलाएँ कुछ ऐसे विकृत या परिवर्तित रूप की हो जाती हैं कि उनके ठीक रूप या रचना का पता नहीं चल पाता और उनको तलछटीय या आग्नेय किसी वर्ग में रखना कठिन जान पड़ता है। इन शिलाओं को परिवर्तित शिलाएँ (मेटामार्फिक) कहते हैं। जेम्स हटन नाम के वैज्ञानिक ने इस प्रकार की शिलाओं के परिवर्तन का अनुमान किया था और उन्होंने उनका कारण भूगर्भ की आंतरिक ज्वाला बतलाया था। चार्ल्स लिएल नाम के वैज्ञानिक ने इस संबंध की अधिक खोज कर इनको शिलाओं के पूर्व रूप से परिवर्तित होने की घोषणा की और इनका नाम परिवर्तितशिलाएँ (मेटामार्फिक राक्स) बतलाया।

—क्रमशः

हमारे मित्र कीड़े

लेखक—प्रेम दुलारे श्रीवास्तव, एम० एस-सी०

हमारी फसलों तथा वृक्षों को हानि पहुँचाने के स्थान पर लाभ पहुँचाने वाले उपयोगी कीड़े भी होते हैं। उन्हीं का इस लेख में वर्णन किया गया है।

आजकल कीड़ों की संख्या इतनी बढ़ी हुई है कि इसे आसानी से कीट-युग कहा जा सकता है। अभी तक कीड़ों की कुल तीन लाख जातियाँ (Species) वर्णन की जा चुकी हैं। ये जल, थल और नभ हर जगह छाये हुए हैं। जीवन में पग पग पर इनसे पाला पड़ता रहता है। कीड़ों की अधिकतर जातियाँ ऐसी हैं जो हमें किसी न किसी भाँति हानि ही पहुंचाती हैं। परन्तु कुछ कीड़े ऐसे भी हैं जिनकी गणना मनुष्य के मित्रों में की जा सकती है। ये कीड़े हमें भाँति भाँति से लाभ पहुंचाते हैं।

लाभदायक पदार्थ उत्पन्न या एकत्र करने वाले कीड़े—इस श्रेणी में रेशम, लाख और मधु आदि के कीड़े सम्मिलित हैं।

(१) **रेशम का कीड़ा**—असली रेशम एक प्रकार के कीड़े के लार से बनता है। ऐसे कीड़े लगभग ३२० जातियों के होते हैं और प्रत्येक जाति द्वारा बनाये गये रेशम के धागे की मुटाई, नाप तथा शक्ति आदि भिन्न होती है। भारत में मुख्यतः दो प्रकार के रेशम के कीड़े होते हैं (I) शहतूत की पत्ती खाने वाला कीड़ा (Bombyx mori) और रेंडी या अण्डी की पत्ती खाने वाला कीड़ा (Attacus ricuni)। शहतूत का कीड़ा तितली आदि के समूही (Sepidoptera) के बाम्बि सिडी (Bombycidae) वंश का, और अण्डी का कीड़ा उसी समूह के सेटर्निडी (Saturnidae) वंश का सदस्य है।
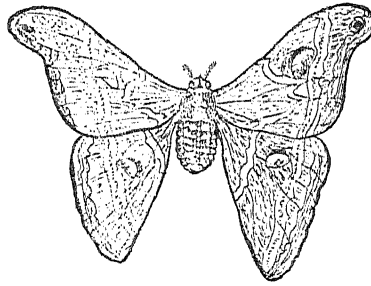
अण्डी के रेशम के कीड़े की भिन्न अवस्थायें

अण्डों के फूटने से बच्चे निकलते हैं जो बहुत खाऊ होते हैं। उन्हें चाय की ट्रे (tray) जैसे मामूली लकड़ी के बने बर्तनों में सुगमता पूर्वक पाला जा सकता है। २५--३० दिन के जीवन काल में ये रेशम के कीड़े या सूंड़ियाँ (Caterpillar) खूब खाती और खूब बढ़ती हैं। पूरी बढ़ी सूंड़ी खाना छोड़कर अपने रहने के लिए एक

घर का निर्माण करने में जुट जाती है जिसमें वह कोशित (Chrysalis) की अवस्था में शलभ बनने तक सुरक्षित रह सके। यह घर रेशम के धागों का बना होता है जिसे वह स्वयं कातती हैं। ये रेशम के धागे तीन दिन में सूखते तथा छः इंच की रफ़्तार से कातते हैं। कोशित को उसके घर सहित कोया (Cocoon) कहते हैं। फिर कोशित शलभ में परिणत होकर कोये के रेशम को काट कर बाहर निकल आता है। कोये से निकलते ही नर मादा लैंगिक संयोग में लीन हो जाते हैं। मादा अंडे देना आरम्भ करती है और फिर नयी पीढ़ी का जीवन शुरू हो जाता है। इसी प्रकार जीवन-चक्र चलता रहता है।

शहतूत के कीड़ों को पालना अंडी के कीड़ों की अपेक्षा कठिन है क्यों कि उनके पालने में अधिक सावधानी बरतनी होती है अन्यथा वे अनेकों रोगों के शिकार हो जाते हैं जिससे रेशम के उद्यम को करारा धक्का लगता है। यदि कीड़ों को धूल व नमी से बचाकर रखा जाय तो उन्हें रोगों से बचाया जा सकता है। रोगों के अतिरिक्त कुछ ऐसी मक्खियाँ भी होती हैं जो कीड़ों के शरीर में घुस जाती हैं जिसके फल स्वरूप कीड़े रेशम कात ही नहीं पाते और यदि कात भी लेते हैं तो मक्खियाँ उसे काट कर बाहर निकल आती हैं और रेशम बेकार हो जाता है।

रेशम के कोयों को उबाल कर या उन्हें भाप के सम्पर्क में रख कर उनके भीतर से शलभ निकलने से पहले ही कीड़ों को मार डाला जाता है परन्तु थोड़े से कोये संतति चलाने के लिये रख लिये जाते हैं। अंडी के रेशम के कोयों को साधारण रुई की तरह धुन कर काता जाता है इसलिये उनमें से शलभ निकल आने पर भी रेशम ख़राब नहीं होता। अतः अहिंसा के अखंड पुजारी भी अण्डी के कीड़ों को पाल कर सहज ही में लाभ उठा सकते हैं। परन्तु शहतूत के कीड़े का रेशम अण्डी के कीड़े के रेशम की अपेक्षा उत्तम अवश्य होता है।

रेशम के कीड़ों को पालने का सबसे पहला प्रयत्न चीन के महाराजाधिराज ह्वांग-टी (Hwang-Te) की रानी सी लिंग-ची (Si Ling-chi) ने किया था। रेशम का नाम ऋग वेद में भी आया है। कहा जाता है कि भारत में पहले पहल शहतूत के रेशम का कीड़ा और शहतूत के बीज एक चीनी राजकुमारी द्वारा छिपा कर लाये गये थे।

अच्छे किस्म के रेशम सेपैराशूट बनते हैं। रेशम से कुछ औषधि संबंधी यंत्र तथा केबुल (Cable) भी बनने लगे हैं।

(ii) **लाख का कीड़ा**—लाख एक प्रकार के कीड़े के शरीर से निकले हुए रस से बनाता है। लाख का कीड़ा (Trachardia lacca kar) होमोप्टेरा (Homoptera) समूह के काक्सिडी (Coccidae) वंश का एक सदस्य है। यह कीड़ा अपने को रक्षार्थ ढकने के लिये अपने शरीर से एक प्रकार का रस निकालता है जो हवा के सम्पर्क में आने पर सूख कर कड़ा हो जाता है और उद्धास सरीखे (resinous) पदार्थ का रूप धारण कर लेता है।
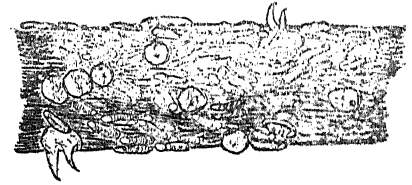
लाख का कीड़ा

इस कीड़े के पालक पौधों (host plants कुसुम (scleichera triyuga) बेर (Zizyphus jujuba), पालक (Butea frondosa), बबूल (Acacia arabica) तथा साल (Shorea robusta) मुख्य हैं। ये कीड़े आम पीपल, गूलर और अंजीर के पेड़ों पर भी मिलते हैं। भिन्न भिन्न पालक पौधों के लाख के गुणों में अन्तर होता है।

अंडों से लाल नन्हें और फुर्तीले शिशु (nymphs) निकलते हैं एक रस चूसने की नली भी होती है। कुछ देर तक पौधे पर विचरने के बाद वे नर्म टहनियों से चिपक कर रस चूसने लगते हैं। कुछ दिनों तक ऐसे ही

रस चूसते रहने के बाद नर कीड़ों के पंख (wings) निकल आते हैं और वे उड़ना आरम्भ कर देते हैं पर मादा यथास्थान चिपके चिपके बढ़ती है। नर उड़ कर मादा के पास आता और उससे लैंगिक संयोग करता है। इसके उपरान्त मादा और बढ़ती है और नई पीढ़ी को जन्म देती है। भारत में लाख का कीड़ा एक वर्ष में प्रायः दो बार अंडे देता है जिनसे शिशु निकलते रहते हैं। इस प्रकार सैकड़ों कीड़े क्रम से समूह में पेड़ों की डालियों से चिपके पड़े रहते हैं और सबके शरीर से उद्यास सरीखा रस निकलता रहता है जो सूखकर लाख बन जाता है। कीड़ों के समूह में होने के कारण लाख भी पेड़ की डालियों पर सिलसिले वार तह के रूप में होता है। इस प्रकार प्रतिवर्ष भारत में पेड़ों की डालियों से छील कर लगभग दस लाख मन लाख निकाली जाती है। उसे धोकर या तो ऐसे ही कटवे लाख के रूप में उपयोग करते हैं या उसे कुछ क्रियाओं द्वारा चपड़ा (shellac) बना लिया जाता है।

लाख के कीड़े के जातक इतने पास पास होते हैं कि कुछ जातक अवश्य मर जाते हैं। तेज़ गर्मी, गर्म हवा तथा पाला आदि से भी क्षति पहुंचती है। इस प्रकार लाख की खेतीमें३०-४० %से कुछ कम क्षति पहुंचती है। लाख के शत्रु कुछ कीड़े भी होते हैं उनसे ३०-४० % के लगभग हानि होती है। कुछ कीड़े लाख के कीड़े पर परजीवी और कुछ हिंसाजीवी होते हैं।

लाख का उद्यम हजारों वर्ष पुराना है। इसका उपयोग बड़े पैमाने पर कम से कम १५९० ई० में होता था। लाख का कीड़ा न पाला जाता है न उगाया जाता है। यह अपने आप ही जंगल के पेड़ों पर होता है और अपना जीवन खो कर लाखों दीन हीन मनुष्यों की रोज़ी चलाता है। लाख की खेती भारत में मध्य प्रदेश, बंगाल और आसाम में होती है। बरमा और पाकिस्तान (सिंध) में भी लाख की खेती होती है। उत्तर प्रदेश में चपड़ा बनाने का मुख्य केन्द्र है। अभी तक मनुष्य अपनी प्रयोगशाला में लाख के टक्कर की कोई दूसरी वस्तु नहीं बना सका है।

लाख का उपयोग वार्निश, पालिश, लिथोग्राफ़ स्याही, मुहर लगाने का चपड़ा, बिजली के विसंवाहक पदार्थों (insulating material) के बने सामान ग्रामोफोन के रेकार्ड, बर्तन, खिलौने, चूड़ियां तथा बनावटी फल फूल आदि बनाने में होता है।

(iii) मधुमक्खी—मधुमक्खियाँ तरह तरह के फूलों से मधु इकट्ठा करती हैं। मधु मक्खी चींटियों और बर्रों (wasps) की तरह एक सामाजिक कीड़ा (social insect) है जो समुदाय बना कर रहता है। यह कई जातियों की होती हैं इनकी तीन जातियाँ जो बर्रों आदि के समूह (Hymenoptera) के एपिडी (Apidae) वंश की सदस्य हैं अधिक सामान्य हैं। सारंग (Apis dorsata) भारतीय मधु मक्खियों में डील डौल में सब से बड़ी होती है और इसके छत्तों से सबसे अधिक मधु भी निकलता है। यह जंगली पेड़ों तथा पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर लगभग ४ फीट लम्बे अकेले छत्ते बनाती है। इसकी छत्तों को प्रायः छोड़ देने की प्रकृति के कारण यह अभी तक सफलता पूर्वक नहीं पाली जा सकी है। छोटी मक्खी (apis florea) तीनों में सबसे छोटी होने के कारण ही छोटी मक्खी कहलाती है। यह भी अकेले छत्ते बनाती है जो झाड़ियों तथा छतो के कोनों आदि में स्थित होते है। यह सीधी होते हुए भी नहीं पाली जाती है क्यों कि इसके छत्ते से बहुत कम मधु निकलता है (३) सत कोचवा (apis indica) सामान्य भारतीय मधुमक्खी है जो भारत भर में पायी जाती है। यह डील-डौल में सारंग से छोटी और छोटी मक्खी से बड़ी होती है। यह सात समानान्तर छत्ते बनाती है जो पेड़ों के खोखलों चट्टानों की कंदराओं तथा कुओं की भीतरी दीवारों आदि बचाव के स्थानों में स्थित होते हैं। यह सीधी भी होती है और इससे मधु भी अच्छी मात्रा में निकलता है।

साथ ही साथ यह साधारणतः छत्तों को छोड़ कर भागती भी नहीं। अभी तक मधुमक्खियों की केवल यही जाति सफलता पूर्वक पाली जा सकी है।

मधुमक्खी के एक समुदाय (colony) में तीन प्रकार के प्राणी होते हैं (१) रानी मक्खी (Queen) का कार्य केवल अंडे देना होता है। एक छत्ते में एक ही रानी होती है जो अपने ३-५ वर्ष के जीवन काल में केवल एक ही बार
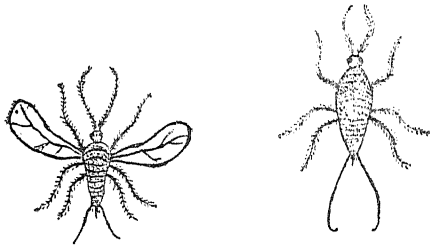
सत कोचवा मधुमक्खी

नर से लैंगिक संयोग करती है। जीवन भर में यह लगभग १५ लाख अंडे दे सकती है और एक समुदाय में एक साथ लगभग एक लाख बच्चे जीवित रह सकते हैं।

(२) **नर मक्खियाँ** (Drones) छत्ते के निठल्ले जीव होते हैं जो समुदाय को कोई विशेष लाभ न पहुँचाकर उल्टे छत्ते में संचित भोजन को खा जाते हैं। हजारों में कहीं एक को "राजा" बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है परन्तु "मुकुट" पहन लेने के बाद शीघ्र ही वह मर जाता है और उसके अन्य नर साथी भी छत्ते से बाहर निकाल दिये जाते हैं जहां भूख की व्यथा और रक्षा की कमी के कारण वे मर जाते हैं। कार्यकर्त्ता (Workers) वहनर या मादा मक्खियाँ होती हैं जो अंडे देने में असमर्थ होती हैं। ये छत्ते की वास्तविक शासक होती हैं। भोजन एकत्र करना, मोम बनाना, संतति पालन, रानी की सेवा और देख रेख, छत्ते में पानी लाना तथा उसे गन्दगी और शत्रुओं से मुक्त रखना कार्यकर्त्ता के मुख्य कर्तव्य हैं।

रानी के लारवा (larvae) १५½ दिन में, नर के २ दिन में और कार्यकर्त्ता के २४ दिन में पूरे बढ़ जाते हैं। यह रानी की इच्छा पर निर्भर होता है कि वह नर से मिले। नर कोशाओं (sperms) को मादा कोशाओं (eggs) से मिलने दे या नहीं। जो अंडे निषेचित नहीं होते उनसे निकलने वाले बच्चे नर होते हैं और निषेचित अंडों से रानी और कार्यकर्त्ता निकलते हैं।

भारतीय मक्खियों का मुख्य शत्रु, मोम शलभ (wax-moth) है। इस शलभ के जातक छत्तों की मोम को काट काट कर खाजाते हैं जिससे समुदाय को बड़ी क्षति पहुंचती है।

शहद निकालने के प्रचलित ढंग नाशकारी और गंदे होते हैं। रात को जब मक्खियाँ छत्तों पर होती हैं, छत्ते लुकारों से जला दिये जाते हैं, जिससे अधिकांश मक्खियाँ जल कर मर जाती हैं और शेष अपंग हो जाती हैं। फिर छत्तों को, जिसमें अंडे बच्चे और पराग भी होते हैं, दबा कर रस निकाल लिया जाता है जो मधु नाम से बिकता है। आजकल मधुमक्खियों को पालने के लिये लकड़ी की बनी हाइव (Hive) उपयोग में आने लगी हैं। मधु निकालने के लिये भी एक यंत्र (honey extractor) बना है जिससे छत्ते टूटते भी नहीं और शुद्ध मधु भी निकल आता है। मधु मक्खियाँ मोम पैसी उपयोगी वस्तु स्वयं तय्यार करती हैं परन्तु एक मन शहद खाकर केवल दो सेर मोम बना पाती हैं।

वरजिल, अरिस्टाटल और टलनी जैसे महापुरुष भी मधु और मोम से परिचित थे। मधु एक अत्यंत स्वादिष्ट और तुरन्त पचने वाला द्रव होता है। उसका बड़ा भैषजीय महत्व है। मोम से मोमबत्ती, खिलौने तथा अन्य उपयोगी सामान बनते हैं।

(iv) **खद्योग या जुगनु** (firefly or glowworm) ये गुबेरेले साधारणतः फौटिनस (Photinus) तथा फोटूयूरिस (photuris) प्रजाति (genus) के होते हैं जो इलेटिरिडी (elateridae) तथा लैम्पिरिडी (lampyridae) वंश के सदस्य हैं। इनमें अपने शरीर से प्रकाश उत्पन्न करने की शक्ति होती है। नर कीड़ों के

पंख होते हैं जिससे वे उड़ते रहते हैं। मादा के प्रायः पंख नहीं होते और वे घास पर ही पड़े पड़े चमका करते हैं। इनमें से कुछ के केवल पिछले सिरों से, कुछ के पिछले सिरों और बगल के पिछले भागों से और शेष के पूरे शरीर के दोनों ओर से प्रकाश निकलता रहता है। प्रकाश निकलने को प्रणय का एक अंग माना गया है जिससे नर मादा का पता पा कर उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। मादा का प्रकाश नर के प्रकाश तथा कोशित से दुगना तेज़ होता है। जुगनू के अंडे, जातक भी चमकते हैं। जुगनू तथा इसके जातक दोनों ही अन्य छोटे छोटे कीड़ों को खाते हैं। लेखक ने स्वयं जुगनू को पीपल के ऊंचे पेड़ों के सिरों पर न्यूनाधिक वर्ष भर उड़ते देखा है। बहुत सम्भव हैं वे पीपल के किसी कीड़े को आहार रूप में ग्रहण करते हों। जिन जातियों में नर मादा दोनों पंखदार होते हैं उनमें उड़ते समय में ऊंचे पेड़ों के सिरों पर लैंगिक संयोग होता हैं। इतने ऊंचे और वह भी केवल एक विशेष प्रजाति के पेड़ों पर उड़ने के सम्भव कारण मालूम पड़ते हैं। इस पर अभी और खोज होने की आवश्यकता है।

जुगनू द्वारा निलकने वाले प्रकाश की विशेषता यह है कि उससे ९२ से १००% तक प्रकाश की किरणें निकलती हैं। यहाँ साधारण गैस के प्रकाश से केवल २५% बिजली के प्रकाश से १०% और धूप से ३५% प्रकाश की किरणें निकलती हैं और शेष ताप की किरणें होती हैं, प्रकाश उत्पन्न करने वाले अंग में ल्यूसिफ़ेरेस (luciferase) नामक विकर (enzyme) होता है जो उस अंग में विद्यमान ल्यूसिफ़ेरिन (luciferine) नामक पदार्थ को आक्सीजन-युक्त (oxidise) कर देता है जिससे प्रकाश निकलता है। यदि कभी ल्यूसिफ़रिन प्रयोगशालाओं में बन सका तो यह मानवता को एक अभूतपूर्व देन होगी क्योंकि मनुष्य को एक ऐसा प्रकाश मिल जायगा जो किसी भी प्रचलित प्रकाश से कई गुना कुशल होने के साथ ही साथ तापहीन भी होगा।

कुछ लोग, जुगनू का उपयोग, फ़ोटोग्राफ़ी में कृत्रिम प्रकाश के लिए करते हैं।

(v) द्रुस्फोट (gall) बनाने वाले कीड़े— द्रुस्फोट मुख्यतः पौधों ही की विशिष्टता होती है जो मोटे तौर पर पौधे पर किसी भी प्रकार की असाधारण वृद्धि को कहते हैं जिसका कारण प्रायः नन्हे नन्हे कीड़े होते हैं।
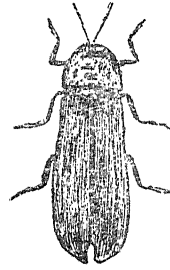
खद्योग

प्राचीन काल में मनुष्य को द्रुस्फोट का पता तो अवश्य था परन्तु उसे यह नहीं मालूम था कि वे जीवित जीवों द्वारा बनाये जाते हैं। लिनी ने उनकी प्रकृति तथा वेग पूर्ण वृद्धि, मैल्पिगी ने (maipighi) उनके

दुस्फोट
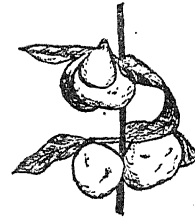
बनने के ढंग और थिओफ़्रेस्टस (Theophrastus) ने उनकी भेषजीय गुणों की चर्चा की है। द्रुस्फोटों में मक्खी का जातक होना अकाल, और स्वयं मक्खी का होना युद्ध का सूचक माना जाता है।

द्रुस्फोटों से प्राप्त होने वाले पदार्थों में टैनिक अम्ल (tannic acid) मुख्य है जिससे निकोटीन टैनेट (Nicotine Tannate) नामक कीटनाशक दवा बनती है। टैनिक अम्ल से चमड़ा भी सिझाया (Tannig) जाता है। कहीं कहीं पर द्रुस्फोटों से निकलने वाले रंगों का भी उपयोग होता है। बहुत सी अच्छी स्थायी स्याहियाँ भी द्रुस्फोटों ही से तय्यार की जाती हैं। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस में, द्रुस्फोटों को कई प्रकार के ज्वरों को रोकने के लिये उपयोग किया जाता था परन्तु आज कल इनका भेषजक महत्त्व कम हो गया है।

आहार के लिये उपयोग किये जाने वाले कीड़े—कुछ कीड़े मनुष्य के आहार भी हैं, जिनमें टिड्डे (grasshoppers), तेलपिडवा या तैलबोट (Cockroaches), झींगुर (crickets) और टिड्डियाँ (locusts) मुख्य है। कहीं-कहीं पर तैलबोट बहुत स्वादिष्ट समझा जाता हैं। टिड्डे और टिड्डियाँ भी काफ़ी स्वादिष्ट समझी जाती हैं और इनका, विशेषकर टिड्डियों को खाने का प्रचलन दिनोंदिन बढ़ता जा रहा हैं। ग्रीस के निवासी टिड्डियों को खल में कूट कर आटा बनाते हैं। अमेरिका के रेड इंडियन कीड़ों की बड़ी बड़ी सूड़ियों (caterpillars) को सुखा कर बाद में उपयोग करने के लिये रख लेते हैं। कीड़ों के रक्त में लवण (salt) की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण वे अधिक पसंद किये जाते हैं। इसके अतिरिक्ति नमक की कमी के स्थानों पर कुछ अंश तक वे नमक की कमी भी पूरी कर देते हैं।

औषधि के लिये उपयोग किये जाने वाले कीड़े—अनेकों कीड़े स्वयं या उनके रस अथवा उनके बनाये पदार्थ औषधि के रूप में उपयोग किये जाते हैं। मेलायडी (Meloidae) वंश के माइलेब्रिस (Mylabris) नामक फूलों को खाने वाले फफोले डालने वाले गुबरैले (blister beetle) को सुखा कर उससे कैन्थरिडीन नामक दवा तैयार की जाती है। कैन्थरिडीन मूत्रजनन संहति (urinogenital system) के भीतरी रोगों को अच्छा करने के काम आती है। बालों के धोने में भी इसका उपयोग होता है परन्तु यह हानिकर सिद्ध हुआ है। एपिस (apis) नामक दवा जो डिप्थीरिया, स्कारलेट ज्वर, ड्राप्सी आदि रोगों को अच्छा करने के काम आती है, मधुमक्खी का अल्कोहल द्वारा निकाला हुआ रस होता है। घावों में विद्यमान जीवाणुओं तथा सड़ी गली ऊतियों को साफ़ करने के लिए घरों की मक्खी आदि के समूह (Diptera) के वोल्फ़ारशिया (wohlfahrtia) नामक मक्खा के जातक (maggots) उपयोग किए गए हैं। अभी हाल ही में यूरिया (urea) से कुछ दवा तैयार की गई हैं जिसने अब वोल्फ़ारशिया के जातकों की जगह ले ली है।

परागण में सहायता करने वाले कीड़े Pollinizers—इस श्रेणी में मधुमक्खियाँ और तितलियाँ सम्मिलित हैं। कीड़े जब फूलों पर बैठकर उसका मकरन्द (nector) चूसते या पराग खाते हैं तो उनके शरीर पर पराग कण लग जाते हैं जो दूसरे फूलों पर बैठने पर झड़ जाते हैं और कुछ फूल के मादा अंगों पर भी पड़ जाते हैं जिससे फूलों का परागण हो जाता है। मटर, गूलर, अंजीर तथा पीपल आदि के फूल तो बिना कीड़ों के परागित ही नहीं हो सकते। परागण होने के उपरान्त फूल के नर कोश उसके मादा कोशाओं से मिलते हैं जिसके फलस्वरूप फल व बीज बनते हैं। परागण न होने पर फल व बीज नहीं बन सकते। फलों व बीजों का कृषि में कितना महत्व है यह बताने की आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि फल व बीज न होने पर संसार की अधिकांश जनसंख्या को भूखों मरने के अलावा और कोई रास्ता ही नहीं रह जायगा।

भंगी के रूप में लाभ पहुँचाने वाले कीड़े (scavengers)—लोगों का ऐसा अनुमान है कि भंगी कीड़े ही आगे चलकर जीवित कीड़े आदि खाने लगे और हिंसाजीवी (predators) तथा परजीवी (parasites) बन गये। घरेलू मक्खियों के समूह (Diptera)

के सारकोफ़ेगिडी (sarcophagidae)वंश के कीड़े मृतक पौधे तथा प्राणी और जीवित पौधे तथा प्राणी सभी कुछ खाते हैं। भंगी और हिंसाजीवी तथा परजीवी कीड़ों के परस्पर सम्बन्धित होने के पक्ष में यह एक स्पष्ट प्रमाण है।
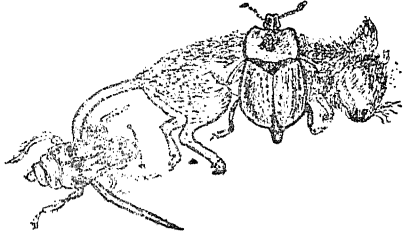
मरे हुए चूहे पर भंगी गुबरैले

भंगी वे कीड़े कहलाते हैं जो अनुपयोगी और बेकार तथा सड़ी गली वस्तुओं को खाकर गन्दगी दूर कर देते हैं। ये मृतक तथा सड़े गले पदार्थों में घुसकर उन्हें खा जाते
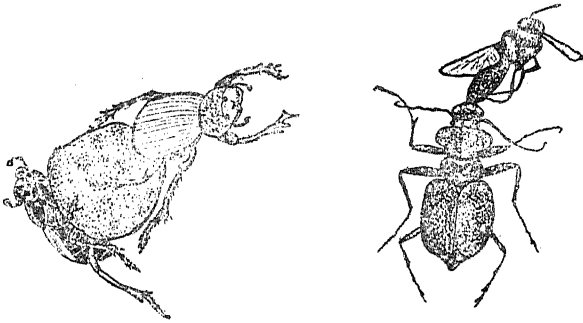
गोबर के टुकड़े को लुढ़काते हुए दो भंगी गुबरैले

एक हानिकारक कीड़े पर आक्रमण करते हुए एक हिंसा जीवी गुबरैला

हैं। ये कीड़े प्राय: निम्न श्रेणी के होते हैं जैसे थाइसेन्यूरा (Thysanura), कोलेम्बोला (collembola), आरथाप्टेरा (orthoptera) का तैलबोट आदि का वंश (Blattidae), तथा निम्न श्रेणी के गुबरैले (coleoptea) और मक्खियाँ (Diptera)। कुछ कीड़े उच्च श्रेणी के प्राणियों के गोबर व लीद (dung) को खाते तथा उसी में अंडे देते हैं। कुछ सड़ी गली लकड़ी आदि भी खाते हैं।

हिंसाजीवी और परजीवी कीड़े—इन श्रेणियों के कीड़े किसी जीवित पदार्थ पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं।
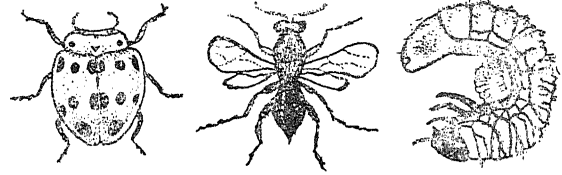
कुछ परजीवी कीड़े

हिंसाजीवी कीड़े दूसरे जीवों के सहारे जीवित रहते हैं और उसकी जीव सम्बन्धी क्षतियों (vital tissues) को खा जाते हैं। ये पालक पर नहीं पर उसके आसपास अंडे देते हैं। इनके पालक भी कई हो सकते हैं। तैलबोट के समूह (Orthoptera) का समूचा मैंटिडी Mantidae) वंश हिंसाजीवी होता है। कुछ गुबरैले भी हिंसाजीवी होते हैं।

परजीवी कीड़े दूसरे प्राणी पर बिना उसका जीवन छीने, जीवित रहते हैं। इनमें साधारणतः पालक एक ही होता है और उसी की क्षतियों में वे अंडे भी देते हैं। उस श्रेणी के अधिकतर कीड़े मधुमक्खी और बर्रें (wasps) के समूह (Hymenoptera) के होते हैं।

घासों (weeds) को नष्ट करने वाले कीड़े—कुछ कीड़े जो घासों आदि को खाकर जीवन निर्वाह करते हैं, किसान का बड़ा उपकार करते हैं। वे खेतों में उगने वाली घासों को खाकर सहज ही में उनका नाश कर के किसान के बहुत से समय और धन की बचत कर देते हैं।

मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने वाले कीड़े—कुछ कीड़े

मिट्टी में बिल बना कर मिट्टी को पोली करने के साथ ही साथ नीचे की अच्छी मिट्टी को, खेत के तल (surface) पर, एक नई तह जमा देते हैं। इनमें सभी बिल बनाने वाले कीड़े जैसे कुछ गुबरैले, तथा टीवाँ (gryllotolpar) आदि सम्मिलित हैं। ये कीड़े किसानों के लिये केचुओं से अधिक लाभदायक सिद्ध हुए हैं। कीड़े अपने मल को खेतों में त्याग कर और खेतों ही में मर कर भी उसकी उर्वरता बढ़ाने में सहायक होते हैं।

संगीत कला तथा अन्य मानव आमोद के साधन वाले कीड़े—इन श्रेणियों के कीड़े संसार की भिन्न-भिन्न जातियों द्वारा भिन्न-भिन्न ढंग से काम में लाये जाते हैं।

कुछ कीड़े अपने पंखों को एक दूसरे के साथ रगड़ कर, पंखों को टांगों से रगड़ कर तथा पंखों को आवेपित (vibrate) करके नाना प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करते हैं। पर शोर वास्तव में संगीत तो नहीं कहा जा सकता फिर भी ऐसे कीड़े को कीट-जगत के वाद्य सांगीतज्ञ (instrumentalists) कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। जहाँ वरजिल सिकेडा (Cicada) के शोर को नापसंद करते हैं वहाँ शैली जैसे कवियों ने टिड्डों के संगीत पर कविताएं लिख डाली हैं। जापान में झींगुर और सिकेडा पक्षियों की तरह अपने संगीत के लिये छोटे-छोटे पिंजरों में पाले जाते हैं। टोकियो में कम से कम ऐसी ५० बाज़ारें होंगी जहाँ संगीतज्ञ कीड़ों का क्रय विक्रय होता है।

कुछ जातियाँ सुन्दर कीड़ों को आभूषणों के रूप में उपयोग करती हैं। प्रकाश उत्पन्न करने वाला कीड़ा जुगनू भी आभूषण के रूप में उपयोग किया जाता है। इक्वेडोर के प्राचीन निवासी ब्यूप्रेस्टिडी (Buprestidae) वंश के गुबरैलों के चमकीले हरे और कड़े पंखों के कान में पहनने वाले इयररिंग (earring) बनाते थे। कुछ तितलियों के पंखों से विशेष प्रकार के स्थायी आभूषण और चित्र बनते हैं। मिस्र के निवासी स्कैरब (Scarab) नामक गुबरैले को सूर्यदेव का चिंह मानते थे। अमेरिका के रेडइंडियन बर्तनों तथा टोकरियों आदि को सजाने के लिये कीड़ों का उपयोग करते थे।

कहीं-कहीं पर झींगुर तीतर व बटेर की तरह लड़ाने के लिये भी सिखाये और पाले जाते हैं। कभी-कभी झींगुरों की लड़ाई पर बाजी भी लगाई जाती है और कुछ लोग कुशल झींगुरों के सहारे जुआ भी खेलते हैं। कुशल लड़ाकू झींगुर अच्छे दामों में बिकते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि यदि सब नहीं तो कम से कम कुछ कीड़े अवश्य ऐसे हैं जो मानव कल्याण में लीन रहते हैं और मनुष्य का अनेकों प्रकार से भला करते हैं। स्वभावतः हमारा यह कर्तव्य होता है कि हम न्याय का पल्ला पकड़ें और अपने इन कीड़-मित्रों के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा कि एक मित्र दूसरे मित्र के साथ करता है जिससे उनके जीवन की रक्षा भी हो सके और हम कर्तव्यविमुख भी न हों।

[विशेष—पृष्ठ १२ के चित्र के नीचे "लाख" और पृष्ठ १४ के चित्र के नीचे "लाख का कीड़ा" पढ़िए।]

नाइट्रोजनिक यौगिकों का निर्माण एवं अन्न-उत्पादन में उनका स्थान

आचार्य नील रत्न धर, डी० एस-सी० (लन्दन-पेरिस)

कृषि की उन्नति के लिए वैज्ञानिक साधनों के रूप में खाद के प्रश्न पर रसायनाचार्य धर महोदय का यह लेख विशेष प्रकाश डालता है। सिंदरी के वैज्ञानिक खाद उत्पादन के कारखाने के उद्घाटन से पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित है। अतएव यह लेख विशेष रुचिकर सिद्ध होगा।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि कृषि का प्रारम्भ, मनुष्य के द्वारा १०,००० से १२,००० वर्ष पूर्व हुआ। मानवीय-इतिहास के प्रभात से ही फसलों की समुन्नति के लिए पशु-खाद के महत्व को लोगों ने समझा। पौदों से प्राप्त पदार्थों की उपयोगिता भी आरम्भ काल में ही सिद्ध हो चुकी थी। रोम के लेखक प्लिनी (२३-७६ ई०) ने निम्न प्रकार से लिखा :—

"विश्व के सभी लेखकों ने यह स्वीकार किया है कि ल्यूपिन्स (Lupins) की फसल को जोत देने के बराबर कृषि के लिए कोई दूसरी क्रिया लाभदायक नहीं। उन स्थानों में जहाँ पशु-पालन नहीं होता, वहाँ पृथ्वी को उर्वर बनाने के लिए पौदों के अवशेष (झड़न) या फर्न (Fern) की ही खाद देना गुणकारी है।"

बर्नार्ड पैलिसी

सर्वप्रथम अन्वेषक, जिसने खाद के वैज्ञानिक दृष्टि-कोण, पशु एंव वनस्पति पदार्थों तथा धातुओं या लवणों के अन्तर्गत पारस्परिक सम्बन्ध को सुलझाया वह **बर्नार्ड पैलिसी** (१५१०-१५८६ ई०) सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी सेरेमिक (Ceramic) का एक अधिकारी था। उसने निम्न-रूप में लिखा :—

"फसलों के उत्पादन में खाद का सहयोग नहीं अपितु उसमें खाद-सम्बन्धी लवण ही लाभदायक है।"

ग्लाबर

अपने नाम के लवण के अन्वेषक, जर्मनी के रासायनिक विद्वान **ग्लाबर** (१६०४-६८) को लवणों का वृहत ज्ञान था। उसके अनुसार साल्ट पिटर (Salt Petre) या शोरा (पोटेशियम नाइट्रेट) ही सब लवणों में प्रधान है अर्थात वनस्पति, पशु तथा धातुओं में यही लवण वर्तमान है।

सन् १६६५ ई० में सर केनेल्म डिगबी ने सूचित किया कि साल्ट पिटर के संयोग से उसने अधिक उत्पादन किया। चिली के साल्टपिटर (सोडियम नाइट्रेट), की खुदाई ब्रिटेन की पूँजी से सन् १८३० ई० में प्रारम्भ हो गई थी। इंगलैंड में सन् १८४० ई० में ही कोयले को गर्म करके सर्वप्रथम अमोनियम-सल्फेट बनाया जा चुका था एवं अन्नोत्पादन में इसका महत्व भी सिद्ध हो चुका था। परन्तु यह अमोनियम-सल्फेट आवश्यकता से कम था

अतएव अन्न उत्पादन के लिए नाइट्रोजनिक यौगिकों की उत्पत्ति तथा वायुमण्डल से प्राप्त नाइट्रोजन द्वारा विस्फोटकों के निर्माण की समस्या को बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही अत्यधिक गम्भीरता से सुलझाने का प्रयत्न हुआ।

विलहेल्म ओस्टवाल्ड तथा फिट्ज़ हाबर

सन् १९०३ ई० के प्रारम्भ में ही, एक महान जर्मन रासायनिक तथा युवकों को प्रोत्साहित करने वाले, विलहेल्म ओस्टवाल्ड ने घोषित किया कि नाइट्रिक एसिड जो विस्फोटक-निर्माण की प्रमुख सामग्री एवं युद्धाभिमुख-राष्ट्र का जीवन-रक्त है, जर्मन-वैज्ञानिकों द्वारा जर्मनी में ही प्राप्त-वस्तुओं से निर्मित की जानी चाहिए। उस समय नाइट्रिक एसिड जर्मनी में ही प्राप्त सल्फ्यूरिक एसिड (गंधकाम्ल) तथा चिली से आए हुए सोडियम-नाइट्रेट (चिली-साल्ट-पिटर) की प्रतिक्रिया से प्राप्त की जाती थी। ओस्टवाल्ड ने कहा कि यदि इंगलैंड से, जिसके पास महान शक्तिशाली बेड़ा है, युद्ध हुआ तो चिली-साल्ट-पिटर की प्राप्ति का अन्त हो जायगा। परन्तु वैज्ञानिक अनुसन्धानों में जर्मनी अत्यधिक बढ़ा हुआ है और औद्योगिकों, वैज्ञानिकों तथा राज्य में परस्पर प्रगाढ़ मैत्री एवं एकीकरण है, अतः प्रथम-विश्व-युद्ध के पूर्व ही नाइट्रिक एसिड तथा अन्य उपयोगी नाइट्रोजनिक-यौगिकों की उत्पत्ति के आयोजित अनुसन्धानों ने उन्नति की। ओस्टवाल्ड ने अपने शिष्यों, मुख्यतया डा० ब्रायर की सहायता से प्रतिपादन किया कि अमोनिया, वायुमण्डल की आक्सीजन के संयोग से, प्लैटिनम की उपस्थिति में, नाइट्रिक एसिड का वृहतरूप में निर्माण कर सकती है। चूंकि जर्मनी में अत्यन्त विस्तृत कोयले की खानें हैं अतएव ओस्टवाल्ड ने सोचा कि कोयले को वायुमण्डल की अनुपस्थिति में गर्म करने से अमोनिया वृहत मात्रा में प्राप्त की जा सकती है और वही इस प्रतिक्रिया द्वारा नाइट्रिक एसिड में परिवर्तित करके जर्मनी को वर्तमान विशाल-विस्फोटकों के निर्माण में अन्य राष्ट्रों से आत्म-निर्भर कर सकती है। परन्तु उसकी आशाएँ पूर्ण न हुईं क्योंकि शीघ्र ही यह पता चला कि कोयले से प्राप्त अमोनिया इस क्रिया के लिए पर्याप्त अशुद्ध थी क्योंकि प्लैटिनम अशुद्ध अमोनिया द्वारा दूषित हो गया था। आज के वेषभूषा-प्रिय लोगों को धन्यवाद है जो प्लैटिनम को आभूषणों के रूप में—कंगन, कर्णफूल, हार इत्यादि-प्रयोग करते हैं जिससे स्वर्ण की अपेक्षा प्लैटिनम मूल्यवान हो गया है अतएव औद्योगिक क्रियाओं में यत्रतत्र ही प्रयोगित है। परन्तु जर्मनी के पुरुष दृढ़-प्रतिज्ञ होते हैं अतएव ओस्टवाल्ड ने इस कार्य को छोड़ा नहीं वरन् अपने शिष्य फ्रिट्ज हाबर को, जो एक महान ज्यूरिश वैज्ञानिक तथा भौतिक-रसायन शास्त्र का महान नेता था, जर्मनी में शुद्ध अमोनिया के निर्माण के लिए आदेशित किया। आचार्य हाबर ने, एक योग्य-अन्वेषक-वृन्द की सहायता से एवं जर्मनी के महान रासायनिक उत्पादक बाडिश एनिलिन और सोडा फैब्रिक से आर्थिक सहयोग प्राप्त कर इस समस्या का क्रमिक एवं निरन्तर वृहत अध्ययन बारह वर्ष तक किया।

वायुमण्डल की नाइट्रोजन और पानी की हाइड्रोजन, जो विशेष क्रिया द्वारा अत्यधिक तापक्रम एवं भार द्वारा परस्पर संयोजित हुईं, शुद्ध अमोनिया निर्मित करने में सफल हुईं। नइट्रोजन स्थिरीकरण (Fixation) की यह नवीन पद्धति नोबेल पुरस्कार के विजेता हाबर तथा रसायनिक इञ्जीनियर डा० बास, जिन्हें बाद में नोबेल पुरस्कार मिला, के द्वारा सर्वप्रथम प्रचारित हो, अनेकानेक कृत्रिम घी या उसके सदृश वस्तुओं के उद्योगों की, फिर बाद में महान फ्रांसीसी आचार्य तथा नोबेल पुरस्कार विजेता टूलोज के निवासी पाल सेबैटियर और नोबेल पुरस्कार विजेता बर्गियस द्वारा कोयले से पेट्रोल की जननी बनी। सन् १९१३ ई० में सिंहासन-च्युत कैसर विलहेल्म तथा महान वैज्ञानिकों और जर्मनी के औद्योगिकों के समक्ष अमोनिया के वृहत निर्माण का

विजयी प्रदर्शन हुआ। परन्तु डा० हाबर इस प्रदर्शन के पश्चात् ही कार्याधिक्य एवं वर्षों के अनवरत प्रयत्न तथा दैवी-कार्य के फल स्वरूप मूर्छित हो गए। इस प्रकार नाइट्रोजनिक स्थिरीकरण की नवीन प्रणाली हाबर-बास की ही है।

सर विलियम क्रुक्स

इस उद्योग के स्थापन में, जो सुसंचालित अन्वेषण का जीवित उदाहरण है, सर विलियम क्रुक्स के नाटकीय वक्तव्य ने गहरा हाथ बटाया। क्रुक्स जो किसी विश्व-विद्यालय का उपाधिकारी भी न था और आत्मा में विश्वास रखता था, अपनी वैज्ञानिक कुशलता के कारण रायल सोसाइटी के सभापतित्व को ग्रहण कर सका, ब्रिटिश एसोशियेशन के समक्ष अपने प्रसिद्ध सभापति भाषण में सन् १८९८ ई० में संसार की बढ़ती हुई जन-संख्या की भोजन समस्या पर विहंगम दृष्टि फेरते हुए श्वेत जाति के मुख्य खाद्य-पदार्थ गेहूँ की समस्या पर विशेष जोर दिया। दुहराते हुए कहा कि यदि गेहूँ की उत्पत्ति को नहीं बढ़ाया जाता तो पीले और काले लोग जो चावल मक्का एवं अन्य अनाज ही खाते हैं जिनके उत्पादन में उतनी नाइट्रोजनिक विशिष्ट खाद नहीं लगती जितनी गेहूँ में, शीघ्र ही विश्व में श्रेष्ठता प्राप्त कर लेंगे। अन्तिम निर्णय करते हुये उसने कहा कि सन् १९३१ ई० तक विश्व के सभी प्राप्य गेहूँ के क्षेत्रों को बढ़ती हुई जन संख्या के लिये गेहूँ पैदा करना पड़ेगा जिसके फलस्वरूप चिली तथा अन्य स्थानों से प्राप्त होने वाले प्राकृतिक शोरे के कोष रिक्त हो जायेंगे और श्वेत पुरुषों को भूखों मरना पड़ेगा। क्रुक्स का ध्येय, वैज्ञानिकों के ध्यान को उस दिशा में ले जाना था जिससे वे वायु की नाइट्रोजन को किसी प्रकार स्थिर कर सकें और भविष्य में रोटी की समस्या पूर्णरूपेण सम्भाव्य हो जाय। मध्यकालीन इङ्गलैण्ड में एक एकड़ में केवल ६ मन गेहूँ पैदा किया जाता था। उन्नीसवां सदी के मध्य में भी, जर्मनी के महान रासायनिक विद्वान बैरन लीबिग ने जिसने राजकुमार कनसर्ट एलबर्ट के निमन्त्रण पर ब्रिटिश द्वीप समूह के एक छोर से दूसरे छोर तक एक सफल यात्रा की, घोषणा की कि इङ्गलैण्ड विज्ञान का देश नहीं अतः उसने अपने प्रसिद्ध शिष्य हाफमैन को इङ्गलैण्ड के नवयुवकों को पढ़ाने के लिये नवीन संस्थापित लन्दन के रायल कालेज आफ़ साइन्सेज (विज्ञान के राजकीय विद्यालय) में भेजा। कृषि उद्योग एवं शिक्षा में विज्ञान के प्रभाव से इङ्गलैण्ड की दशा शीघ्र ही बदल गयी और वह एक बड़ा औद्योगिक राष्ट्र तथा विज्ञान और उद्योग में सर्वप्रथम शक्ति बन गया।

जन-संख्या की रोक

सन् १८४५ में विश्व की जनसंख्या १ अरब ६० लाख थी जो सन् १९३१ में १ अरब ९० करोड़ हो गई तथा वर्तमान समय में २ अरब १३ करोड़ ५० लाख है। १८ सदी के अन्त में जनसंख्या की वृद्धि एवं कृषि की दीन दशा देखते हुये मालथस ने अपना सुप्रसिद्ध निबन्ध प्रकाशित किया जिसमें जनसंख्या के नियम तथा समाज की भविष्य उन्नति पर प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए जनसंख्या की रोक-थाम का प्रतिपादन किया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अठाहरवीं तथा उन्नीसवीं सदी में छाई हुई शान्ति तथा रक्षा के कारण ही गत शताब्दियों की जन-संख्या में दुगनी वृद्धि हुई। निस्सन्देह मालथस ने भविष्य को बड़ी गम्भीरता से आँका। इस प्रकार मालथस के सिद्धान्त ने ५० वर्ष तक जनमत को प्रभावित किया परन्तु यूरप तथा अमेरिका में कृषि, यातायात, शक्ति साधनों तथा अन्य उद्योगों में विज्ञान का आश्रय लेने से अन्न उत्पादन में वृहत अभिवृद्धि हुई। कृत्रिम तथा कार्बनिक (organic) खादों, विशिष्ट बीजों एवं खेती के वैज्ञानिक तरीकों का आश्रय लेने से गेहूँ की उपज ६ मन प्रति एकड़ से २५ मन हो गई। विश्व-भोजन-स्थिति के सुधार का दूसरा कारण घास

के मैदानों में कृषि का संचरण है जिसके फलस्वरूप उत्तरी अमेरिका के घास के मैदान तथा बड़ा मैदान एवं आस्ट्रेलिया के अर्धशुष्क भाग बहुत बड़ी मात्रा में अन्न पैदा कर रहे हैं।

भारत और चीन के अधिकतर भागों में मालथस का सिद्धान्त ही सर्वमान्य ज्ञात होता है क्योंकि इनकी जनसंख्या बहुत अधिक है, जनता अज्ञान है और वैज्ञानिक कृषि का अभाव है। अतः जन-वृद्धि की रोक ही एकमात्र औषधि प्रतीत होती है। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् मालथस के सिद्धांत की ओर विशेष आकर्षण हुआ, जो युद्ध के समय भोजन की कमी के कारण ही हो सकता है। अमेरिका के महान जीव-वैज्ञानिक तथा जनगणना में कुशल, पर्ल के अनुसार विश्व की जनसंख्या आने वाली शताब्दियों में चिरकाल तक बढ़ती रहेगी परन्तु इससे यह कदापि अभिप्राय नहीं कि मानवीय दरिद्रता भी उसी पथ का अनुसरण करेगी। पश्चिम एवं पूर्व के मनुष्य समान ही प्राकृतिक शक्तियों के ज्ञान में वृद्धि करेंगे और उनको वश में करने तथा अपने लाभ के लिये प्रयोग करने में समर्थ होंगे।

द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व नाइट्रोजनीय उद्योग की दशा

प्रत्येक सभ्य राष्ट्र के पास स्वयं का नाइट्रोजनिक स्थिरीकरण-उद्योग होता है और संयुक्त नाइट्रोजन की उत्पत्ति को ही सभ्यता का मापदण्ड माना जा सकता है। आज नाइट्रोजनिक उद्योग उतना ही आवश्यक है जितना इस्पात या कोयले का उद्योग। इसमें जर्मनी सर्वप्रथम एवं जापान द्वितीय था। दुर्भाग्यवश भारतवर्ष में नाइट्रोजनिक-उद्योग बहुत नवीन है। पहले मैसूर रियासत में नाइट्रोजन-स्थिरीकरण का कारखाना खोला गया तत्पश्चात ट्रावन्कोर में। आजकल एक नूतन कारखाना बिहार-स्थित सिंदरी में उन्नति करने जारहा है।

स्थिर की गई नाइट्रोजन टनों में—(१९३७)

देश	यन्त्रों की संख्या	मात्रा
जर्मनी	१३	१३,६५,८५०
जापान	२१	४६०,१३२
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	१०	२६२,५१०
फ्रांस	२७	२४४,०५०
इंगलैंड	२	२३२,८७०
बेल्जियम	१०	२१७,६८०
सोवियट यूनियन	४	१५७,५००
इटली	१८	१४६,८३०
हालैंड	३	१३६,६३०
नार्वे	४	१२१ ०००
कनाडा	३	१०२,०००
मंचूरिया	१	४०,०००
स्वीडन	३	१४,०००
स्विटजरलैंड	३	१३,२००
स्पेन	२	८,०००
चीन	२	७,१७५
दक्षिणी अफ्रीका	१	५,७६०
हंगरी	१	१५,७४०
योग	१२८	३५,४७,३५२ टन

द्वितीय विश्व युद्ध में अन्नोत्पादन के लिए कृत्रिम नाइट्रोजन का यूरप में न्यून प्रयोग

अच्छी फसल के लिए प्रति एकड़ पृथ्वी में २५-३० पौंड नाइट्रोजन की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि इतनी मात्रा ही फसल एवं तिनके में वर्तमान रहती है। फिर भी, उन्नतिशील देशों में भी, कृत्रिम खाद के रूप में प्रयोग होने वाली नाइट्रोजन की मात्रा आवश्यक मात्रा से बहुत कम है।

प्रति एकड़ नाइट्रोजन का प्रयोग—पौंडों में

देश	प्रतिवर्ष प्रतिएकड़ में मिलाई गई नाइट्रोजन की मात्रा पौंडों में
हालैंड	२४·७९
वेल्जियम	२८·५५
जर्मनी	१८·६५
डेनमार्क	१०·२६
नार्वे	५·९८
स्वीडन	५·२४
फ्रांस	४·००
इटली	४·२९
ग्रेटब्रिटेन	२·४९
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	१·३६
पोलैंड	०·७३
हंग्री	०·१५

विश्व की भोजन परिस्थिति

यह भलीभांति ज्ञात है कि भारतवर्ष तथा पाकिस्तान में जन-समूह का पाँचवाँ भाग है। परन्तु इन दोनों देशों में सम्मिलित रूप से विश्व उत्पत्ति का, दशाँश ही अन्न उत्पादन है, जो ६० करोड़ टन है। यदि विश्व में उत्पन्न अनाज को पृथ्वी के सम्पूर्ण निवासियों में समान रूप से वितरित किया जाय तो हर एक को ३४०० कैलोरी शक्ति प्रतिदिन मिलेंगी। अतः यह स्पष्ट है कि अनाज जो संसार भर के गरीब मनुष्यों का खाद्य पदार्थ है, भारतवर्ष तथा पाकिस्तान को भलीभांति भरण के लिए ६ करोड़ टन अधिक अन्न उत्पन्न किया जाना चाहिए। अनाजों में प्रायः दो प्रतिशत (२%) नाइट्रोजन होती है अतः ६ करोड़ टन अधिक अन्न उत्पत्ति के लिए १२ लाख टन नाइट्रोजन की आवश्यकता होगी परन्तु विश्व की संश्लिष्ट नाइट्रोजन की उत्पत्ति द्वितीय युद्ध के पूर्व ३५ लाख ४० हजार टन (पिछले पृष्ठ की तालिका के अनुकूल) थी। अच्छे भोज्य पदार्थ जैसे आलू, दूध, मक्खन, मलाई, खमीर, माँस, मछली तथा अंडे विश्व में ४० करोड़ टन की मात्रा में पैदा किए जाते हैं परन्तु भारतवर्ष तथा पाकिस्तान में दशाँश से भी कम इनकी उत्पत्ति होती है। इन अच्छे भोज्य पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए लगभग १ करोड़ टन संयुक्त नाइट्रोजन की आवश्यकता होगी। अतएव विश्व का नाइट्रोजनिक उद्योग अन्न उत्पादन के लिए आवश्यक नाइट्रोजन की पूर्ति करने में समर्थ नहीं। वर्तमान समय में विश्व भोज्य पदार्थों का ३% ही कृत्रिम नाइट्रोजनिक खादों के कारण हो सकता है। भोज्य पदार्थों की उत्पत्ति को केवल १०% बढ़ाने के लिए स्थिरकृत नाइट्रोजन में चौगुनी वृद्धि होनी चाहिए जिसमें २५० करोड़ रुपए की पूंजी लगेगी, और इसमें १५ वर्ष से कम न लगेंगे अतः इससे यही विदित होता है कि आज भी विश्व की भोज्य सामग्री का उत्पादन कृत्रिम नाइट्रोजनिक यौगिकों द्वारा नहीं है अपितु पृथ्वी में निहित नाइट्रोजन के द्वारा ही सम्भाव्य है। अतएव सिंदरी कारखाने में नाइट्रोजनिक यौगिकों का निर्माण एवं उनका अन्न उत्पादन में प्रयोग विशेष रूप से भारतीय भोजन समस्या को सुगम नहीं बना सकता क्योंकि प्रथम तो हमारी पृथ्वी (मिट्टी) कार्बनिक पदार्थों में न्यून है साथ ही पौदों की आवश्यक वृद्धि के लिए पानी की कमी है।

फसलों के उत्पादन से कार्बनिक पदार्थों का महत्व

सन् १९३५ ई० से ही (सभापति भाषण नेशनल एकेडमी आफ साइंसेज इंडिया, १९ दिसम्बर १९३५ तथा १५ जनवरी १९३७) धर ने विशेष जोर दिया है कि पौदों से सम्बन्धित पदार्थों को बिना खाद बनाए खेतों में सीधे ले जाकर डाल देने से फसलों को

अधिक लाभ होता है क्योंकि शक्तिदायक पदार्थ जैसे कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate), सेल्यूलोज (Cellulose), लिगनिन (Lignin), चर्बी (fats) इत्यादि जब मिट्टी में मिला दिए जाते हैं तो इनका आंशिक आक्सिजनीकरण (Oxidation) होता है और इस क्रिया में वायुमण्डल की नाइट्रोजन स्थिर हो जाती है साथ ही ये कार्बनिक पदार्थ पृथ्वी की नाइट्रोजन को सुरक्षित रखने में सहायक होते है। पौदों के पदार्थों का महत्व, जब वे मिट्टी में मिला दिए जाते हैं इसलिए नहीं कि वे अपनी नाइट्रोजन दे देते हैं वरन इसलिए भी कि कार्बनिक वस्तुओं के आक्सिजनीकरण तथा सौर-प्रकाश के शोषण से नाइट्रोजन स्थिर हो जाती है। अतः अत्यधिक मृत्तिका-कार्बनिक-पदार्थ या ह्यूमस (जो प्रोटीन तथा लिग्निन या सेल्यूलोज अथवा कार्बोहाइड्रेट और सूक्ष्मप्राणियों का मिश्रण है) बनता है और जब पौदों से सम्बन्धित पदार्थ अन्यत्र कहीं खाद बनाए जाने के बजाए सीधे मिट्टी में मिला दिए जाते हैं तो यह ह्यूमस के रूप में मिट्टी में मिल जाते हैं। मिट्टी में पौदों के पदार्थों के इस प्रकार बिना खाद बनाए ही सीधे मिला देने की क्रिया को इंगलैंड, पेनसाइलवेनिया, कैलीफोर्निया तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के खेतों में अपनाया गया है और फिलिस्तीन के संतरों के कारबार धर के अनुसार ही संचालित हैं।

यह स्पष्ट है कि कृत्रिम विशिष्ट खाद, पौदे की स्वस्थ वृद्धि के लिए सम्पूर्ण पदार्थों की पूर्ति नहीं करती। परन्तु जब पौदों के अवशेष सीधे या खाद के रूप में मिला दिए जाते हैं तो वे पौदे की वृद्धि के लिए आवश्यक पदार्थों की, जिनमें अप्राप्य सूक्ष्मतत्व भी निहित हैं, पूर्ति करते हैं। धर एवं उनके सहयोगियों ने प्रयोगों द्वारा दिखाया है कि कार्बोहाइड्रेट, सेल्यूलोज तथा चर्बी, विरुद्ध-उत्तेजक (Negative Catalyst) के रूप में, प्रोटीन तथा अमोनिया के लवणों या यूरिया के नाइट्राइट एवं नाइट्रेट रूप में आक्सिजनीकरण होने में, कार्य करते हैं। अतएव पौदों के पदार्थों के साथ जब प्रोटीन मिलाया जाता है तो फसल के लाभ हेतु बहुत ही मन्थर गति से और अमोनिया के लवणों या यूरिया से अधिक समय तक नाइट्रेट निकलता रहता है। ह्यूमस से इस प्रकार के नाइट्रेट के मन्थर निकास के कारण मिट्टी से नाइट्रेट के धुल जाने का अवसर जाता रहता है। इलाहाबाद में यह सिद्ध हो चुका है कि जब मिट्टी में, अमोनियम सल्फेट के रूप में १०० पौंड नाइट्रोजन मिलाई जाती है तो ३ या ४ माह में मिट्टी या फसल को बिना लाभ पहुँचाए ही अस्थिर अमोनियम नाइट्राइट के सृजन एवं विनाश के कारण ६० पौंड नाइट्रोजन हवा के रूप में नष्ट हो जाती है। अतएव कृत्रिम खादें अपव्ययी एवं विनष्टकारी हैं। प्रोटीन का भी आक्सिजनीकरण होता है और आंशिक रूप में नाइट्रोजन की हानि होती है परन्तु कार्बोहाइड्रेट, सेल्यूलोज, तथा लिग्निन और चर्बी पदार्थ जो पौदों में या गोबर में उपस्थित होते हैं वे इस हानि को कम कर देते हैं और फसल अधिक समय तक बने हुए नाइट्रेट का धीरे-धीरे शोषण करती रहती है।

खाद के रूप में पत्थर के कोयले का प्रयोग

हम लोगों ने निरीक्षण किया है कि पीट (Peat) लिग्नाइट (Lignite) तथा बिटुमिनस कोयला (Bituminous Coal) जब सुरीति से चूर्ण करके मिट्टी में मिला दिए जाते हैं तो उनका धीरे धीरे आक्सिजनीकरण होता है और इस क्रिया में नाइट्रोजन भी स्थिर होती है। प्रकाश में स्थिर-कृत नाइट्रोजन की मात्रा अंधकार में स्थिर की गई मात्रा से अधिक होती है। विश्व की पीट एवं लिग्नाइट स्थित सम्पूर्ण नाइट्रोजन सम्पत्ति ४७ अरब ३५ करोड़ टन अनुमानित है। साथ ही कोयले में स्थित कार्बनिक-यौगिक, पौदों के पदार्थों से अधिक निष्क्रिय हैं अतः जब भली भांति चूर्ण किया

गया कोयला मिट्टी में मिला दिया जाता है तो मिट्टी की प्राप्य नाइट्रोजन उतनी सरलता से सूक्ष्म प्राणियों की प्रोटीन में परिवर्तित नहीं होती जितनी सरलता से पौदों के अवशेष हो जाते हैं। अतएव बारीक पिसा हुआ कोयला, जिसका प्रयोग अभी तक कहीं नहीं होता, मिट्टी में मिलाया जा सकता है, और बिना प्रतीक्षा किए हुए भी शीघ्र ही फसल उगाई जा सकती है परन्तु जब पौदों के पदार्थ मिट्टी में सीधे मिला दिए जाते हैं तो हमें कुछ काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

धान एवं गेहूँ की फसलों को हमारे प्रयोगों से, जिनमें हमने बारीक लिग्नाइट या बिटुमिनस कोयला मिलाया था विशेष लाभ पहुँचा क्योंकि इनके द्वारा नाइट्रोजनिक खाद तथा धातुएं जो फसल की वृद्धि के लिए आवश्यक हैं, मिट्टी में मिल जाती हैं। कोयले एवं अमोनियम सल्फेट का मिश्रण अमोनियम सल्फेट से श्रेष्ट खाद है। कोयले को ऊसर भूमि या क्षारीय पृथ्वी को उपजाऊ बनाने में भी प्रयोग किया जा सकता है। यह अनुमान किया जाता है कि विश्व की जोती जाने वाली जमीन के ऊपर से प्रथम फुट की ह्यूमस में स्थित नाइट्रोजन की मात्रा ४० अरब टन है। सन् १९३७ ई० में संसार के सम्पूर्ण नाइट्रोजन-उत्पादक कारखानों में स्थिर की गई नाइट्रोजन की मात्रा ३५ लाख ४० हजार टन थी। अतः ऊपर से प्रथम फुट में पाई जाने वाली, सम्पूर्ण मिट्टी में, अब भी स्थिर की गई नाइट्रोजन से ११३५० गुनी अधिक नाइट्रोजन है। अतएव इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि विश्व की उपज का ३% ही कृत्रिम नाइट्रोजनिक खादों के कारण है।

विशिष्ट खादों के शोषण में कार्बनिक पदार्थों का सहयोग

विश्वमत इस पक्ष में है कि कृत्रिम खादें उन जमीनों में जहाँ कार्बनिक पदार्थ अधिक मात्रा में पाया जाता है, न्यून कार्बनिक पदार्थों की अपेक्षा, अधिक उपयोगी होती हैं। अतएव जब तक कार्बनिक पदार्थ चाहे वनस्पति अवशेष हों या दालों (Legumes) सरसों आदि के रूप में हरी खाद हों, हमारी जमीन में मिलाई न जाएँगी तब तक निश्चित रूप से फसलों की उपज में अत्यधिक वृद्धि की कोई आशा नहीं। साथ ही हमारी मिट्टियां कार्बनिक पदार्थों में क्षीण हैं अतएव खनिज पदार्थों की प्राप्ति भी दोषपूर्ण है। जमीन के सुधार की समस्या हमारे देश एवं संसार के अन्य भागों में भी कार्बनिक पदार्थ की वृद्धि पर ही अवलम्बित है क्योंकि यह मिट्टी की आत्मा के समान है। जर्मनी निवासियों ने अपनी बलुई जमीन को ल्यूपिन्स या अन्य हरी फसलें उगाकर के उपजाऊ बना लिया। एल० ब्रामफिल्ड महाशय ने अपनी कृति "मलाबार फार्म" तथा अन्य प्रकाशनों में पृथ्वी के कार्बनिक कोष की वृद्धि की आवश्यकता के लिए विशेष जोर दिया है। यदि कार्बनिक पदार्थों की उपस्थिति अधिक है तो अकार्बनिक विशिष्ट खादें (Inorganic Fertilizers) विशेष प्रकार से फसलों की उन्नति कर सकती है। यूरप और अमेरिका में अकार्बनिक खादों के प्रयोग से अधिक उपज होती है क्योंकि जमीनें कार्बनिक पदार्थों में धनी हैं। हमारी पहाड़ी मिट्टियों में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा मैदानों से अधिक है। कृत्रिम खादों एवं कार्बनिक पदार्थों जैसे पत्तियों, तिनकों आदि के प्रयोग से सामान्य आलू एवं शकरकन्द की पैदावार प्रचुर मात्रा में, पहाड़ियों में, बढ़ाई जा सकती है। यूरप के त्राता आलू ही सिद्ध हुए हैं। यूरप में अमेरिका से लाकर आलू के प्रचार के पूर्व प्रायः सभी यूरोपियन असन्तुलित अम्ल उत्पादक भोजन जिसमें अनाज, मांस, चर्बी तथा अण्डे एवं न्यून-क्षारीय भोजन जैसे फल, हरी तरकारियां, आलू आदि हैं, करते थे परन्तु आलुओं का योग जिनकी खपत प्रचुर मात्रा में आजकल यूरप में है, यूरप में एक अधिक विशिष्ट सन्तुलित भोजन उपस्थित करता है और जिसका अवशेष क्षारीय होता है जिसके कारण उदर-विकार पित्त

सम्बन्धी नासूर (ulcer) दूर हो जाते हैं। फलतः यूरप पहले से अधिक स्वस्थ है।

इसके अतिरिक्त सौ साल के लगातार प्रयोगों द्वारा रोथामस्टेड (Rothamsted) तथा विश्व के अन्य प्रयोगिक स्थानों में यह सिद्ध हो चुका है कि गोबर तथा पशु-खाद, वर्षों तक अधिक स्थिर रीति से फसल उत्पन्न करने में पूर्ण कृत्रिम खाद की अपेक्षा, जिसमें नाइट्रोजन, फास्फेट तथा पोटाश रहता है, अधिक समर्थ है। साथ ही साथ इन कृत्रिम खादों का लाभकारी प्रभाव फस्ल के लिए दूसरे साल से ही अप्राप्य हो जाता है जब कि गोबर एवं पशु-खाद तथा कार्बनिक पदार्थों के संयोग से अन्न की फसल को ८ साल बाद तक लाभ होता है और रोथामस्टेड के घास के मैदानों में ४० साल तक उनका प्रभाव रहता है।

यद्यपि विश्व की स्थिर-कृत नाइट्रोजन का उत्पादन प्रचुर मात्रा में बढ़ गया है परन्तु मूल्य अधिक है अतः यूरप में कृत्रिम नाइट्रोजन तिनका बुरादा तथा पशुखाद इत्यादि कार्बनिक पदार्थों के साथ प्रयोग में लायी जाती है।

क्षेत्र प्रयोगों में जिसमें मिट्टी में गोबर तीन बार मिलाया गया इलाहाबाद में उन क्षेत्रों की मिट्टी में नाइट्रोजन की मात्रा ०.०४% से ०.२% हो गई और जिनमें शहर का कूड़ा डाला गया उनमें ०.०३८ से ०.२५% हो गई। इस प्रकार से सुधारी गई जमीनों में श्रेष्ठ फसलें पैदा की गईं। परन्तु अमोनियम सल्फेट या सोडियम नाइट्रेट के बार बार प्रयोग से पृथ्वी की नाइट्रोजनिक अवस्था में कोई सुधार नहीं होता। इसी प्रकार के परिणाम रोथामस्टेड प्रयोगिक केन्द्र में निकले।

अनु०—शिवगोपाल मिश्र, विशारद, एम० एस-सी० (फाइनल)

(पृष्ठ ३२ का शेषांश)

(७) "तापक्रम २५ अंश है"। यह अशुद्ध है।

(८) "इसका एक दिन हमारे २० दिन के तुल्य होता है" यह प्रत्यक्षतः अशुद्ध है क्योंकि इसके पहले कहा जा चुका है कि शुक्र अपने अक्ष पर एक भ्रमण २३ घंटा २१ मिनट पर करता है।

पूर्वोक्त उद्धरण में अन्य बातें ठीक हैं या नहीं इसकी जाँच मैंने नहीं की, क्योंकि आठ बातें बिना प्रयास के ही अशुद्ध मिल गयीं।

इसी प्रकार की अंड बंड बातें अन्यत्र भी हैं। संभवतः सारी पुस्तक में अशुद्ध कथन अधिक और सत्य कथन कम होंगे। प्रूफ़ की अशुद्धियाँ भी बहुत हैं।

ऐसी पुस्तक क्यों छापी गयी आश्चर्य होता है। भूमिका में लिखा है कि पुस्तक के प्रकाशन का खर्च श्री सेठ पूर्णमल बूबना ने दिया है। जान पड़ता है धर्मभीरु सेठ जी लेखक के अनन्य भक्त होंगे और लेखक ने ज्योतिष न जानने वालों पर अपना रोब गाँठने के लिये एक पुस्तक लिख और छपा डाली है: अपनी गाँठ से तो कुछ खर्च होने को न था!

मनुष्य की उत्पत्ति और उसका विकास

लेखक—कृष्ण चन्द्र दुबे

[मानव जाति का उद्‌भव कैसे हुआ, यह एक कौतूहलजनक विषय है। विद्वान लेखक ने उस जिज्ञासा की परितृप्ति के लिए इन लेखों में प्रकाश डाला है जिनको सचित्र प्रकाशित किया जा रहा है। लेख का द्वितीय भाग अगले अंक में देखें।]

योगी अरविन्द ने अपनी पुस्तक 'लाइफ़ डिवाइन' (Life Divine) में एक स्थल पर लिखा है—"पशुरूपी-प्रयोगशाला में प्रकृति ने मनुष्य का निर्माण किया है! मनुष्य स्वयं एक जीवित प्रयोगशाला है जिसमें और जिसके सहयोग से प्रकृति महान मानव (Superman) की रचना करने में तल्लीन है।" मानव का विकास पशु से हुआ! मनुष्य स्वयं पशु है! मनुष्य पशु से अपने मस्तिष्क के आधार पर ही भिन्न है!

वर्त्तमान पशु-जगत में मनुष्य का सबसे निकट का समाज उन पशुओं का है जिसे लिनास (Linnaeus) ने 'प्राइमेट्स' (Primates) कहा है! इनके दो भाग किए जा सकते हैं :— (१) लेमूरिआइडिया (Lemuroidea) और (२) एन्थ्रॉपाइडिया (Anthropoidea)। जहाँ तक बाहरी समानता का प्रश्न है, मनुष्य और लेमूर में कोई समानता नहीं है। पर एन्थ्रॉपायड, जिसका एक प्रतिनिधि बनमानुष गोरिल्ला है, और मनुष्य में कुछ समानता अवश्य है।

भूगर्भशास्त्रियों ने भूकाल का जो वर्गीकरण किया है, उसके अन्त के दो पक्षों, प्लीस्टोसीन और आधुनिक, (Pleistocene & Recent) को चतुर्खण्ड (Quarternary) में वर्णित किया है! प्लीस्टोसीन पक्ष में आदि मानव (अथवा मानव-सम-पशु) के अवशेष मिलते हैं। इस समय में जब उत्तरी गोलार्ध हिममय था तथा बीच के कुछ गर्म मध्यांतर काल में एशिया, आफ्रिका और यूरप में यह मनुष्य-समाज रहता था, इसी समय के मध्य तथा अन्त भाग में उस जीव का उदय हुआ जिसे हम बिना किसी हिचक के आदि-मानव कह सकते हैं (Genus Homos)! भूकाल को आधुनिक पक्ष में इस आदि मानव ने 'होमो-सेपियंस' को जन्म दिया जिसके प्रतिनिधि हम सभी मौजूद हैं।

आदिमानव (Pithecanthropus)—सन् १८९२ के लगभग जावा द्वीप में एक पैर की हड्डी तथा तीन दांत मिले और इनके अध्ययन के फल स्वरूप इस आदि-मानव की खोज हुई। यह अवशेष प्लीस्टोसीन खंड की शिलाओं में से निकाले गए थे। इन अवशेषों के न्यून अध्ययन से यह पता लगा कि इस आदि मानव में वानर और मनुष्य दोनों के गुण मौजूद थे। आंख के ऊपर की हड्डी मुख्य थी, बुद्धि-कोष (Brain case) नीचा था। दांत मनुष्य के दांतों से मिलते थे और पैर की हड्डी (Femur) इस जीव के सीधे खड़े होने का द्योतक है। मैकग्रेगर ने इस मानव के मस्तिष्क भाग का अध्ययन किया है! बुद्धि-कोष का आकारमान (Volume) ७४० घन सेंटीमीटर था। गोरिल्ला का बुद्धिकोष ५९० घन से० मी० ही होता है। बुद्धिकोष की बनावट और रूपरेखा से प्रत्यक्ष है कि यह जीव बोल सकता था।

इस जीव को यद्यपि हम मानव-समाज 'होमिनिडी' (Family of men, Hominidae) में रख सकते हैं, पर आधुनिक मनुष्य का पास का पूर्वज यह नहीं था। (चित्र १)

उदायेर मानव :—(Eoanthropus, the Dawn man) इस मानव की खोज सन् १९११ और १९१७ में पिल्टडाउन, इंगलैंड, में प्राप्त अवशेषों से हुई। जबड़ा वनमानुष (Ape) के जबड़े से मिलता है और ठुड्डी (chin) नहीं थी। दांत मनुष्य के से हैं (molar teeth) पर पीछे के दांत बानर से हैं। मस्तिष्क का आकार आदि मानव के मस्तिष्क से बड़ा है! यह जीव भी प्लीस्टोसीन खंड में रहता था। (चित्र २)

चीनी आदि मानव :—(Sinanthropus, Fossil man of china) सन् १९२८ में पेकिंग के पास इस जीव के दांत और जबड़े के कुछ भाग मिले तथा पश्चात् खोपड़ी भी प्राप्त हुई। इसका बुद्धि-कोष आदिमानव (Pithecanthropus) से २५% बड़ा था। जबड़ा विशाल और बानरों का सा था। ठुड्डी नहीं थी।

वक्र-मानव :—(Scyphanthropus or Stooping man) प्लीस्टोसीन खंड के मध्य भाग में यह जीव पृथ्वी पर रहता था। इसके अवशेष रोडेशिया, दक्षिण आफ्रिका, में मिले हैं! अवशेषों के अध्ययन से स्पष्ट है कि यह मनुष्य वक्र था, कुछ झुका हुआ। बुद्धिकोष पहिले के तीनों जीवों से बड़ा तथा आधुनिक मनुष्य के बुद्धिकोष से छोटा था। (चित्र ३)

१—आदि मानव Pithecanthropus
२—उदायेर मानव Eoanthropus
३—वक्रमानव Scyphanthropus
४—नीएंडरथल मनुष्य Homo-neanderthatansis
५—आधुनिक मनुष्य Homo Sapiens
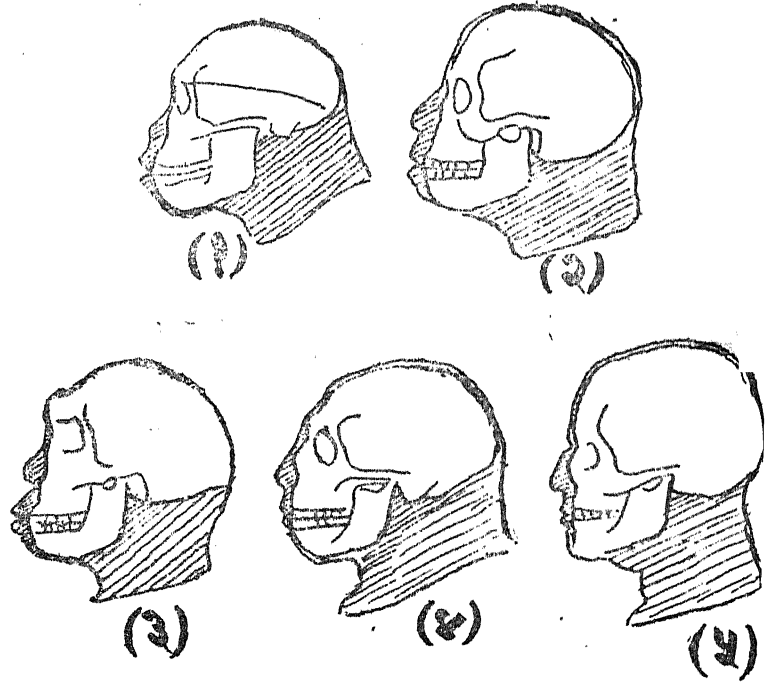
(मेकग्रेगर के आधार पर बनाए मानवों के चित्र)

आधुनिक मानव (Homo, Modern man)

हो सकता है कि आधुनिक मानव के पूर्वज पहिले के चार प्रकार के मानवों के समकालीन हों। पर कुछ पक्का नहीं कहा जा सकता। आधुनिक मानव का पूर्वज हीडेलवर्ग-मनुष्य था। इस अवशेष को 'होमो हीडेल-बर्गेसिस' कहा है। ठुड्डी का अस्तित्व स्पष्ट है—यद्यपि जबड़ों का आकार पुराने चारों जीवों सा ही है। नीएंडरथल जरमनी में दूसरे अवशेष मिले और हम सभी के पूर्वज के चिन्ह इस मानव में मिलते हैं। पर खड़े होने की स्थिति में यह जीव उतना सीधा न था जितने हम लोग हैं। यह मध्य प्लीस्टोसीन के अन्त भाग में था। यह जीव शिकारी था तथा अग्नि उत्पन्न करना जानता था। (चित्र ४) इन जीवों का स्थान 'होमो सैपियंस' नामक जीव ने लिया जो अभी तक चला जा रहा है और जिसके उदाहरण स्वरूप हम सभी मौजूद हैं।

आधुनिक मनुष्य-समाज (Living human family) का प्रथम उदाहरण क्रो-मैगनन मानव में है जो पश्चिमी यूरोप में रहता था। उसके शरीर का पूरा ढाँचा मिला है। उसका माथा ऊँचा, चेहरे भाग की हड्डियाँ सीधी और ठुड्डी थी। बुद्धि-कोष आधुनिक यूरोपियन के बुद्धिकोष के बराबर था। यह क्रो-मैगनन मानव सीधा खड़ा हो सकता था और शरीर के भिन्न अवयव प्रमाण-बद्ध थे। आधुनिक मनुष्य से उँचाई में कुछ बड़ा था।

मानव की जन्मभूमि—प्रथम मानव का जन्म कहाँ हुआ, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है, पर बहुपक्षीय विचार है कि मनुष्य मध्य एशिया में उत्पन्न होकर सब ओर फैला (migration)। इस विचार के आधार स्वरूप निम्नलिखित हैं:—

(१) यह देखा जाता है कि पशु एक जगह उत्पन्न होकर, उस मध्य से चारों ओर फैलना आरम्भ करते हैं (Begin migrating) मध्य एशिया उस दृष्टि से विश्व का मध्य भाग कहा जा सकता है और विश्व के चारों ओर आदि-निवासी, जैसे आस्ट्रेलिया आदि-निवासी; बुशमेंन; नेग्रीटोस और फ़्यूगेन, फैले हैं।

(२) मध्य एशिया पठार के चारों ओर आदि-सभ्यता के चिन्ह मिलते हैं।

(३) आदि ऐतिहासिक काल में यूरोप में कई बार पूर्व से आक्रमण हुए, चीन में पश्चिम से तथा भारत को उत्तर से आक्रमणों का सामना करना पड़ा था।

(४) आदि मानवों के अवशेष मध्यएशिया पठार के चारों ओर से प्राप्त किये गये हैं।

(५) भूकाल (Geologic Line) के तृतीय खड के जीवन के अध्ययन से यह अनुमान लगाया गया है कि यह भाग खुला था (Open), पानी की सुविधा थी, जीवन तुलनात्मक सरल था। इन सब कारणों से यहाँ मानव उत्पत्ति होने में कोई संदेह नहीं है।

मानव की उत्पति बानर से हुई अथवा मानव और वानर दोनों किसी दूसरे जीव से विकसित हुए और विकास की दो भिन्न शाखाएँ हैं—इस प्रश्न पर बहुत मतभेद हो चुका है! मनुष्य के विकास पर तथा इस प्रश्न पर अगले लेख में विचार किया जा सकता है! पर इस लेख का अन्त महान योगी अरविंद के उसी वाक्य से किया जा सकता है जिससे यह शुरू हुआ कि "पशु-रूपी प्रयोगशाला में प्रकृति ने मनुष्य का निर्माण किया है।"

(इस लेख के लिये शब्दावली का प्रयोग करने में मुझे अपने मित्र प्रह्लाद जगताप से बहुत सहायता मिली है और उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।
—लेखक)

रेडियम-धर्मिता और भौमिक विज्ञान

ले०—श्री पुष्कर सिंह

विज्ञान की नीति सरल और रोचक रूप में वैज्ञानिक साहित्य को हिन्दी-पाठकों के सम्मुख रखना है। विषय जटिल है किन्तु मनोरंजक है।

रेडियम धर्मिता का प्रथम अन्वेषण श्रेय श्रीमती क्यूरी को जाता है। इसके अन्वेषण के पश्चात् रासायनिक तथा भौतिक विज्ञान के विशेषज्ञों ने इस पर काफ़ी प्रकाश डाला। नागासाकी और हिरोसिमा का परमाणु-बम से विध्वंस इसी का परिणाम है। परन्तु इसके भौमिक विज्ञान की तरफ़ कुछ ही लोगों ने रुचि दिखलाई। इस लेख में हम रेडियम-धर्मिता और भौमिक विज्ञान का सम्बन्ध बतलाते हैं।

वैज्ञानिकों का मत है कि उन तत्वों के संस्थानी जिनके परमाणु-भार ८३ से अधिक हैं, रेडियम-धर्मा हैं। रेडियम-धर्मिता के अनुसार रेडियम-धर्मा तत्वों से तीन प्रकार की रश्मियाँ वियोजित होती हैं जिन्हें हम 'अ' 'ब' और 'इ' रश्मि कहते हैं। रेडियम-धर्मा तत्वों में हम यहाँ किरणातु, ऐक्टिनों-किरणातु तथा हसातु का वियोजन सूत्र देते हैं :—

किरणातु ^{२३८} >८ यानाति ^{४} + शीसा ^{२०६} + ताप
ऐक्टिनोंकिरणातु ^{२३५} >^{७} यानाति ^{४} + शीसा ^{२०७} + ताप; हसातु >६ यानाति ^{४} + शीसा ^{२०७} + ताप

हम इन तीन फलों का अलग-अलग विश्लेषण तथा इनके गुण बतलाते हैं :—

यानाति—रेडियम-धर्मा तत्वों से वियोजित 'अ' रश्मि को हम यानाति भी कहते हैं। यानाति के वेधन शक्ति से मलाभ्रक में प्रभामंडल बन जाता है जिसे रंगप्लावित प्रभामण्डल (Pieochroic Halo) कहते हैं। 'अ' रश्मि की वेधन शक्ति का असर रंगप्लावित प्रभामंडल के रंग पर पड़ता है। जितनी अधिक 'अ' रश्मि की बौछार होगी उतना ही उसका रंग गाढ़ा होता जाता है तिलैया बाँध के शैल-शिखा में जो अभी पञ्चवर्षीय योजना के अनुसार तैयार हो रहा है ऐसे रंगप्लावित प्रभामंडल बहुतायत में पाये जाते हैं। ये प्रभामंडल गर्मी के प्रभाव से अदृश्य हो जाते हैं। इससे कुछ वैज्ञानिकों का मत इसके 'प्रांगारिक उद्भव' के होने का है परन्तु निम्नलिखित कारण इसके रेडियम-धर्मिता के प्रभाव से बनने का पुष्टीकरण करते हैं :—

(१) रंगप्लावित प्रभामंडल के अन्तःस्थल में रेडियम-धर्मा तत्वों के सूक्ष्म रवे पाये जाते हैं।

(२) रंगप्लावित प्रभामंडल के अर्धव्यास और 'अ' रश्मि के वेधन शक्ति की दूरी की समता है

(३) रेडियम-धर्म की कृत्रिम युक्ति से रंगप्लावित प्रभामंडल बनाया जा सकता है।

ये रंगप्लावित प्रभामंडल शैल-शिखा की उम्र की गवेषणा करते हैं। ये 'अ' रश्मि एक साल में एक की दर से वियोजित होती हैं। इस से शैल-शिखा में पाये जाने वाले रंगप्लावित प्रभामंडल के रंग और कृत्रिम युक्ति से बनाये प्रभामंडल के रंग की तुलना कर उस शिखा की उम्र का पता लगा सकते हैं।

शीसा—रेडियम-धर्मा तत्वों के दूसरे वियोजन फल को शीसा कहते हैं। इसकी सहायता से हम पृथ्वी की

आयु का पता लगा सकते हैं। प्रो० ए० ओ० नायर का कहना है कि जब सृष्टि का निर्माण हुआ तब पृथ्वी शीसा-रहित थी और अब जो शीसा पाया जाता है वह रेडियम-धर्मा तत्वों के वियोजन से मिलता है। इन तत्वों की उम्र और पृथ्वी की उम्रका सम्बन्ध है। किरणातु की उम्र ६ × १०९साल, ऐक्टिनों किरणातु का १०५साल और हुसातु का १०१०साल है। इन लोगों से तीन प्रकार के शीसों का निर्माण होता है जिनका परमाणु भार क्रमश: २०६,२०७ और २०८ है। मामूली सीसा इन तीनों के औसत से बनता है। हम किरणातु और शीसे का औसत निकाल कर पृथ्वी की आयु का पता लगा सकते हैं। इस विधि के अनुसार पृथ्वी की आयु २२००० लाख साल है। मनुशास्त्र में भी पृथ्वी की उम्र इतनी ही बतलाई गई है।

ताप—रेडियम-धर्मा तत्वों का तीसरा वियोजन फल ताप है। (Joly) जाली के अनुसार स्थल-पुञ्ज सौस्फ और समुंद्र पुञ्ज सैभ्रा से निर्मित हैं। सैस्फ सैभ्रा के ऊपर स्थित है। सैस्फ की विशिष्ट-म्याकृष्टि २.७ और सैभ्रा की विशिष्ट-म्याकृष्टि ३ है। रेडियम-धर्मा तत्वों की मात्रा, सैस्फिक शैल में सैभ्रिक शैल से अधिक होती है। इन रेडियम-धर्मा तत्वों से वियोजित ताप की मात्रा लम्बे अर्से के बाद सैस्फ में अधिक मात्रा में इकट्ठा हो जाती है। सैभ्रा में रेडियम-धर्मा तत्वों की मात्रा कम होती है इसलिये सैस्फ की ताप, तापोय-प्रावण्य के कारण सैभ्रा में चली जाती है। कुछ समय पश्चात ताप की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि सैभ्रा पिघलने लगता है। सैभ्रा का द्रवांक ११५०° शतांक है। इस ताप तक पहुँचने के लिये ३३,०००,००० साल लग जाते हैं। सैभ्रा द्रवांक पर पहुँचने से पिघलने लगता है और सैस्फ जो कि उ के उपर स्थिति है उसमें धंसने लगती है इससे समुद्र का जल, स्थल पुंज पर आक्रमण करता है। समुद्र के इस आक्रमण को समुद्रातिक्रमण (Marine transgression) कहते हैं। भारत ने अपने अंक में ऐसे पाँच समुद्रातिक्रमण दर्शाये हैं। ये समुद्रातिक्रमण क्षणभंगुर होते हैं और इसी थोड़े समय में ये एक विस्तृत पर्त बना डालते हैं। इसे भूद्रोणी (Geo-syncline) कहते हैं। ये भूद्रोणी भंजन और विभंग के कारण पर्वतमाला के रूप में बन जाते है।

प्रो० होम्स का कथन है कि ताप की अधिकता के कारण सैस्फ और सैभ्र के बीच संवाहन प्रवाह शुरू हो जाता है। इसी संवाहन प्रवाह के कारण हम महाद्वीपों को अलग-अलग स्थिति में पाते हैं। इस क्रिया को महाद्वीपीय ऊढ़ (continental-drift) कहते हैं। रेडियम धर्मिता के विधि के अनुसार, कौन-कौन से द्वीप तथा महाद्वीप किस युग में अलग हुए यह नीचे दिया गया है:—

	ऊढ़ की वार्षिक गति	दूरी सहस्रमान	अलग होने का युग	साल
१—केप कामोरिन-स्काटलैन्ड	३६ से १८ मान	१७८०	हिमानु युग	५०,०००-१०००००
२—न्यूफाउन्डलैन्ड-आयरलैन्ड	०.२–०.१५ मान	२ १०	अतिनूतन युग	१२०-१६० लाख
३—ब्यूनर्सआयर्सकेप-टाउन	०.०७ मान	६६२०	खटी युग	६०० लाख साल
४—दक्षिण हिन्दुस्थान-दक्षिण आफ्रिका	०.०६ मान	५५५०	तृतीयक युग	७०० लाख साल
५—तसमानिया-विल्कीसलैन्ड	०.०७ मान	३८६०	आदि नूतन युग	४५० लाख साल

समालोचना

[डा० गोरख प्रसाद, डी०एस-सी० (एडिन०)]

"भारतीय काल-गणना—अर्थात् भारत में प्रचलित समस्त कालगणनाओं की विस्तृत विवेचना" लेखक और प्रकाशक—पण्डित देवकी नन्दन खेडवाल, पो० फतेहपुर (जयपुर), राजस्थान। मूल्य २ रुपया १४ आना। आकार डबल डेमाई १६ पेजी। पृष्ठ संख्या १४४। दफ्ती की जिल्द। न्यूजप्रिन्ट पर छपा। छपाई साधारण।

इस पुस्तक के लिखने में लेखक ने बहुत परिश्रम किया है इसमें संदेह नहीं, परन्तु खेद है कि लेखक का ज्ञान इतना कम है कि इधर-उधर से सङ्कलित ब्योरों को वह शुद्ध रूप में नहीं रख सका है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। शुक्र नामक ग्रह के वर्णन में पृष्ठ ११ पर लिखा गया है :—

"शुक्र की परिधि २४८०० मील है तथा यह पृथ्वी से ३,४३,००,००० मील है और सूर्य से ६,७०,००,००० मील की दूरी पर हैं। किन्तु प्रति वर्ष यह पृथ्वी से एक बार पृथ्वी के निकट आ जाता है। तब इसकी दूरी २०,००,००० मील की ही रह जाती है। उस समय यह अधिक चमकता हुआ और बड़ा दृष्टिगोचर होता है। यह अपनी धुरी पर २३ घण्टा २१ मिनट में पूरा घूम लेता हैं। सूर्य की परिक्रमा २२४ दिन ४२ घटा २ पल और ४७ विपल में कर लेता है। यही इसका भगणकाल है। किन्तु स्थूल मान से द्वादश राशियों का भ्रमणकाल ३६५दिन १५ घण्टा माना जाता है। यह एक वर्ष मार्गी और एक वर्ष वक्री रहता है, जिनमें क्रमशः ४०७ और ३२४ दिन में बारह राशि पार करता है। इसका ताप-क्रम (ताप-क्रम ?) २५ अंश है। इसका एक दिन हमारे २० दिन के तुल्य होता है।....''

इस छोटे से उदाहरण में आठ अशुद्धियाँ हैं :—

(१) "शुक्र पृथ्वी से ३,४३,००,००० मील [पर] है," यह पूर्णतया अशुद्ध और भ्रमात्मक है। बात यह है कि शुक्र सूर्य के चारों ओर चलता है और पृथ्वी से उसकी दूरी घटती बढ़ती रहती है।

(२) "प्रति वर्ष यह [शुक्र] पृथ्वी से एक बार पृथ्वी के निकट आ जाता है।" एक तो वाक्य अशुद्ध है; "पृथ्वी से" इतना फालतू है और निकाल देना चाहिये। फिर "एक बार" से यह भ्रम होता है कि शुक्र से पृथ्वी की दूरी साधारणतः ३,४३,००,००० मील रहती है परन्तु 'एक बार' यह दूरी कम हो जाती है यदि मान लिया जाय कि पाठक अपनी बुद्धि से इसका शुद्ध अर्थ लगा सकेगा तो 'प्रति वर्ष' अशुद्ध है। पृथ्वी से लघुतम दूरी के क्षण से लेकर अगली बार की लघुतम दूरी के क्षण तक का समय एक वर्ष नहीं है।

(३ ४) "इस समय यह अधिक चमकता हुआ और बड़ा दिखाई देता है।" दो बातों में यह अशुद्ध है। जब शुक्र पृथ्वी से लघुतम दूरी पर रहता हैं उस समय यह दिखाई पड़ता, (क) अधिक चमकता और (ख) बड़ा होने को कौन कहे।

(५) "स्थूल मान से द्वादश राशियों का भ्रमण काल ३६५ दिन १५ घंटा माना जाता है"। यह अशुद्ध है। २२४ दिन ४२ घड़ी २ पल और ४७ विपल को स्थूल मान से ३६५ दिन १५ घंटा कैसे माना जाता है यह समझ में नहीं आता; उसे २२५ दिन मानते तो कोई बात भी होती।

(६) "एक वर्ष मार्गी और एक वर्ष वक्री रहता है"। यह अशुद्ध है। मार्गी और वक्री रहने के काल बराबर नहीं हैं। इनमें से कोई भी काल १ वर्ष नहीं है।

[शेष पृष्ठ २६ पर देखिये]

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

—**विज्ञान प्रवेशिका,** भाग १—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक—ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; ।=)

—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; मू० ।।।=)

—**मनोरञ्जन रसायन**—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

—**वैज्ञानिक परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमाँसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक** (डिटमिनैंट्स)—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटर-मीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी, १।)

९—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१०—**सुवर्णकारी**—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

११—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का सग्रह १)

१२—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ; सैकड़ों चित्र, सजिल्द; २)

१३—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०-प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द; २)

१४—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर; सजिल्द २)

१५—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का व्योरेवार वर्णन। इससे कोई भी पालिश करना सीख सकता है—ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०; २१८ पृष्ठ; ३१ चित्र, सजिल्द; २)

१६—**कलम पेवंद**—ले०—श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ५० चित्र; मालियों, मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी; सजिल्द; २)

१७—**जिल्दसाज़ी**—क्रियात्मक और व्योरेवार। इससे सभी जिल्दसाज़ी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०; सजिल्द २)

१८—**त्रिफला**—ले० श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार, सजिल्द २।।।=)

१९—**तैरना**—तैरना सीखने और डूबते हुए लोगों को बचाने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है। ले०—डाक्टर गोरखप्रसाद, पृष्ठ १०४ मूल्य १)

२०—**सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग**—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा

पता—विज्ञान परिषद, बैंक रोड इलाहाबाद।

में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६)

२१—**वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ**—ले०—डा० सन्तप्रसाद टंडन. डी० फ़िल० मूल ॥।)

२२—**खाद्य और स्वास्थ्य**—ले०—ड० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फ़िल० मूल्य ॥।)

२३—**फोटोग्राफ़ी**—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफ़ी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफ़ी के नवीनतम आविष्कारों का समावेश तथा फोटोग्राफ़रों के लिए अनेक नुसखे हैं। सजिल्द मूल्य ४)

२४—**फल संरक्षण**—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली, शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक; २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २॥)

२५—**शिशु पालन**—लेखक-श्री मुरलधर बडई बी० एस-सी० प्रभाकर, गृहस्थ का उच्च आदर्श गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व ब्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था का क्रम चित्रों द्वारा समझाया गया है। पृष्ठ संख्या १५० मूल्य ४)

२६—**मधुमक्खी पालन**—द्वितीय संस्करण ले०—पंडित दयाराम जुगड़ान, भूतपूर्व अध्यक्ष, ज्योलीकोट सरकारी मधुवटी; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों के लिए उपयोगी तो है ही, जनसाधारण को इस पुस्तक का अधिकांश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, और नक़शे, एक रंगीन चित्र, सजिल्द; ३)

२७—**घरेलू डाक्टर**—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी० घोष, एम० बी० बी० एस०, डी० टी० एम०, प्रोफेसरा डक्टर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच०, डी०, एम० बी० कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि २६० पृष्ठ, १५० चित्र, आकार बड़ा (विज्ञान के बराबर); सजिल्द; ४)

२८—**उपयोगी नुसखें, तरकीबें और हुनर**—द्वितीय संस्करण सम्पादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, आकार बड़ा विज्ञान के बराबर २५२ पृष्ठ २००० नुसखे, १०० चित्र; एक-एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। प्रत्येक गृहस्थ के लिए उपयोगी; मू० सजिल्द ३॥)

नवीन पुस्तकें

फसल के शत्रु—ले० श्री शंकर राव जोशी	..	..	३॥)
साँपों की दुनिया—ले० श्री रामेश वेदी, आयुर्वेदालंकार	..	..	४)
पोर्सलीन उद्योग—ले० प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस (का० वि० वि०)	..		॥।)
राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ ...	...	...	२)

पता—विज्ञान परिषद, बैंक रोड इलाहाबाद।

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भा में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्सा दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, उपसभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमंत्री, दो मंत्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिन द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य क ५) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश-शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय के एक बार देना होगा।

२३—एक साथ ७० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव पश्चात् प्रकाशित, परिषद की सब पुस्तकों, पत्रों, विवरणों इत्यादि के बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधा धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम

सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

मुद्रक—चुन्नीलाल, वैनगार्ड प्रेस इलाहाबाद, प्रकाशक—विज्ञान परिषद्, बैंक रोड, इलाहाबा
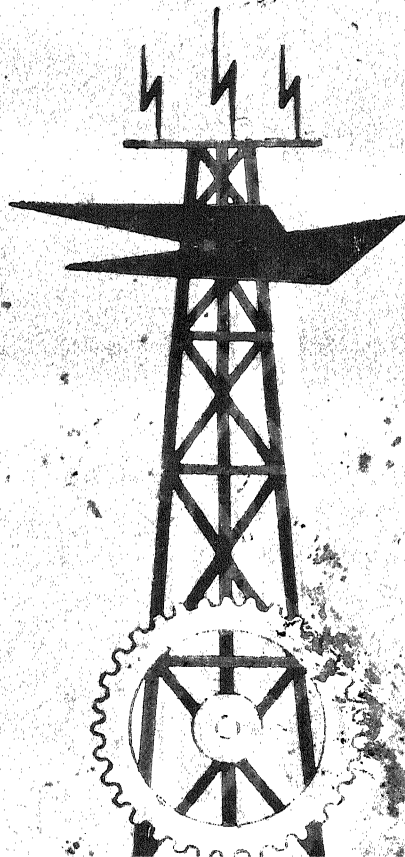
विज्ञान
मई १९५२
वृष २००९
भाग ७५
संख्या २

विज्ञान

विज्ञान परिषद, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५

भाग ७५ | वृष २००९; मई १९५२ | संख्या २

हम क्यों लिखें ?

'विज्ञान' ऐसा पत्र है कि उसके पोषकों में साधारण पाठकों की अपेक्षा विद्वानों, आदरणीय अध्यापकों, प्राध्यापकों तथा आचार्यों की संख्या उपेक्षणीय नहीं है। अतएव कभी कभी तो विज्ञान की पाठ्य-सामग्री के चयन में हमें द्विविधा में भी पड़ जाना पड़ता है कि किन के उपयुक्त लेखों का समावेश किया जाय। विद्वानों के लिए क्या सामग्री दी जा सकती है, यह एक कठिन प्रसंग है, परन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि हम जो भी सामग्री देते हैं, उन्हें कुछ विद्वान गण भी भूले-भटके, यदाकदा देख ही लेते होंगे। ऐसे ही विद्वानों किंवा विद्याव्यसनी, हिन्दी-प्रेमी वैज्ञानिकों तथा वैज्ञानिक साहित्य-प्रेमियों के प्रति हम यह उपर्युक्त शीर्षक संबोधित करते हैं। जिन विद्वानों के सम्पर्क में हमारे कुछ कृपालु पाठक रहते हों उनके कानों तक हमारे इस वक्तव्य का भाव किसी प्रकार पहुँचा देने की भी आशा कर हम उनसे सकते हैं।

लिखा क्यों जाय, यहाँ पर यह मुख्य प्रश्न है। विज्ञानेतर साहित्य की ओर ध्यान देकर हम अधिक भारी उलझन में न फँस कर वैज्ञानिक साहित्य के पक्ष को ही यहाँ लेते हैं। हमारे मान्य, यश-प्राप्त विद्वानों को यह प्रश्न संबोधित करते हुए, पाठकों का ध्यान अवश्य ही आर्थिक पक्ष की ओर जा सकता है। लिखने का द्रव्य रूप में क्या मूल्य है? निरर्थक समय नष्ट कर अन्य अर्थकर उद्योगों में लीन क्यों न हुआ जाय? हिन्दी में लिखाई के नाम पर मिल ही क्या सकता है? अपने मुख्य प्रश्न के उत्तर में इन उप-प्रश्नों को उठाए ही जाते देखकर तो हम मूक ही रह जा सकते हैं। यथार्थ में आज का प्रकाशक लेखक को किसी भी कोटि की रचना होने पर कितना अल्प पारिश्रमिक दे सकता है या पारिश्रमिक-दान से विमुख रख कर भी विद्वानों की कृतियाँ प्रकाशित कर सकने का अवसर भी आज का हिन्दी-जगत दे सकता है या नहीं, यह भी विचारणीय विषय हो सकता है।

पुरस्कार भी मिलता है। छोटे-मोटे अन्य पुरस्कारों के अतिरिक्त अब तो प्रादेशिक सरकारें

भी पुष्कल धनराशि प्रदान करने लगी हैं। किन्तु हम इस प्रश्न के कुछ दूसरे या गहरे पक्ष पर विचार करना चाहते हैं। हमारे एक पुराने, मान्य लेखक ने किसी प्रसंग वश कुछ खेद प्रकट करते हुए लिखा था कि विज्ञान के विषयों की इतनी उदार सरकारें भी पुरस्कार-दान में कदाचित् उपेक्षा करती हैं। इस कटूक्ति से सहमति या असहमति की भावना रखने वाले सज्जनों की गणना करने की हमारी तनिक भी इच्छा या उत्सुकता नहीं है। धनराशि-सम्पन्न दाताओं, प्रकाशकों, सरकारों तथा पुष्ट निर्णायक-बुद्धि-युक्त पुरस्कार-दातृ-समिति के सदस्यों की छींटाकशी जो करना चाहते हों, करें। हम तो यही कहेंगे कि पुरस्कार के लिए, पारिश्रमिक के लिए, जीविकोपार्जन के लिए हमें वैज्ञानिक साहित्य सृजन नहीं करना है। हमें आज भी भूला नहीं है कि रसायन विज्ञान के आधुनिक युग के प्रथम संस्थापकों में अर्द्ध विक्षिप्त, उदजन गैस रूप में वायव्यों की खोज का प्रथम श्रीगणेश करने वाले महान विज्ञानाचार्य हेनरी केवेंडिश ने अपनी पूर्वजों की अर्जित अतुल सम्पत्ति बैंकों में ही सड़ते रहने दी थी, आजीवन उसे स्पर्श भी नहीं किया था, बैंक के किसी अधिकारी के रुपयों के उपयोग न किए जाने पर चिन्ता प्रकट करने पर कैवेंडिश द्वारा उसे दुत्कार और फटकार ही मिली थी। दुबारा फिर कभी उस धनराशि की चर्चा भी करने पर उस बैंक से निकाल कर दूसरे बैंक में उठा फेंक देने की धमकी ही मिली थी।

ऐसे एक नहीं, अनेक उदाहरण हमारे वैज्ञानिक मनस्वियों के आए दिन मिलते रहते हैं। आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय ने धन का त्याग कर किस प्रकार सेवाव्रत ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। हम दूर क्यों जायँ, उन्हीं के शिष्य, हमारे विज्ञान परिषद् के भूतपूर्व सभापति आचार्य नील रत्न धरने अपनी आयुभर की गाढ़ी कमायी को दान कर श्रीमती शीला धर के स्मारक स्वरूप, प्रयाग विश्व विद्यालयांतर्गत शीला धर मृत्तिका-गवेषणाशाला स्थापन कर अपनी त्याग वृत्ति का मूर्तरूप हमारे समक्ष रक्खा है। जहाँ एक भावप्रवण वंग प्रान्तीय माता के लाल ने इतना कुछ कर दिखाया, वहां घोर पार्थिव-व्रत, तथा भौतिकवादी, कल्पना-जगत से दूर रहने वाले, हमारे योद्धा-प्रसू पांचाल प्रदेश ने आचार्य बीरबल साहनी सरीखा सपूत उत्पन्न किया जिसने विदेशों में विज्ञान-अध्ययनार्थ अनेक वर्ष बिताकर पार्थिव-आदर्शों का बहुत कुछ उदाहरण देख सुन-लेने के पश्चात भी अपनी जीवन भर की कमाई का अधिकांश पुरा-वनस्पति गवेषणाशाला की स्थापना में अर्पित कर दिया।

इन्हीं त्यागव्रती विद्वानों, विज्ञान-साधकों की संतान, हम आज याचना करने चले हैं! पुरस्कार की भीख मांगने चले हैं!! कभी नहीं, ऐसा कभी नहीं होने का। विज्ञान की सेवा का यथार्थव्रती इस पथच्युत मार्ग में कभी न जाने का। कोई पारिश्रमिक देता ही है, पुरस्कार देता ही है तो उस धन को अभिमान पूर्वक अपने त्याग के गर्व में ठुकराना भी कोई समीचीन नहीं कहेगा। किन्तु हमें अपनी संतान को याचना की थाती कदापि नहीं देनी है। अस्तु आर्थिक पक्ष में इससे अधिक हम क्या कहें। अब रहा विषय-निर्धारण विवेचन, शब्दावली, आदि पक्ष। आपके पास लिखने के लिए विषय नहीं मिलते, उपयुक्त शीर्षक नहीं मिलते, यह कह कर हम आपकी विद्वत्ता, अपार स्वाध्याय तथा विवेक का परिहास किस प्रकार उड़ा सकते हैं! किन्तु, उसमें कितने ही 'किन्तु' 'परन्तु' अवश्य मिलेंगे। किनके लिए लिखें, कैसा लिखें, ये प्रश्न हैं। कक्षाओं में आप जटिलता से युद्ध करते हैं, शिष्यों को, छात्रों को व्याख्या कर सुनाते हैं। उतने उच्चस्तर के पाठक तो नहीं हैं। किसी विशेष विषय के ही मनन में वे तो उतना समय नहीं लगा सके हैं। अतएव आपके सूक्ष्म सूत्रों, पेचीदी व्याख्याओं, तथा गणित को वे न

समझ सकेंगे। फिर भी कभी आप अपने घर में ज्ञानातुर, जिज्ञासु पुत्र, पुत्री, पत्नी या बंधुबाधव को अपने घोर परिश्रम से हृदयंगम की हुई विद्या की कुछ झांकी दिलाते ही होंगे। उन्हीं रूपों में कुछ अन्य पाठकों के लिए लिखिए। उनकी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए उनके ही हृदयंगम हो सकने योग्य सामग्री लिपिबद्ध कीजिए।

शब्दावली की कठिनाई मृगमरीचिका है। दूर से भयग्रस्त रखती है। निकट पहुँच कर आप सरलता की प्रतिमूर्त्ति अपने सम्मुख खड़ी देखेंगे। विषय को सरल रूप में प्रस्तुत करने की आपकी हार्दिक कामना है तो आप स्वयं शब्द गढ़ लेंगे। विदेशी शब्द ही तोड़-मरोड़ कर काम चला लेंगे। अब तो दर्जनों पारिभाषिक कोश भी सुलभ हैं। जो सुलभ हो सके, जो रुचिकर प्रतीत हो उसी को लेकर अपना प्रयत्न प्रारंभ कीजिए। हमारी शक्तियां अवश्य ही सीमित हैं किन्तु हम तो प्रत्येक प्रकार से आपके प्रयत्नों का प्रकाशन करने का प्रयत्न करेंगे। आप स्वयं न कर सकें तो हमें ही अपनी सूझ तथा चुनी सामग्री की सूचना दे सकते हैं। किन्तु सामग्री केवल नाम ले देने से तो मिलनी कठिन है। हम साधन-सम्पन्न नहीं हैं। अतएव आप अपनी सामग्री प्रदान कर सकते हों तो उसकी सूचना दें। हम आप की सहायता को सहर्ष स्वीकार कर उस साहित्य का सृजन और प्रकाशन करने का उद्योग करेंगे।

हम चाहते हैं कि हमारे पास विद्वानों की सहायता का इतना वचन तथा क्रियाशील सहयोग प्राप्त हो जाय कि हम बाहर के मैदान में कूदें। अन्य प्रकाशकों की विज्ञान-अभिरुचि जागृत कर भी प्रकाशन-कार्य बढ़ावें। उनको ऐसे साहित्य की वृद्धि में प्रवृत्त करें ऐसे साहित्य की ओर खींचें क्योंकि परिषद् का उद्देश्य ही प्रत्येक प्रकार से वैज्ञानिक साहित्य-वृद्धि करना है। हम व्यवसायी या लाभार्थी नहीं हैं। क्या हम आशा करें कि आप अपनी उत्कट उत्साह-वृत्ति से हमें अवगत करेंगे, हमारे दुर्बल कंधों को अपनी क्रियाशील सहायता से बल प्रदान करेंगे ?

मनुष्य की उत्पत्ति और उसका विकास

लेखक—कृष्णचन्द्र दुबे

पिछले लेख में मानव के पुरातन कंकालों के संबंध में कौतूहल पूर्ण वैज्ञानिक खोजों की चर्चा की गई थी। प्रस्तुत लेख में लेखक ने मनुष्य के विकास के संबंध में विचारोत्तेजक तथा मनोरंजक विवरण दिया है।

अलेक्जेंडर पोप ने एक स्थल पर यह प्रसिद्ध वाक्य लिखा है—"मनुष्यता का वास्तविक अध्ययन स्वयं मनुष्य ही है।"[1] ए० गोवान्स व्हाइट अपनी पुस्तक 'जीवन की सीढ़ी'—(Ladder of Life) में इससे भी एक चरण आगे बढ़ कर कहते हैं—"मनुष्य का वास्तविक अध्ययन उसके विकास का अध्ययन है।"[2] हम अपने पिछले लेख में अभी तक प्राप्त मानव-अवशेषों पर प्रकाश डाल चुके हैं। इस भाग में हम मनुष्य के विकास पर विचार करेंगे जो पोप के अनुसार मनुष्य का अध्ययन है।

जीव-विकास का प्रश्न डारविन की पुस्तक Origin of Species के साथ ही उत्पन्न हुआ। इसके (१८५८) के पूर्व इस दिशा में कोई गंभीर अध्ययन नहीं हुआ था। मनुष्य के विकास में महिला और कठिन प्रश्न है कि उसका विकास किस प्राणी से हुआ? चिंपंजी-गोरिल्ला और मनुष्य में बहुत कुछ बाहरी समानता है और इस कारण कुछ वर्षों पहिले तक यह सोचा जाता था कि मनुष्य का विकास इन वानरों से हुआ होगा। अभी भी कोई भी व्यक्ति जो इन जीवों के ढांचे का चित्र देखेगा तो उसके मस्तिष्क में भी एकाएक यही हल आवेगा। (देखिए चित्र) पर शरीर के ढांचे और बुद्धि-कोष की सूक्ष्म परीक्षा के उपरान्त इस विचार का वैज्ञानिक विचार-धारा में कोई स्थान नहीं है। आधुनिक विचार है कि मनुष्य और वानर एक ही पूर्वज से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकसित हुए। और इसलिये वानर (Ape) को मनुष्य का अविकसित प्रकार (degenerate form) नहीं कह सकते। वे अपने विकास में उसी स्थल पर हैं जिस ऊँचाई पर मनुष्य अपने विकास की दिशा में है। पर विकास की यात्रा में मनुष्य ने कुछ ऐसे गुणों को प्राप्त किया जो उसे इस ओर बढ़ने में और यह स्थान प्राप्त करने में सहायक हुए। ये गुण जो जीवनास्तित्व-युद्ध में सहायक हुए निम्नलिखित हैं:—

१. मनुष्य ने सीधा खड़े होने की स्थिति प्राप्त की। और इस स्थिति में वह बिना किसी कठिनाई के रह सकता है। रिंग-मास्टर के चाबुक के डर से अन्य पशु भी थोड़े समय के लिये दो पैरों पर खड़े होते हैं पर उन्हें कितनी कठिनाई अनुभव होती है यह कोई भी सरकस देखकर जाना जा सकता है। अपने इस गुण के कारण मनुष्य

1. The Proper study of mankind is man.—Alexander Pope.
2. The proper study of man, therefore, is the study of Man's evolution. —A. Gowans Whyte—in 'Ladder of Life; Thrift book, Edn. 1951, Pp. 118.

वानरों और मनुष्य के ढाँचे (हक्सले द्वारा)

पिल्टडाउन मनुष्य

आदि-मानव - पिथिकंथ्रोपस

(मैकग्रेगर के आधार पर हमारे पूर्वजों के चित्र)
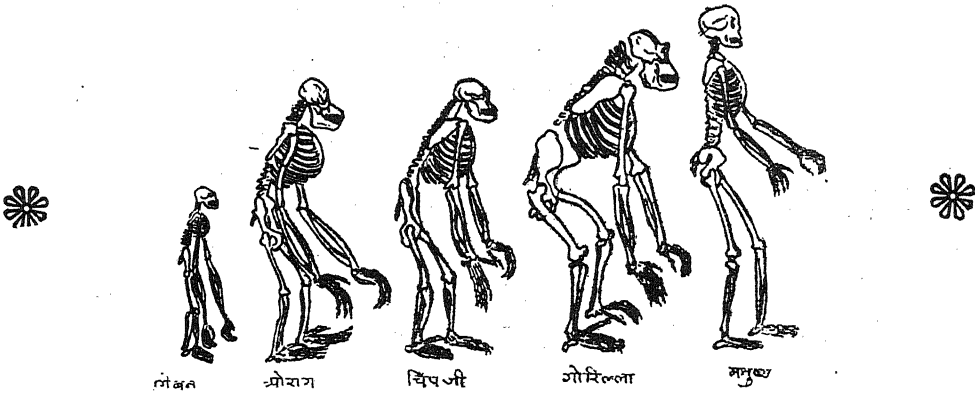
पशु से बहुत आगे बढ़ गया और उसे सिर को घुमाने-फिराने में जो सरलता प्राप्त हुई उससे वह अपने अस्तित्व को और पशुओं की अपेक्षा जीवन-युद्ध में अधिक सुरक्षित रख सका।

२. दूसरा विकसित गुण मनुष्य ने अपनी दृष्टि की दिशा में प्राप्त किया। दोनों आँखों को एक ही स्थान पर केन्द्रित (फोकस) करने में उसे दूरी और समीपता के ज्ञान में अधिक सहायता मिल सकी। यदि हम एक आँख बंद करके किसी दूर की वस्तु को देखें तो उसका ठीक-ठीक अनुमान नहीं लग पाता। इस गुण के फलस्वरूप मनुष्य को मस्तिष्क-विकास में भी सहायता प्राप्त हुई।

३. तीसरा गुण उसके अँगूठों की विरुद्ध दिशा (Opposable Thumbs) है। अपने हाथ के अँगूठों को हथेली के इधर-उधर वह सरलता पूर्वक घुमा सकता है। मैं तो समझता हूँ कि अपने इस गुण के कारण मनुष्य इस जगह तक आ सका जहां उसने अपने लिये यह बीसवीं-शताब्दी की सभ्यता का निर्माण किया जहां वह हवा में उड़ने और पानी में तैरने और उस पर सैकड़ों मील प्रति घंटे की गति से दौड़ने लगा।

पर हमारे लिये यह अभी भी अंधकार का विषय है कि यदि मानव और वानर के एक ही पूर्वज थे तो किस अवस्था में आकर मानव-

वानर से भिन्न हुआ। अभी तक इस अवस्था का कोई भी अवशेष प्राप्त नहीं हो पाया है यद्यपि वैज्ञानिक और मानव-शास्त्र के कुछ विद्यार्थी दावा करते हैं कि उनकी खोजें इस अवस्था को प्रदर्शित करती हैं। यह अवस्था "अप्राप्त अनुमानित अवस्था (Missing link) कहलाती है।

अपने पिछले लेख में मैंने अभी तक प्राप्त विभिन्न मानव अवशेषों पर लिखा था। आदि-मानव (Pithecanthropus) की खोपड़ी वानर-खोपड़ी से बहुत कुछ मिलती है पर पिल्टडाउन में प्राप्त खोपड़ी निश्चित रूप से अधिक विकसित जीव की खोपड़ी है। अभी तक प्राप्त अवशेषों से तो ऐसा प्रतीत होता है कि निएंडरथेलर मनुष्य से वानर और मनुष्य भिन्न हुए।

तो मनुष्य, वनमानुष (Apes) और बंदर शायद एक ही पूर्वज की संतान हैं। जब वानर ने अपने वृक्ष के जीवन को छोड़कर पृथ्वी पर रहना भी आरम्भ किया, तब उसने मानव-विकास की ओर प्रथम चरण बढ़ाया। हम सबके ये पूर्वज भूकाल के तृतीय खंड में रहते रहे होंगे। मानव अवशेष प्लीस्टोसीन (Pleistocene) से मिलना आरम्भ होते हैं और उस आधार पर यह वानर-मानव पूर्वज प्लायोसीन (Pliocene) भाग में रहता था।

मनुष्य के आदि-स्थान के प्रश्न पर पिछले लेख में कुछ लिख चुका हूँ। डारविन के मतानुसार मनुष्य का उदय आफ्रिका में हुआ। आफ्रिका में वानर-जाति बहुतायत से है और चिंपंजी, गोरिल्ला आदि वहाँ अभी तक हैं। इनका अस्तित्व ही इस बात का द्योतक है कि इनके विकास काल में ऐसी कोई परिस्थिति न आई जिससे उसमें कोई रुकावट होती। और श्री डारविन के मतानुसार मानव-विकास आफ्रिका से ही आरंभ हुआ होगा। १९२५ में प्रोफेसर रेमंड डार्ट (Raymond Dart) ने दक्षिण अफ्रीका में एक अवशेष प्राप्त किया है जो रूपरेखा में चिंपंजी सरीखा है। पर कुछ विद्वानों के अनुसार यह उस बीच की अवस्था का चिह्न है। १९३६ में डाक्टर ब्रूम (Dr. R. Broom) ने ट्रांसवाल में एक ऐसा ही अवशेष प्राप्त किया।

पर जैसा पिछले लेख में बताया गया था मानव का आदि-स्थान मध्य-एशिया में होना अधिक संभव है। इसके कुछ कारण उसी लेख में हैं। उनके आगे भी जो कारण है वह है शिवालिक पहाड़ियों के मायोसीन (Miocene) भाग की शिलाओं में कुछ वानर-अवशेष प्राप्त होना। इनमें ड्रायोपिथिकस (Dryopithecus) का नाम उल्लेखनीय है। यह अवशेष मानव के काफी समीप आ जाता है। यह समीपता दांतों की बनावट से प्रकट है, जो प्रोफेसर ग्रेगरी (Prof D. K. Gregory) के अनुसार वानर-मानव अवस्था का द्योतक है। और यह जीव वानर और मानव का पूर्वज हो सकता है। जलवायु के परिवर्तन के कारण जीव दक्षिण-पूर्व की ओर फैले (Migrated) और जावा में प्रथम आदि-मानव (Pithecanthropus) के अवशेष प्राप्य हैं। यह बहुत संभव है कि ड्रायोपिथिकस ने अपनी शिवालिक-जावा यात्रा में आदि-मानव को जन्म दिया हो। चीन में जलवायु परिवर्त्तन के फलस्वरूप वहाँ से कुछ जीव तो दूसरी ओर गये व कुछ का आगमन भी हुआ। उत्तर-पश्चिम से, तथा दक्षिण से कुछ आगमनों के फलस्वरूप चीनी आदि मानव (Sinanthropus) का विकास हुआ। इन सब को दृष्टि में रखकर यह कहा जा सकता है कि मध्य एशिया मानव का आदि-स्थान रहा होगा।

मानव-विकास पर कुछ विचार

सन् १८६४ में डिजराएली (Disraeli) ने कहा था—"मनुष्य वानर है या देवता? मैं तो सोचता हूँ—देवता।" (Is man an ape or angel ? I, my Lord, I am on side of angels.) सर एम्ब्रोज फ्लेमिंग (Sir Ambrose

Fleming) १९३५ में मानव विज्ञान और जीव-विज्ञान के द्वारा सिद्ध वानर और मनुष्य की समानता और यह कि मानव और वानर एक ही पूर्वज की संतान हैं, आदि विचारों से क्षुब्ध हो उठे थे। उनके अनुसार समानता हड्डी, ढांचा और खून में है पर यह मनुष्य की मानसिक शक्तियों को ध्यान में नहीं लाती।

सर फ्रांसिस गाल्टन ने अपनी पुस्तक में १८६४ में कहा था—"हम यहां क्यों हैं इस संबंध में हम प्रायः पूर्णतया अनभिज्ञ हैं। पर यह निश्चित है कि वैयक्तिक-जीवन किसी व्यापक प्रणाली का एक भाग है, और वह प्रणाली किसी ऐसे लक्ष्य की ओर अग्रसर है जिसकी हमें केवल एक धूमिल क्षीण रेखा ही दृष्टिगोचर होती है अथवा पूर्ण रहस्यमय है...और उसकी प्राप्ति के हेतु अनेक विभूतियां निरंतर कार्यरत हैं।" Sir Francis Galton in Hereditery Genius 1864 Pp 351) श्री गोवांस ह्वाइट अपनी एक नई पुस्तक में कहते हैं—"सामान्य व्यक्ति का विचार है कि मनुष्य कुछ स्थितियों में प्रकृति की सीमाओं के बाहर है और जीवन विज्ञान की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। मनुष्य का जन्म कैसे हुआ तथा उसे यह आध्यात्मिक-शक्ति कैसे प्राप्त हुई यह प्रश्न विज्ञान द्वारा हल नहीं हो सकता। पृथ्वी में जीवन-आरंभ तथा आगे चलकर मनुष्य का उद्भव ये किसी विशेष रचना के बल पर ही समझाये जा सकते हैं। (A. Gowans Whyte "Ladder of Life" Thrift Series, 1957, pp. 15)।

विकास किसी एक लक्ष्य विशेष की पूर्त्ति के हेतु हो रहा है—यह मत काफी विवाद का विषय है। श्री राबर्टसन के अनुसार ऐसा कोई कारण नहीं दिखता कि उसका कोई विशेष उद्देश्य रहा हो। पर पर सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith; Essays on Human Evolution, Scientific Book Club Edn Pp 217) इस प्रश्न पर उत्तर देते हुए मानव-विकास में एक विशेष लक्ष्य की पूर्ति देखते हैं। और उन लक्ष्य की पूर्ति मानव-मस्तिष्क के विकास में हुई। मानव-विकास घटना मात्र ही नहीं है। डाक्टर बैडिंगटन भी विकास में एक विशेष प्रवृत्ति को मान्यता देते हैं। इसके विरुद्ध डाक्टर जुलियन हक्सले अपनी हाल की पुस्तक (Dr. Julien Huxley 'Evolution'—1942; pp. 576) में कहते हैं कि पृथ्वी पर मनुष्य की सृष्टि केवल एक घटना मात्र है। किसी लक्ष्य विशेष की पूर्ति उसमें निहित नहीं है, अल्फ्रेड मैकिन (Alfred Machin–'What is man') अपनी पुस्तक में लिखते हैं—'मनुष्य कोई अनबूझ पहेली नहीं है। वह जो भी करता या जो भी करता है, उसका कारण होता है, वह अकारण नहीं।' हरबर्ट स्पेंसर ने भी विकास में किसी एक ऐसी व्यापक प्रणाली दर्शन किया था जो निरंतर पूर्णता की ओर अग्रसर है। श्री अरविंद घोष प्रकृति के प्रत्येक व्यापार में कोई लक्ष्य-साधन का भाव निहित देखते हैं।

इस लेख का आरंभ साधुश्रेष्ठ श्री अरविंद घोष के वाक्य से किया गया था। यह अनुचित न होगा कि इसका अंत भी श्रद्धेय "माता जी के कुछ शब्दों से किया जाये जो उन्होंने इस वर्षारंभ पर अरविंद आश्रम के 'बच्चों' को दिये थे—" प्रकृति में निरंतर विकास होता है जो पत्थर से पौधे, पौधे से पशु और पशु से मनुष्य में गतिमान हुआ है। यद्यपि मनुष्य कुछ काल के लिये विकास के शिखर पर है और सोचता है कि वह सृष्टि की अंतिम कलाकृति है। वह सोचता है कि उससे श्रेष्ठ कोई नहीं हो सकता। यह उसकी भूल है। अपने पार्थिव रूप में वह पशु ही है—सोचने और बोलने की शक्ति रखने वाला पशु। निस्संदेह प्रकृति अपनी इस अपूर्ण कलाकृति से संतुष्ट नहीं रह सकती। वह एक ऐसी कृति के निर्माण में संलग्न है जो मनुष्य की तुलना में वैसी होगी जैसे मनुष्य पशु की तुलना में है। पर कृति रहेगी मनुष्य ही—ऐसा मनुष्य जिसकी चेतना-शक्ति हम से बहुत ऊपर होगी।"

(चित्रों के लिए लेखक श्री सुशील कुमार हरिश्चन्द्र का आभारी है)

गणितीय वाक्यांश

लेखक—श्री ब्रज मोहन

शब्दों के वैज्ञानिक तथा तार्किक प्रयोग के लिए विद्वान लेखक का यह निबन्ध पठनीय है। वाक्यांशों के उदाहरण लेखकों तथा अध्यापकों के लिए उपयोगी तथा मनोरंजक सिद्ध होंगे।

भाषाओं में केवल शब्दों का ही अन्तर नहीं होता, प्रकृति का भी अन्तर होता है। बहुधा सुनने में आता है कि अँग्रेजी के ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जिनके पर्याय हिन्दी में नहीं मिलते जैसे Duty इस शब्द के लिये हिन्दी में कोई एक पर्याय नहीं है। मैं यहाँ चार वाक्य लेता हूँ :—

1. It is the duty of the rich to give alms.
2. The duty of a shudra is to serve the Brahmans.
3. I am on night duty these days.
4. There is no duty on this article.

स्पष्ट है कि इन चार वाक्यों में Duty के लिये एक ही पर्याय से काम नहीं चलेगा। हम इन वाक्यों का अनुवाद इस प्रकार करेंगे :—

१. धनाढ्यों का कर्त्तव्य है कि दान करें।
२. शूद्र का स्वधर्म है कि ब्राह्मणों की सेवा करे।
३. मेरा कृत्य आजकल रात का है, अर्थात् मैं आजकल रात में काम पर जाता हूँ।
४. इस वस्तु पर चुंगी नहीं लगती।

ऐसा ही एक शब्द Case है। इसके लिये भी हिन्दी में कोई एक पर्याय नहीं है। कहीं पर कोई और कहीं पर कोई,अन्य प्रयुक्त होता है। मैं यहाँ कुछ उदाहरण देता हूँ :—

1. In such a case — ऐसी दशा में
2. In case — यदि
3. In the present case — प्रस्तुत परिस्थिति में
4. Card board case — पट्ठे का बक्स
5. His is a case of plague — वह प्लेग का रोगी है।

परन्तु यदि इन शब्दों के लिए हिन्दी में किसी एक ही शब्द से काम नहीं चल सकता तो इसमें हिन्दी का कोई दोष नहीं है। हिन्दी के भी बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके लिए अँग्रेजी में कोई एक पर्याय नहीं है जो प्रत्येक स्थान पर ठीक बैठ जाय। हिन्दी का शब्द 'धर्म' लीजिये। क्या अँग्रेजी में इसके लिए कोई पर्याय नहीं है। पाठक कहेंगे कि अँग्रेजी शब्द Religion इसका पर्याय है। परन्तु तनिक इस वाक्य का अनुवाद करके देखिये।

आग का धर्म है जलाना

क्या इस वाक्य में भी धर्म के लिए Religion शब्द का प्रयोग हो सकेगा। स्पष्ट है कि यहाँ Function शब्द से काम लेना पड़ेगा।

एक शब्द और लीजिये 'अपना'। मैं यहाँ कुछ वाक्य और उनके अँग्रेजी अनुवाद देता हूँ :—

१. मैं अपने घर जा रहा हूँ। I am going to my house.

२. तुम अपने घर जा रहे हो। You are going to your house.

३. वह अपने घर जा रहा है। He is going to his house.

४. वह अपने तईं बहुत लगाता है। He thinks too much of himself.

स्पष्ट है कि 'अपने' के लिये स्थान स्थान पर अँग्रेजी के अनेक शब्दों का प्रयोग करना पड़ेगा। इसको भी अँग्रेजी का दोष नहीं कहा जा सकता। भाषा केवल एक शब्द-समूह नहीं है। प्रत्येक भाषा के एक आत्मा होती है, विशेषता होती है, प्रकृति होती है। मैं यहां हिन्दी के तीन वाक्य देता हूँ जिनका अँग्रेजी में ठीक-ठीक अनुवाद हो ही नहीं सकता।

१—वह फसकड़ा मार के बैठ गया।

२—वह सटाक से उठा और खटाक से चल दिया।

३—सारी धोती लपूझन्ना हो गई है।

इसी प्रकार अँग्रेजी के भी सैकड़ों वाक्य ऐसे हैं जिनका हिन्दी में ठीक-ठीक अनुवाद हो ही नहीं सकता। परन्तु कभी-कभी अँग्रेजी के वाक्यों का अनुवाद करना ही पड़ता है। ऐसे अवसरों पर यदि बिल्कुल शाब्दिक अनुवाद न हो सके तो भावानुवाद अथवा निकटतम अनुवाद से ही काम चलाना पड़ता है। आजकल हम लोग परिवर्तन युग से गुजर रहे हैं। अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया जा रहा है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि अँग्रेजी पारिभाषिक शब्दों और वाक्यांशों के हिन्दी पर्याय ढूंढ़ निकाले जायं। अध्यापकों और लेखकों का इसके बिना काम नहीं चल सकता। अतएव इस में मेरा विचार है कि कुछ गणितीय वाक्यांशों का विवेचन करूं और उनके लिये उपयुक्त हिन्दी पर्याय ढूंढ़ निकालने अथवा बनाने का प्रयत्न करूं।

मैं इस प्रकार के कुछ वाक्यांश यहां लेता हूँ :—

1. According to ascending powers of x	य की आरोह घातों के अनुसार, य की आरोह घातों में।
According to descending powers of x.	य की अवरोह घातों के अनुसार, य की अवरोह घातों में
2. Admits of all values.	समस्त मान ग्रहण करता है।
X admits of all values.	य के समस्त मान ग्राह्य हैं।
3. A hollow square.	एक खोखला वर्ग, एक अन्तः शून्य वर्ग।
4. Always divisible.	सदैव भाज्य
5. An example will illustrate the process.	एक उदाहरण से विधा स्पष्ट हो जायगी
6. An anomalous result.	एक विषम फल।
The result is apparently anomalous but true.	फल देखने में विषम है परन्तु वास्तव में सत्य है।
7. Application of the formula..	सूत्र का प्रयोग
8. Approaches a limit.	सीमा उपगमन करता है सीमा की ओर प्रवृत्त होता है। सीमा प्राप्त करता है, सीमा पर पहुँचता है।
9. Arithmetically inteligible.	अंकगणित के शब्दों में अधिगम्य, अंकगणितीय रूपसे अधिगम्य, अंकगणिततः बोधगम्य

10. As small a quantity as we please.	इतनी छोटी राशि जितनी कि हम चाहें, छोटी से छोटी राशि।
11. At frequent intervals.	छोटी छोटी अन्तर्धियों पर।
At more frequent intervals.	अधिक छोटी अन्तर्धियों पर।
12. Be brought under the domain of the ordinary laws of Algebra.	बीजगणित के साधारण नियमों के अन्तर्गत लाया जाय
13. Being given that.	जब कि यह दिया है कि
14. Be profitably employed.	का उपयोग हो सकता है
15. Beyond the scope.	क्षेत्र के बाहर।
16. By actual verification.	वास्तविक सत्यापन से, वास्तविक जाँच से।
17. By any the same quantity.	किसी एक ही राशि से।
18. By this contrivance.	इस युक्ति से, इस युक्ति द्वारा
19. By trial.	परख से।
20. Comprehensive view.	परिग्राही दृष्टि, व्यापक दृष्टि।
21. Can be disposed of.	का निपटारा कर सकते हैं।
22. Can be converted into.	में परिवर्तित कर सकते हैं।
23. Can be expressed in the following form.	निम्नलिखित रूप में व्यक्त कर सकते हैं।
24. Can not be exactly found.	ठीक ठीक उपलब्ध नहीं हो सकता।
25. Can very conveniently be solved.	बड़ी सुगमता से हल हो सकती है।
26. Capable of assuming all values.	समस्त मान धारण करने योग्य।
27. Consists of five elements.	पाँच तत्वों से बना है।
28. Consistently with our definition.	हमारी परिभाषा के सांगत्य में।
29. Continued to infinity.	अनन्त तक वितत।
30. Deserving of special notice.	विशेष ध्यान देने योग्य।
31. Detailed discussion.	विस्तृत विवेचन, सविस्तर विवेचन।
32. Detailad proof.	विस्तृत उपपत्ति, सविस्तर उपपत्ति।
33. Due regard should be paid to the sign.	चिन्ह पर समुचित ध्यान देना चाहिये।
34. Each less by 2	प्रत्येक में से २ घटाकर।
35. Each lying between 10 and 50.	जिसमें से प्रत्येक १० और ५० के बीच में स्थित है।
36. Either.	या तो।
37. Enables us to determine.	की सहायता से निर्धारित कर सकते हैं।
38. Equation reduces to.	समीकरण इस लघु रूप में परिणत हो जाता है।
39. Exactly divisible.	पूर्णतया भाज्य।
40. Example of this nature.	इस प्रकार का उदाहरण।

41. Explain the double answer. द्विगुत्तर की व्याख्या करो।
42. Expressed symbolically. साँकेतिक रूप में व्यक्त।
43. Expression concerned. सम्बद्ध व्यंजक, उक्त व्यंजक।
44. Expression under the radical sign. करणी चिन्ह के अन्दर का व्यंजक।
45. Fact necessarily following. आवश्यक तथ्य जो उससे निकलते हैं।
46. For a clearer view of the matter. विषय की स्पष्टता के लिये।
47. For a similar reason. समान कारण से, इसी प्रकार।
48. From 7 downwards. ७ से नीचे की ओर।
49, From first principles. प्राथमिक सिद्धान्तों से, प्राथमिक नियमों से।
50. Formal proof. आकारी उपपत्ति।
5I. From 2 upwards. २ से ऊपर की ओर।
52. Further approximation. अपर उपनयन।
53. General procedure. व्यापक कार्यविधि, व्यापक विधा।
54. Generally speaking. व्यापक शब्दों में, साधारणतया।
55. If not indispensable. यदि अनिवार्य न हो तो।
56. In all cases axcept when. केवल एक दशा छोड़कर जिसमें।
57. In any order. किसी भी क्रम में।
58. In due order. यथाक्रम।
59. Independent of से स्वतन्त्र।
60. In one and the same order. एक ही निश्चित क्रम में।
61. In order that. ताकि।
62. In order to. के लिये।
63. In the same way. इसी प्रकार।
64. Irrespective of the order. बिना क्रम के विचार के।
65. It is to be noticed. यह बात ध्यान देने योग्य है।
66. It is usual to do so. साधारणतया ऐसा करते हैं।
67. May be regarded as a constant. को अचल मान सकते हैं।
68. May conveniently be used. का सुगमता से उपयोग कर सकते हैं।
69. Method of solving. साधन विधि, हल करने की विधि।
70. Might have been adopted. का प्रयोग कर सकते थे।
71. Made of reasoning. तर्क प्रणाली, तर्क विधि।
72. Must include. का समावेश होना चाहिये।
73. Never divisible. कभी भी भाज्य नहीं, सदैव अभाज्य।
74. Number denoting the power. घातद्योतक संख्या।
75. Of great use. बहुत उपयोगी, बड़े काम का।
76. Of no practical value. किसी अर्थ का नहीं, व्यर्थ।

77. Only those are to be retained.	केवल उन्हीं को रखना है।
78. Only when	केवल तभी।
79. Or.	या, अथवा।
80. Proceeding from case to case.	एक एक दशा को लेते हुये।
81. Property holds.	गुण होता है।
82. Provided that.	यदि।
83. Raised to power 5.	पंचायत में।
84. Ready application.	सुगम प्रयोग, तात्कालिक प्रयोग।
85. Ready method.	सुगम विधि।
86. Reduce them to the same base.	उनको एक ही आधार पर लाओ।
87. Reduce them to surds of the same order.	उनको एक ही वर्ण की करणियों में परिणत करो।
88. Reducible to this form.	इस रूप में लघुकरणीय।
89. Referred to one and the same unit.	एक ही इकाई से सम्बद्ध।
90. Roots by inspection.	प्रत्यक्ष मूल।
91. Satisfying the conditions of the problem.	समस्या की शर्तों को संतुष्ट करते हुये।
92. Set of 4 volumes.	चार भागों का कुलक।
93. Strongly recommended.	प्रकर्ष रूप से अभिशंसित।
94. Sum to infinity.	अनन्ती तक योग।
95. Sum to n terms.	ग पदों तक योग।
96. Taking one foom each of the n factors.	ग खंडों में से प्रत्येक में से एक लेकर।
97. The anomaly disapears.	कठिनाई दूर हो जाती है, उलझन दूर हो जाती है।
98. The method consists in multiplying.	विधि गुणा करने की है।
99. The principle is illustrated by the following example.	निम्नलिखित उदाहरण इस नियम का दृष्टान्त है।
100. The quantity can be made to differ from the sum by as small a quantity as we please.	इस राशि और योग का अन्तर हम उतना छोटा कर सकते हैं जितना चाहें।
101. The unknown quantities are similarly involved in the equation.	अज्ञात राशियां समीकरण में इसी प्रकार समाविष्ट हैं।
102. To equate the two.	दोनों के समीकरण के लिये।
103. Tolerably satisfactory proof.	साधारणतया संतोषजनक उपपति।
104. Treated of in this article.	इस प्रकरण में उपचरित।

[शेष पृष्ठ ५३ पर]

शिलाओं का रसायन

लेखक—जगपति चतुर्वेदी

धरती की पपड़ी बनाने वाली शिलाओं की रचना के संबंध में वैज्ञानिक विवेचन को कौतूहल पूर्ण तथा, युक्ति-संगत रूप में इस लेख में देने का प्रयत्न किया गया है।

'रसायन' शब्द को शीर्षक में देखकर सम्भव है कि साधारण पाठक कुछ चौंकें और कुछ दुरूहता वा जटिलता के समावेश का सन्देह करें किन्तु बात ऐसी नहीं है। बच्चे रंगरेज के रंगे हुए सुन्दर हल्के या गहरे रंग के वस्त्र धारण कर अपार सुख का अनुभव करते हैं। हम तो अध्ययन करने का कष्ट नहीं करते कि किसी विशेष रंग का प्रभाव लाने के लिए किन-किन वस्तुओं या रंगों का मिश्रण करना चाहिए। रंगों के चटकीले या हल्के रूप करने के लिए क्या करना चाहिए। कच्चा या पक्का रंग कैसे उतारना चाहिए परन्तु रंगरेज अपनी विद्या, रंग का उतार चढ़ाव समझने, उनकी विविध छटा उपस्थित कर सकने आदि की उधेड़बुन में लगा रहकर बड़े आनन्द का अनुभव करता है। दर्जी भी हमारे कपड़े को सीते समय जरा-सी भी सिकुड़न दूर करने, कपड़ा ठीक तरह शरीर में फिट होने योग्य सी सकने के लिए भिन्न-भिन्न नाप-जोखों की पेचीदगी में रहकर सुख का जैसा अनुभव करता है हम अपने चुस्त वस्त्रों को पहनते हुए उस आनन्द में उतना भागी नहीं हो पाते। वैज्ञानिक भी हमारे पैर के नीचे की धरती, उसके गर्भ तथा वाह्य रूप में विस्तृत भूखंडों की निर्मायक वस्तुओं की गिनती, उनके रूपों की व्याख्या, मौलिक या यौगिक स्वरूप के ऊहापोह, परस्पर अनुपात, प्रभाव आदि की नित्य खोज, व्याख्या आदि में रहकर जैसे अपूर्व आनन्द, सुख, तथा गर्व का अनुभव करते हैं उनमें हम अपने को अधिक भाग लेते नहीं पाते हैं।

वैज्ञानिक की खोजों के आधार इन सब पदार्थों के उपयोग प्रभाव आदि से हम वंचित नहीं रहते। आंतरिक मर्म और रचना-चातुरी के सम्बन्ध में हमारी निपट अज्ञानता होने पर भी धरती हमें भूतल या गर्भ स्थल के पदार्थों के उपयोग करने में किसी प्रकार का ननुनचु नहीं करती किन्तु हम स्वयं ही अपनी जिज्ञासा को तृप्त करने के लिए उसके रहस्यों, सतत नियमों, नाना रूप-परिवर्तनों तथा उसकी गहरी छान-बीन करने में संलग्न हो या अन्य कर्मठ खोजियों, उद्भट विद्वानों की संगृहीत ज्ञानराशियों का ही रसास्वादन करना चाहें तो प्रकृति हमारे सामने कोई बाधा नहीं डालती। अस्तु।

हम अपनी उत्सुकता वश यदि इन्हीं छान-बीन के विद्वानों के प्रयत्नों, सफलताओं, रहस्योद्‌घाटनों, तथा मार्मिक व्याख्याओं के अत्यंत स्थूल रूप को धरती की पपड़ी के निर्मायक पदार्थों के संबन्ध में साधारण पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न करें तो जटिलता या दुरूहता की दुहाई देने का कोई कारण नहीं। वैज्ञानिक सत्य की गहरी मीमांसा जो समर्थ विद्वान कर सकते हों, करें, किन्तु इस ठोस सत्य के मौलिक रूप की स्थूल व्याख्या भी

हमारी बुद्धि में नहीं धस सकती है, यह भ्रान्त धारणा तो हमारी भारी बौद्धिक कायरता, सत्य का रूप न समझने का भारी हठ ही हो सकता है! अतएव यह कहना हमारा दुस्साहस न होगा कि शिलाओं के रसायन की साधारण चर्चा कभी भी हमारी घबराहट का विषय न होगी। इतना अवश्य है कि वर्णन की दुर्बलता से उतना सुन्दर चित्र मस्तिष्क में भले ही न उतर आवे, किन्तु इस डर से चर्चा ही न करना कोई बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती।

यदि हमारे स्थूल जगत, ठोस सत्य रूप में हमें प्रति दिन दृष्टि आते, प्रयोग में आते, घोर उपयोगितावादी, पार्थिव संसार का स्वरूप चित्रण करने वाली रामायण कोई लिखता तो हम उसमें यह चौपाई का अंश पाते :—

शैल-प्रधान सृष्टि कर राखा।

इसकी व्याख्या भी कोई अधिक जटिल नहीं होती। धरती की ठोस पपड़ी से निर्माण में शैलम् (सिकिलन) या शैलकम् नाम के ठोस तत्व की प्रधानता है। इस वैज्ञानिक व्याख्या में हम यथार्थ में सत्य का निरूपण देखते। आप फिर पूछेंगे कि यह शैलम् या शैलकम् (सिलिकन) क्या बला है, कहाँ मिलती है, किस रूप-रंग की होती है, उसके लिए कोई व्याख्या करता कि इसके लिये दूर जाने की तो विशेष आवश्यकता नहीं, अपने पैर के नीचे देखिए, घर में सिर के ऊपर देखिए, दीवाल में देखिए, फ़र्श में देखिए, छत में देखिए, घर के बाहर सड़क पर देखिए, गली कूचे में देखिए, टीले में भी देखिए, नाले में भी देखिए, सब ओर सिलिकन, सिलिकन या शैलम, शैलम् ही तो दृष्टिगोचर होता है। इतने पर भी यदि शैलम् (सिकिलन) के रूप का आप पर प्रभाव पड़ता, उसके प्रसार का आभास मिलता न दिखाई पड़े, तो हम यह कहेंगे कि विज्ञान की सरल पुस्तकें पढ़िए। अस्तु।

शैलम् या सिलिकन तत्व क्या है, इसके उत्तर के लिए थोड़ा-सा धैर्य रखकर पृथ्वी के स्थूल भाग की, उसकी पपड़ी में विद्यमान रूप में, हमें विहंगम दृष्टि से छान-बीन करनी होगी। हम ओषजन (आक्सिजन) को जानते हैं जो वायव्य रूप में हमारे साँस लेने और प्राण-रक्षा करने के काम आती है। यही प्राणप्रद वायव्य (गैस) अर्थात् ओषजन पृथ्वी के अन्य रूप के पदार्थों में भी सम्मिलित है। ठोस पदार्थों में भी यह विद्यमान ही नहीं है, बल्कि पृथ्वी की पपड़ी में तो ठोस पदार्थों में सबसे अधिक मात्रा का यहीं तत्व विद्यमान है। यदि इस ओषजन और शैलम् दोनों के वर्तमान रूप को पृथ्वी की पपड़ी में खोज की जाय तो ये दोनों पदार्थ ही कुल पपड़ी अर्थात् मनुष्य की अन्वीक्षण दृष्टि में आ सकने वाले कुल स्थूल तह का ७५ प्रतिशत घेरे दिखाई पड़ेंगे। अर्थात् पृथ्वी के जितने भी अधिक से अधिक गहराई तक के भाग की छानबीन कर सकने की मनुष्य में सामर्थ्य है, उन सब भागों का निरीक्षण या वैज्ञानिक विश्लेषण या तत्वों के पृथक-पृथक विभाजन करने पर ७५ प्रतिशत में दो ही तत्व ओषजन और शैलम् का ही फैलाव मिलता है। इस प्रकार ओषजन को हवाई, वायव्य पदार्थ कहकर हम ठोस आकार की वस्तु पर ध्यान दें तो निश्चय ही शैलम् (सिलिकन) पृथ्वी के ठोस पदार्थों में सबसे अधिक मात्रा का मिलेगा।

तत्व क्या है? जिस प्रकार वर्णमाला के स्वर और व्यंजन अक्षर होते हैं उसी प्रकार स्थूल संसार रूपी ग्रंथ में वर्णमाला के स्वर और व्यंजन रूप में मौलिक पदार्थ "तत्व" (एलिमेंट) होते हैं। हम ध्वनि के सार्थक रूप में स्वर या व्यंजन की इकाई से नीचे जाने की सामर्थ्य नहीं रखते, उसी प्रकार मौलिक पदार्थों, तत्वों की रासायनिक रूप से कोई छोटी अवस्था नहीं की जा सकती। (भौतिक रूप से उनके सूक्ष्म अवयवों के भी विवेचन निरूपण, आदि का विषय परमाणु संबंधी भौतिक विज्ञान का विषय है। उस सूक्ष्म चर्चा का हमारे प्रसंग पर कोई सीधा प्रभाव नहीं।)

ओषजन (आक्सिजन) और शैलम् (सिलिकन) का जगत की पपड़ी में ७५ प्रतिशत् विस्तार देखकर शेष २५ प्रतिशत् भाग में २४ प्रतिशत् हम अष्ट धातु को फैला देखते हैं। अन्य सभी पदार्थों को शेष १ प्रतिशत में ही फैला पाया जा सकता है। अष्टधातु का नाम सुनकर आप कदाचित कह बैठें कि ओ हो! यह तो दकियानूसी, पुरानी-धुरानी बात हुई। भला अष्टधातु का वैज्ञानिक विश्लेषण में किस प्रकार स्थान हो सकता है, यह तत्वों का भेद और मात्रा बताने वाला वर्णन विश्वसनीय नहीं किन्तु हम यह कहेंगे कि अष्टधातु से निर्मित, मंदिर में बजने वाले, घंटे की ओर आप मत भ्रमित होइए। हमने तो जानबूझ कर यह शब्द इसलिए प्रयुक्त किया कि आप अष्ट धातु शब्द से परिचित हैं, कोई संख्या याद करने में कठिनाई नहीं होगी। ओषजन और शैलम् दो अधातु पदार्थों की प्रधानता होने के बाद शेष २५ प्रतिशत में २४ प्रतिशत का निर्माण कोई निश्चित वर्ग के पदार्थ करते हैं जो धातु नाम से ज्ञात हैं और उनकी मुख्य संख्या आठ है। इन आठों का नाम या रूप आप ज्ञान-मंदिर के घंटे रूप में ज्ञात करें, तब सत्य के अधिक निकट होंगे। इस वैज्ञानिक विश्लेषण के आठों रूपों के धातु क्या है, उनका नाम दे देने में कोई हानि नहीं, उनके अपरिचित होने, नाम, गुण, प्रकार आदि से अबोध होने के कारण कुछ चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं। हम अपनी चर्चा का विषय छोड़कर धातु वंशावली लिखने नहीं जा रहे हैं। उसे आप रुचि होने पर अन्यत्र देख सकते हैं। वे धातु ये हैं—अल्यूमीनियम, लौह (आइरन), खटिकम् (काल्सियम) सैन्धकम् (सोडियम), पांशुजम (पोटैशियम) और मैगनीशियम । इनमें अल्यूमीनियम की मात्रा ८ प्रतिशत, लोहे की ४ प्रतिशत, काल्शियम की ३½ प्रतिशत और शेष तीन की भी इसी तरह क्रमशः कम मात्रा है। मगनीसिया या मैगनीशियम इनमें सबसे कम मात्रा २½ प्रतिशत का स्थान घेरता है। अल्यूमीनियम और लोहा हमारे परिचित पदार्थ हैं ही, खटिकम या काल्शियम चूना के पत्थर, खरिया मिट्टी, जीवों की कड़ी खोल, सीपी घोंघे, शंख आदि में विद्यमान हैं। नमक रूप में हम सैन्धकम या सोडियम खाते हैं। पोटाश खेतों की सुन्दर खाद बनता है। रहा मगनीसम या मैगनीशियम उसे चूर्ण या तार रूप में छायाचित्र उतारने में उपयोग होता है। यह अन्य वस्तुओं या धातुओं में संयुक्त मिलता है।

पृथ्वी के तहों की मनुष्य जहाँ तक परख कर सकता है उनमें हम इस प्रकार तत्वों की मात्रा देखते हैं। आठ मुख्य पदार्थ या तत्व जो २४ प्रतिशत भाग घेरते हैं, उनके विपक्ष शैलम् (सिलिकन) की अपनी निजी मात्रा २८ प्रतिशत होती है। ४७ प्रतिशत स्थान ओषजन का मिलता है। शेष एक प्रतिशत में ही हमें आवश्यक या अनावश्यक सभी पदार्थ विद्यमान दिखाई पड़ सकते हैं।। बहुमूल्य या उपयोगी धातु सोना, चाँदी, प्लेटिनम या ताँबा इसी एक प्रतिशत के अन्तर्गत हैं।

हमारी इस चर्चा का एक मुख्य उद्देश्य है। हम तत्व रूप में सब प्रकार के पदार्थ को मुख्यतया इतनी मात्रा में विभाजित समझ सकते हैं। अब हम अपनी वर्णमाला का उदाहरण फिर ध्यान में लेते हैं। हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यंजन को मूल रूप में हल् या हलंत ही माना जाता है और उसमें 'अ' या किसी स्वर के मिलने पर उच्चारण की ठीक इकाई हमारे सामने आती है। जैसे क्, ग्, ज्, द् आदि अक्षर 'अ' स्वर के संयोग से क, ग, ज, द आदि उच्चरित दिखाई पड़ते हैं। कहीं हलंत भी दिखाई पड़ते हैं, किन्तु कम। इसी प्रकार तत्व भी हमें हलन्त अक्षरों या व्यंजनों की भाँति लंगड़े से दिखाई पड़ते हैं। अतएव वे स्वतंत्र रूप से अपना अस्तित्व हमें प्रायः नहीं दिखला पाते। अधिकतर

वे अन्य तत्वों के संयोग से अपना रूप स्थिर कर दिखाई पड़ सकते हैं।

सोना, प्लेटिनम, गंधक, कर्बन आदि पदार्थ मुक्त रूप में अपने परमाणुओं की ही मात्रा एकत्र कर शुद्ध रूप में मौजूद रह सकने में समर्थ हो सकते हैं, परन्तु अधिकांश तत्वों को हम दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखने वाला देखते हैं। इस कारण पृथ्वी की स्थूल पपड़ी में हम इन संयोगों का बोलबाला सर्वत्र देखेंगे। ओषजन की मात्रा सभी तत्वों से अधिक होने के कारण यह स्वाभाविक है कि इसका सहयोग बहुतों को प्राप्त हो। अकेले शैलम (सिलिकन) के ही इससे संयोग कर लेने पर बने यौगिक पदार्थ को हम पृथ्वी के ज्ञात हो सकने योग्य भाग या पपड़ी का ६० प्रतिशत घेरते देखते हैं। ओषजन के वायव्य रूप का शैलम (सिलिकन) से संयोग होने पर ६० प्रतिशत भूखंड घिरना कुछ विस्मय की बात नहीं है।

शैलम (सिलिकन) का शुद्ध रूप स्वतंत्र रूप से प्रकृति में कहीं नहीं पाया जा सकता। प्रयोग-शाला में उसे शुद्ध रूप में तैयार कर रखना कठिन ही होता है। ओषजन से संयुक्त शैलम (सिलिकन) को सिलिका कहा जाता है। बालू रूप में हमें उसका एक रूप देखने को मिल सकता है।

शैलम (सिलिकन) की भाँति पृथ्वी के भाग में मिलने वाले अन्य तत्व भी अधिकांशतः ओषजन से संयोग करते दिखाई पड़ते हैं। हम ओषजन के संयोग को उन पदार्थों के ओषिद (आक्साइड) कहते हैं। इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखने की आवश्यकता है। जिस तत्व का ओषजन से संयुक्त होकर पदार्थ बनेगा उसे उस तत्व का ओषिद कहेंगे। अतएव पृथ्वी की पपड़ी में अधिकांश रूप से मिलने वाले आठों धातुओं या अन्य कितने ही तत्वों में भी ओषजन के संयोग से बना उनका ओषिद (आक्साइड) देख सकते हैं। इनको स्वरयुक्त अक्षर या व्यंजन रूप में आप मान सकते हैं।

पृथ्वी के निर्मायक पदार्थों में ओषजन को सहायक रूप में संयोजक पदार्थ की कल्पना कर लेने पर शेष अधिकांश मात्रा वाले पदार्थों में जहाँ आठ धातु हैं, वहां एक अधातु शैलम (सिलिकन) मिलता है, किन्तु ९० प्रकार के लगभग सभी तत्वों की संख्या और भिन्न प्रकार का विचार किया जाय तो उनमें भी २० तत्व जहाँ हमें 'अधातु' कोटि के मिलेंगे वहाँ अन्य सभी 'धातु' नामधारी मिलेंगे। इस धातु और अधातु की खींचतान में मात्रा किस की अधिक है, प्रकार किनका अधिक है, इसे आप हिसाब लगाकर जोड़ लें। कदाचित आपको यह भूला न होगा कि २४ प्रतिशत कुल योग ही प्रधान धातुओं का है और शेष एक प्रतिशत में धातु अधातु सभी विभिन्न शेष तत्व हैं, इनके विपक्ष उधर अकेले ही शैलम् (सिलिकन) २८ प्रतिशत का है। अब शैलम्-प्रधान सृष्टि होने में आपको क्या संदेह हो सकता है।

हमने तत्वों के विभाजन और अनुपात का जो साधारण स्थूल चित्र यहाँ चित्रित किया है, वह अत्यन्त सरल है। हम कुछ पग इससे आगे बढ़ते हैं। धातु या अधातु का स्पष्ट रूप हमें कदाचित नहीं भान होता है, विशेषकर उस रूप में जब सोने चाँदी की तरह शुद्ध रूप में वे धातु नहीं दिखाई पड़ते जिनको हमने मुख्य सूची में पोटैशियम, सोडियम, मैगनीसियम आदि नाम से संबोधित किया है। हम साधारण रूप से धातु का अर्थ कोई कड़ी और दृढ़ वस्तु लेते हैं। लोहा, ताँबा हमारे ध्यान में तुरन्त आ जाता है। यथार्थ में धातु शब्द हमारे मस्तिष्क में दृढ़ता की प्रतिमूर्ति सा ज्ञात होता है। किन्तु हम भूलते हैं कि 'सोना' धातु है किन्तु उसमें दृढ़ता कहाँ, शुद्ध चाँदी में भी उतना कड़ापन कहाँ? रुपए में तो ताँबा या अन्य धातु मिश्रण कर कड़ापन लाया जाता था। किन्तु पांशुजम (पोटैशियम) सैन्धकम् (सोडियम) आदि तो ऐसे धातु हैं कि हाथ पर शुद्ध रूप में

रक्खे जाने पर तनिक नमी होने से हमारे हाथ को ही जला दें। नर्मी में वे ऐसे हैं कि चाकू से काट लिए जायँ।

अतएव धातु की यथार्थ परीक्षा क्या होनी चाहिए, यह प्रश्न उठता है। सूक्ष्म वैज्ञानिक परीक्षाओं को न लेकर हम यह कहेंगे कि धातु ताप और बिजली की धारा का वाहक होता है। मक्खन ऐसे नर्म धातु सोडियम और पोटैशियम आदि इस परीक्षा में उतरते हैं किन्तु कुछ अन्य पदार्थ भी इस परीक्षा में कुछ शिथिल रूप से धातु के ये गुण दिखाते हैं जिन्हें विज्ञान धातु नहीं कहता। उन अपवादों को वैज्ञानिकों की विवेचना के लिए छोड़ दें। हम एक दूसरी परीक्षा लेते हैं जिससे हमारा विशेष प्रयोजन है।

हमने पहले बताया है कि ओषजन के संयोग से अधिकांश तत्व 'ओषिद' (आक्साइड) बनते हैं। शैलम का ओषिद अर्थात् शैलम और ओषजन दोनों तत्वों के संयोग से बना पदार्थ योगिक कहलाता है। इस तरह ओषजन के मिलने से योगिक पदार्थ धातुओं और अन्य तत्वों में से अधिकांश के बनते हैं जो उन तत्वों के ओषिद (आक्साइड) नाम से पुकारे जाते हैं। शैलम तो स्थूल या जड़ जगत में अपनी प्रधानता रखता है किन्तु वनस्पति और प्राणि जगत में उनकी शरीर-रचना में विशेष भाग लेने वाला तत्व कर्बन होता है। पत्थर कोयला उसी का रूप होता है। इस कर्बन की इतनी विस्तृत माया है कि इसके संयोग से बनने वाले विविध योगिकों की संख्या लाखों तक पहुँचती है। हमारा उस प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने कोयले का नाम लेकर इस कर्बन तत्व का नाम भर परिचित कराया। ओषजन से इस तत्व का भी संयोग होकर 'ओषिद' बनता है। कर्बन के एक परमाणु से ओषजन तत्व के दो परमाणु के मिलने के कारण कर्बन द्विओषिद (कार्बन डायक्साइड) का नाम हम स्वास्थ्य की पुस्तकों में बराबर पा सकते हैं। इस कर्बन से ओषजन मिले योगिक या ओषिद को पानी में घुलाने से सोडा, लेमनेड आदि की बोतलों में हमें खटास या अम्ल का स्वाद मिलता है। अम्ल खटाई को कहते हैं। खट्टापन का हल्का स्वाद हमें उन सब वस्तुओं के ओषिद में मिल सकता है जो धातु नहीं कहे जाते। अतएव इन सब तत्वों को अम्लीय कहा जा सकता है। अधातु के ओषिद को पानी में घुलाने से जहाँ अम्ल (ऐसिड) बनता है, वहाँ धातु के ओषिद को पानी में घुलाने से अम्ल नहीं बनता, बल्कि भस्म बनता है। 'भस्म' का अर्थ राख है, अतएव हम समझ सकते हैं कि धातु का ओषिद पानी में घुलता नहीं, बल्कि कुछ चूर्ण सा बनाता है। यह परीक्षा भी पूर्ण रूप का नियम नहीं कही जा सकती। इसके कुछ अपवाद भी हैं। और उन्हीं मुख्य अपवादों में अधातु तत्व शैलम या सिलिका भी है। बालू या रेत को तो आप भी कभी पानी में घुलाकर कोई घोल या अम्ल नहीं बना सकते। बालू से पतले कणों का शैलम का शुद्ध ओषिद रेणु रूप होने पर भी कभी घुलकर तरल या अम्लीय बनता नहीं दिखाई पड़ सकता।

इन परीक्षाओं और परिभाषाओं के अनुसार जो पदार्थ या तत्व धातु हैं उनमें से अधिकांश ओषिद बनाते हैं, उन धातुओं के ओषिद का संयोग धातु या अधातु तत्वों के ओषिदों या अन्य धातु के ही ओषिदों से हुआ मिल स.ता है। ओषिदों के इस प्रकार के संयोग में अधातु के तत्वों के ओषिद अन्य अधातु तत्व के ओषिद से भी मिलते पाए जा सकते हैं। अतएव इस रूप में शैलम (सिलिकन) के ओषिद भी धातु या अधातु तत्वों के ओषिदों से संयुक्त होते दिखाई पड़ते हैं। संयुक्ताक्षर की तरह व्यंजन, व्यंजन का मेल और उसमें स्वरों का संयोग इस रूप की कुछ झाँकी दे सकता है। जब शैलम (सिलिकन) का ओषिद किसी धातु के ओषिद से संयुक्त होता है तो उसे शैलेत (सिलिकेट) कहकर उस तत्व का शैलेत

नाम देते हैं। यह दुहरा संयोग सा हुआ। शैलेत की ध्वनि पर अन्य संयोगों को भी पुकारे जाते देखकर यह समझ सकते हैं कि किसी ओषिद का दूसरे ओषिद से ऐसा संयोग हुआ जिसमें एक धातु का ओषिद है। हम धातु के ओषिदों को शैलम का ओषिद अपने में संयुक्त कर शैलेत नाम ग्रहण करते अधिक संख्या में पा सकते हैं। इन सब रूपों में शैलम् तत्व का जहाँ जहाँ भी संयोग पाया जा सकता है, उनका प्रसार पृथ्वी की पपड़ी के ८७ प्रतिशत में पाया जाता है। इन भिन्न-भिन्न रूपों के संयोगों से प्रकृति के पदार्थों की विविधता बहुत अधिक बढ़ जाती है। एक प्रकार के ऐसे समान तात्विक संयोग से बने पदार्थ को हम शिलाओं में पृथक रूप से देख सकते हैं। ऐसे एक रूप के जो पदार्थ शिलाओं का निर्माण करते हैं उनको खनिज (मिनरल) नाम दिया जाता है। इन खनिजों के भिन्न-भिन्न प्रकार के मेल से भिन्न-भिन्न शिलाओं के रूप बनते हैं। धातु या अधातु तत्वों के ओषिदों के अनुपात से भी हम धातु-प्रधान या अधातु-प्रधान नाम से शिलाओं का वर्णन पाते हैं। धातु प्रधान या धातुओं के ओषिद की प्रधानता वाली शिला को इसी कारण भस्मीय (बेसिक) और अधातु प्रधान या अधातुओं के ओषिदों की प्रधानता होने पर अम्लीय (ऐसिडिक) नाम दिया जाना अपनी कथा या रचना का रहस्य बतला देता है, किन्तु इनमें मात्रा में धातु या अधातु का भाग ठीक आधे से कम या अधिक न देखकर धातु के ओषिद या भस्मीय ओषिद (बेसिक आक्साइड) की मात्रा ४५ प्रतिशत या अधिक और शेष अम्लीय ओषिद होने पर ही उस शिला को भस्मीय तथा इससे कुछ कम भस्मीय ओषिद युक्त शिला को मध्यमवर्गीय कहते हैं। ३५ प्रतिशत तक भस्मीय ओषिद और शेष ६५ प्रतिशत अम्लीय ओषिद होने पर शिला का नाम 'अम्लीय' कहा जाता है।

इन व्याख्याओं के पश्चात् हम यह कहें कि ग्रेनाइट शिला अम्लीय होती है किन्तु बसाल्ट शिला भस्मीय होती है तो हम उसका कुछ भेद अवश्य समझ सकेंगे। हम मध्यम वर्ग की एक शिला 'ऐंडेसाइट' मध्यवर्गीय अग्निशिला नाम से स्मरण रख सकते हैं। ज्वालामुखी पर्वतों से प्रायः ये नमूने पृथ्वी के गर्भ से धरातल पर आ उपस्थित होते हैं। मध्यमवर्गीय शिला का द्रव रूप ऐंडीज पर्वतमाला के ज्वालामुखियों में मिलता है इसलिए उसका नाम ऐंडिसाइट अर्थात् ऐंडीपर्वतीय रखा गया है। भस्मीय शिला का द्रव रूप अर्थात बसाल्ट का उद्भव हम इटली के विस्यूवियस, एटना आदि ज्वालामुखियों में देख सकते हैं। बसाल्ट गहरे रंग का होता है। गहरे रंग का होना भस्मीय शिला की एक पहचान सी मानी जा सकती है। ग्रेनाइट या उसी का बन्धु रिओलाइट अम्लीय शिला हैं जिनका रंग हलका पाया जाता है अतएव रङ्ग का हल्कापन अम्लीय शिला का एक लक्षण हो सकता है। पृथ्वी के गर्भ में द्रव पदार्थों के रवे धीरे-धीरे ठंडे होने से बड़ा रूप बना पाते हैं, इसलिए बड़े रवे के रूप से उसके धरातल के नीचे बने होने का प्रमाण मिल सकता है। ग्रेनाइट में रवे स्पष्ट और बड़े-बड़े दिखाई पड़ते हैं किन्तु अम्लीयवंश की दूसरी शिला रिओलाइट छोटे रवों की होती है। यह लघुमणिभ या छोटे रवों का रूप उसे धरातल पर द्रव के पिघले रूप में पहुँच जाने के बाद थोड़े समय में ही ठंडे होने से जमने का रहस्य प्रकट करता है। बसाल्ट के रवे जहाँ छोटे होते हैं वहाँ उसी वंश की अर्थात् 'गब्रो' नामक भस्मीय शिला दीर्घमणिभ अर्थात् बड़े रवों वाली होती है। हम इसे कहने में कुछ भी अड़चन नहीं समझ सकते कि एक वंशीय शिला का 'गब्रो' रूप अवश्य ही कहीं पृथ्वी के गर्भ में बना होगा किन्तु बसाल्ट धरातल पर ही बना होगा। ऐंडेसाइट धरातल पर आकर जमने वाली शिला है इसलिए उसके रवे छोटे मिलेंगे। उसी मध्यवंश की 'डियोराइट' शिला अपने बड़े रवों के कारण

अपना जन्म-स्थान अर्थात् जमकर आधुनिक रूप रखने का स्थान पृथ्वी का गर्भ बतलाती जान पड़ती हैं। यह आग्नेय शिलाओं के ओषिदों के भेद और रवों की भिन्नता से भिन्न-भिन्न रूप हमें देखने को मिलते हैं। इनके नाम हम भूलकर भी इन रूपों का कारण तो मस्तिष्क में रख ही सकते हैं।

शिलाओं के निर्मायक पृथक-पृथक रूप के एक-रस (होमोजिनियस) पदार्थों को खनिज पदार्थ कहा जाता है। इस दृष्टि से सब प्रकार की शिलाओं के सभी एकरस पदार्थों को खनिज पदार्थ कहने से यह परिभाषा भूगर्भ विज्ञान द्वारा एक विशेष अर्थ की ओर अधिक व्यापक है। खनिज कहने से साधारणतया उस वस्तु का बोध होता है जो हमारी आँख से ओझल दूर गहराई की तह में मिलने वाली वस्तु होती है किन्तु भूगर्भ विज्ञान ऊपर लिखे अनुसार सभी एकरस पदार्थों को खनिज कहता है जो शिलाओं में पाए जा सकते हैं। शिलाएँ भी वे सब स्थूल खंड हैं जो मिट्टी, धूल बालू से लेकर बालू के पत्थर, चिकनी मिट्टी, पत्थर कोयला, चूने का पत्थर, ग्रेनाइट आदि रूप में ज्ञात होती हैं। हम यहाँ पर कुछ मुख्य खनिजों का अत्यन्त सरल परिचय देते हैं जो आग्नेय शिलाओं में प्रधान रूप से मिल सकती है। इनके परिवर्तित या टूटे-फूटे रूप से जो अन्य वस्तुएँ बनीं उनकी विशेष चर्चा नहीं की जायगी।

क्वार्ट्ज

किसी छपहल शीशे (षट्भुज ठोस घनाकार) में नीचे ऊपर दोनों ओर षट्भुजी बुर्ज लगी आकृति के इसके रवे होते हैं जो पूर्ण रूप में विकसित होने पर स्पष्ट दिखाई पड़ सकते हैं। इसका रंग दूधिया होता है। कभी-कभी कुछ विकारों के मेल से इसका रंग भूरा, गुलाबी या बैंजनी हो सकता है। कठोरता में शीशे से भी उच्च कोटि का होता है। इसके खरोच का चिन्ह शीशे पर डाला जा सकता है। ग्रेनाइट या रियोलाइट शिलाओं या अन्य अम्लीय शिलाओं में शैलम का ओषित ६५ प्रतिशत से ऊपर होने से सभी ओषिद धातु के ओषिद में संयुक्त नहीं हो सकते तो वे स्वतन्त्र रूप में अपना अस्तित्व बनाकर रवा निर्माण कर लेते हैं। बड़े दानों के रूप में इसका एक रूप हम रवा के घिस जाने पर बालू रूप में देखते हैं जो कान और पूछ कटे कुत्ते की तरह अपने रवे के कोरों को खो चुका होता है। अन्य रेणुओं में भी इसी का छोटा रूप होता है।

फेल्सपर

यह शैलम धातु का ही यौगिक है जिसमें शैलम (सिलिकन) के ओषिद के साथ अल्यूमीनियम और पोटैशियम, सोडियम, या काल्शियम धातुओं के ओषिद संयुक्त होते हैं। इस खनिज का रंग श्वेत या गुलाबी हो सकता है। इसके यथेष्ट बड़े रवे ग्रेनाइट में देखने को मिल सकते हैं। यदि ग्रेनाइट का कोई टुकड़ा चूर्ण कर लिया जाय तो उसके टुकड़ों को छांटकर अलग करने से फेल्सपर के रवे अपनी पहचान चाकू की नोक से जोर से रगड़ने पर निशान बनने देकर करा सकते हैं। क्वार्ट्ज के रवों पर चाकू की नोक को कितना भी रगड़ें, चिन्ह नहीं बन सकता। क्वार्ट्ज उससे कठोर होता है। इसलिए अपने ऊपर चिन्ह नहीं बनने दे सकता किन्तु फेल्सपर उतने दर्जे की कठोरता न दिखाकर कुछ चिन्ह बन जाने देता है।

भूरा और श्वेत अभ्रक या अबरख (माइका)

भूरे अभ्रक का रंग गहरा, कभी काला भी होता है। श्वेत अभ्रक की परत निकाल निकाल कर हम होली के रंग के साथ खेल करते हैं। यह छोटे-छोटे चमकीले टुकड़े रूप में हमें दिखाई पड़ सकता है। भूरे अभ्रक की जगह श्वेत अभ्रक ही हमारे देखने में अधिक आता है। अब यदि

आप चाकू की नोक लेकर इसके टुकड़े पर रगड़ें तो यह सरसर कटता जायगा। आप एक ताँबे का पैसा ले लीजिए। उस पर क्वार्ट्ज फेल्सपर और अभ्रक तीनों से बारी-बारी से खरोच डालिए। क्वार्ट्ज और फेल्सपर से तो ताँबे पर खरोच पड़ जायगी परन्तु अभ्रक उस पर खरोच बना सकने में असमर्थ होगा। इसलिए स्पष्ट होगा कि अभ्रक क्वार्ट्ज और फेल्सपर से तो कठोरता में कम होता ही है, ताँबे से भी कठोरता में नीचे होता है। कठोरता की ऐसी पहचानों से कितने ही पदार्थ एक दूसरे पर खरोच बना सकने में समर्थ या असमर्थ होने पर आपेक्षित कठोरता प्रकट कर सकते हैं। हीरा या उससे कुछ नीचे की कक्षा के कठोर पदार्थ सेफायर और टोपेज क्वार्ट्ज से भी अधिक कठोर होते हैं।

फेरो-मेगनीसियन

फेरो का अर्थ लौह है। इस वर्ग के खनिज वर्ग शैलम् (सिलिकन) के साथ लोहे और मेगनीसियम के ओषिद के संयोग से बने होते हैं। इसमें अनेक प्रकार के योगिकों के रूप होते हैं। गहरा हरा या काला रंग मात्र ही इसका मुख्य चिन्ह कहा जा सकता है। काला अभ्रक इसी वर्ग का होता है। काले या गहरे रंग की अधिकांश वस्तुएँ हमें जो साधारण शिलाओं में मिल सकती हैं उन्हें हम स्थूल रूप से फेरो-मेगनीसियन श्रेणी का मान सकते हैं। धातु प्रधान अर्थात् भस्मीय शिलाओं में हम लोहे और मेगनीसियम के ओषिदों के कारण ही गहरा रंग पाते हैं। बसाल्ट या गब्रों के काले या गहरे रंग का यही कारण है।

चिकनी मिट्टी (क्ले)

अल्यूमीनियम धातु का शैलेत अर्थात् अल्यूमीनिम धातु के ओषिद के साथ शैलम धातु के ओषिद के संयोग में उदजन (हाइड्रोजन) और थोड़ी मात्रा में लोहा और मैगनीसियम इसका निर्माण करते हैं। शुद्ध रूप में इसका रंग श्वेत या हल्का होता है। इसका मटमैला या दूसरा रंग होने का कारण लोहा के ओषिद या अन्य पदार्थों का मिश्रण है। यह बहुत नर्म होता है, शीघ्र ही चूर्ण बनाने के लिए उँगलियों के बीच दबाना ही यथेष्ट होता है। कावलिन इसी का रूप है जो चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने में मुख्य भाग लेता है।

खटिकेत (काल्साइट)

चूने का पत्थर खरिया आदि इसके ज्ञात रूप हैं। कालिसयम धातु के ओषित और शैलम के ओषिद के संयोग का यह फल है। यह नाखून या अभ्रक पर खरोच कर चिह्न बना सकता है किन्तु चाकू या शीशे का खरोच इस पर भली भाँति बन जाता है। चूने का पत्थर और संगमरमर का यही मुख्य निर्मायक पदार्थ हैं।

कृत्रिम शिलाएँ

शीशा

चूने का पत्थर तथा सोडियम कारबोनेट (सोडियम और कर्बन के ओषिदों का संयोग) इन दो धातुओं के ओषिदों को शैलम (सिलिकन) के ओषिद के साथ ऊँचे तापक्रम पर पिघला कर जमाने से शीशा बनाया जाता है। शीशा बनाने की विद्या बहुत ही प्राचीन काल से प्रचलित जान पड़ती है।

मिट्टी के बर्तन

मिट्टी के बर्तन में चिकनी मिट्टी का बर्तन पकाने पर लोहा और मेननीसियन के अंश के कारण मटमैले लाल रंग का हो जाता है।

ईंट

ईंटे में बालू और चिकनी मिट्टी मिलाते हैं। उसमें भी फेरो मेगनीसियम का अंश लाल रंग उत्पन्न करता है।

पोर्सलीन या चीनी मिट्टी के बर्तन

चीन देश में कावलिंग या कावलिन नाम की शुद्ध चिकनी मिट्टी पाई जाती है। उसी से ऊँचे

आँच पर सफेद बर्तन तैयार करने की विद्या आज के हजार वर्ष पहले ही चीनियों ने ज्ञात की थी। इसकी नकल बहुत दिनों बाद अन्य देशों ने की। इसमें कई तरह की चिकतनी मिट्टियाँ उपयोग में आती हैं। उनमें कावलिन मुख्य होती है। हाइड्रोजन और अल्यूमीनियम के साथ सिलिका के संयोग से कावलिन बनी होती है शुद्ध रूप के श्वेत कावलिन में सिलिका और फेल्सपर का बारीक बुरादा मिश्रित कर बहुत ऊँचे तापक्रम पर आंशिक रूप में पिघला कर जमाने से सुन्दर श्वेत रंग का बर्तन बनता है।

सीमेंट

चूने के पत्थर और चिकनी मिट्टी के मिश्रण को बड़े ही ऊँचे तापक्रम पर आंशिक रूप में पिघला कर यौगिक बना लेते हैं। फिर उसे चूर्ण कर डालते हैं। वही चूर्ण हमें सीमेंट रूप में मिलता है। उसमें पानी डालने से वह पत्थर की भाँति बन जाता है। कड़ा करने के लिए उसमें बालू और मिट्टी आदि भी मिला देते हैं।

गणितीय वाक्यांश

[पृष्ठ ४४ का शेष अंश]

105. Three deep.	तीन तीन करके, तीन तीन के हिसाब से।
106. True for all values.	समस्त मानों के लिये सत्य।
107. Two ways of dealing.	दो प्रकार का व्यवहार।
108. Universally true.	सर्वतः सत्य
109. Whatever be the value of n.	ग का मान चाहे कुछ भी हो।
II0. Whatever that number may be.	वह संख्या चाहे कुछ भी हो।
11I. Without actual division.	बिना वास्तविक भाजन के।
II2. Without any reference.	बिना प्रसंग के विचार के।
II3. Without assuming any formula.	बिना किसी सूत्र की सहायता के।
II4. With respect to each other.	एक दूसरे के प्रति।
II5. With the special meaning assigned.	निर्दिष्ट विशेष अर्थ के साथ।
116. Without using the formula.	बिना सूत्र के प्रयोग के।

भारतीय ऊन : एक ऐतिहासिक विवेचना

लेखक—श्री निर्मल कुमार श्रीवास्तव

पुरातन सभ्यताओं का अध्ययन कर मनुष्य के परिधान के संबंध में प्राचीन प्रयोगों की चर्चा करते हुए लेखक ने भारतीय ऊन का ऐतिहासिक विवेचन बड़े सुन्दर रूप से इस लेख में किया है। लेख अत्यंत उपयोगी तथा मनोरंजक है।

वस्त्रों का मुख्य कार्य, शरीर की, शीत, वर्षा, तथा गर्मी आदि से रक्षा करना है। प्राग् ऐतिहासिक काल में वस्त्रों के लिए, चर्म (Skins) तथा पत्तियों का प्रयोग होता था। कुछ काल के उपरान्त रोयें (Furs) तथा वृक्षों की छाल भी वस्त्र रूप में प्रयोग की जाती थी। उदाहरण के लिये बाइबिल में ईभ (Eve) द्वारा अंजीर की पत्ती का वस्त्र रूप में प्रयोग उल्लेखनीय है। ऋगवेद के अनुसार प्राचीन आर्य भी वस्त्रों के लिये, गाय, भेड़, बकरी, तथा हिरन के चर्म का प्रयोग करते थे। भेड़, बकरी आदि के चर्म का प्रयोग करते समय ही, मनुष्य को, ऊन का, भेड़ को गर्मी प्रदान करने वाला गुण दृष्टिगोचर हुआ। ऊन को वस्त्र रूप में प्रयोग करने के लिये, यही गुण, मनुष्य को प्रभावित कर सका होगा। यही कारण है कि मनुष्य द्वारा प्रयोग किये जाने वाले वस्त्रों के लिये, सबसे प्राचीनतम रेशा ऊन ही था। ऊन सभी प्राचीन सभ्यताओं को, यहां तक कि प्राचीनतम सिन्धु घाटी सभ्यता को भी ज्ञात था। आर्य साहित्य में भी रुई से पहले ऊन का उल्लेख मिलता है।

मार्शल[1] के अनुसार सिन्धु घाटी सभ्यता के प्राग् ऐतिहासिक मनुष्यों द्वारा पाँच सहस्र वर्ष ई० पू० में भी ऊनी तथा सूती वस्त्रों का प्रयोग होता था। मोहन जोदरों तथा हरप्पा से, अन्य घरेलू पशुओं की हड्डी-कंकाल के साथ साथ, भेड़ की हड्डी का कंकाल भी प्राप्त हुआ था। इस भेड़ की हड्डी कंकाल की प्राप्ति से ही यह अनुमान लगाया गया था कि उस युग में भी ऊन का प्रयोग होता था। गुलाटी तथा टरनर[2] ने मोहन जोदरों से प्राप्त चाँदी पात्र में चपके वस्त्र के टुकड़े की परीक्षा की थी। वह वस्त्र रुई का बना था तथा वह वर्तमान, निम्न श्रेणी की आरबोरियम (Arborium) प्रकार की रूई का था। मोहन जोदरो में अनेक तकली (Spindle) तथा तकली चक्र (Spindle-whorls) प्राप्त हुए थे। मैके[3] का कथन है कि प्राप्त तकली तथा तकली-चक्र, ऊन जैसा लचीला रेशा कातने के लिये हल्के तथा छोटे थे। परन्तु यह स्पष्ट प्रमाणित करते हैं कि रूई कताई का, घरेलू उद्योग के रूप में समुचित प्रचार था।

ऊन का प्रयोग सुमेरियनों की समकालीन सभ्यता को भी ज्ञात था। लाइडेकर[4] (Lydekkar) का विचार है कि सर्वप्रथम पालतू बनाये जाने वाले पशुओं में ओविस एरीज

*इस विवेचचना का मूल आधार ए० एन० गुलाटी रचित "लिट्रेचर आन इंडियन वूल : ए रिव्यू" है।

(Ovis Aries) भी एक था। इस पशु को स्विटजरलैंड के झील प्रदेशीय, प्रागऐतिहासिक निवासी पूर्व से लाये थे। यह पशु प्राचीन मिश्री स्मारकों (१४४६-१४२३ वर्ष ई० पूर्व) में भी प्रदर्शित है। इस पशु के अवशेष फेरोह के समय में नील वासियों द्वारा ममी के रूप में सुरक्षित कर रक्खे गये थे। फेरोह के युग में दो प्रकार की निश्चित पशु-जातियाँ ज्ञात थीं।

प्रोफेसर इवर्टस[५] (Everts) का कहना है कि प्लायोसीन युग (Pliocene Period) के प्रारम्भ में भेड़ गंगा व यमुना नदी के बीच के मैदान में चरती थीं। नारफा के जंगल की सतह में भेड़ के सींग का लगभग ५ लाख वर्ष पुराना टुकड़ा पाया गया है परन्तु भेड़ सात सहस्र वर्ष ई० पूर्व तक पालतू नहीं बनाई गई थी।

सिन्धु घाटी सभ्यता से लेकर वैदिक काल तक का समय बिल्कुल ही अंधकारमय है। वस्त्रों के इतिहास तथा मुख्यतया ऊनी वस्त्र के इतिहास का इतना बड़ा भाग शून्य ही है क्योंकि इस समय के खंडहर, अवशेष आदि कुछ भी प्राप्य नहीं हैं।

आर्य जाति का भारत आगमन लगभग २०००-१५०० वर्ष ई० पूर्व में हुआ था। उस समय आर्यों को रूई का प्रयोग ज्ञात न था। मोतीचन्द्र[६] के विचार से उन्हें ऊन कातने तथा ऊनी वस्त्र बुनने की कला का समुचित ज्ञान था जैसा कि इन शब्दों से स्पष्ट है—

"अविका" जिसका अर्थ भेड़ का ऊन होता है। "अवी" और "उर्नवती" जिसके माने ऊन का वाहक अथवा भेड़ होता है।

वेदों में गाँधार, सिन्धु तथा रावी घाटियों से ऊन का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद का "दुर्स" शब्द वर्तमान 'धुस्स' शब्द का ही प्राचीन रूप ज्ञात होता है। धुस्स साधारण मोटा कम्बल होता है। "मैत्रेय-संहिता" तथा "शतपथ ब्राह्मण" में "पान्डु" नाम का प्रयोग राजाओं द्वारा पहने जाने वाले श्वेत ऊनी वस्त्र के लिये किया गया है। "गोभिल गृहसूत्र" में 'अरूण' शब्द का प्रयोग ऊन के लिये किया गया है। ऋगवेद में भी करघे तथा ताने बाने (Loom, warp and weft) का उल्लेख है। ऋगवेद में जुलाहों तथा गड़रियों के देवता "पुशान" के ऊनी वस्त्र के लिये "कम्बल" शब्द का प्रयोग किया गया है।

रामायण, महाभारत, दोनों में ही पंजाब व गाँधार से प्राप्त ऊनी वस्त्रों का वर्णन मिलता है। भरत जी ने अपने पिता के मामाजी को भेंटरूप में अनेक कम्बल प्रदान किये थे। गर्म तथा महीन बुनावट (Texture) के उत्तम कोटि के शाल ज्ञात थे। ताजिकस्तान (कम्बोज), परिसिन्धु, चीन तथा अन्य पहाड़ी जगहों से आनेवाली व्यापारिक वस्तुओं में ऊन, पश्मीना, नमदा, तथा भेड़-बकरियों की खालें भी होती थीं। महाभारत के सभापर्व में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि पंजाब तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रदेश अपने ऊन तथा चर्म के लिये प्रसिद्ध थे।

लगभग आठ सौ वर्ष ई० पूर्व के, मनु के नियमों में बनियों को ऊनी धागों का बना पवित्र जनेऊ पहनने को कहा गया है। मनु के नियमों का मैक्समूलर कृत अनुवाद इस प्रकार है—"ब्राह्मण का पवित्र डोरा (जनेऊ) रुई का बना होगा, लपेटन (Twist) दाहिने ओर को होगा और तीन धागों का मिलकर होगा। क्षत्रिय का जनेऊ मूँज का तथा वैश्य का जनेऊ ऊनी धागे का बना होगा।"

मौर्य्यकाल में भी ऊनी वस्त्र और कम्बल आदि का प्रचलन था। मौर्य्यकालीन युग में प्रचलित ऊनी वस्त्रों का समुचित वर्णन कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में (३०० वर्ष ई० पूर्व) मिलता है। कौटिल्य का वर्णन इस प्रकार है:—

"कम्बल दस प्रकार के होते हैं:—

(१) कम्बल।

(२) कौचपक (चरवाहों द्वारा व्यवहृत कम्बल)

(३) कुलमितिक (सर का वस्त्र)
(४) सौनीतिक (बैलों की पीठ का आवरण)
(५) तुरगस्त्राण (घोड़े की पीठ का आवरण)
(६) वर्णक (रंगीन कम्बल)
(७) तालिछक (बिछाने वाला कम्बल)
(८) वार्वण (कोट)
(९) परिस्तोम (बड़ा कम्बल)
(१०) सामन्त-भद्रक (हाथी की पीठ का आवरण)

इन कम्बलों में, पतले बालों का बना, मुलायम तथा भीगी सतह समान चिकना, ही सर्वोत्तम होता है। कम्बलों का रंग श्वेत, कमल-सदृश लाल या शुद्ध लाल होता है। ऊनी धागों से सिलाई द्वारा बनाये जाने पर कम्बल "खचित" कहलाते हैं। विभिन्न ऊनी रंगीन डोरों से बुने कम्बल "वनचित्र" होते हैं। ऊनी टुकड़ों से बने कम्बल "खण्ड सॉंघट्य' कहे जाते हैं। समान डोरों से बने काला कम्बल "तन्तु विछिन्न" होते हैं। आठ टुकड़ों से बना काला कम्बल "भिंगसी" कहा जाता है'। वर्षा-रक्षक (Rainproof) कम्बल "अपसरक" होता है। भिंगसी तथा अपसरक, नैपाल देश में बनाये जाते हैं।"

जंगली पशुओं के ऊन का प्रयोग भी मौर्य्यकाल में होता था। उसका वर्णन भी कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस प्रकार किया है। अग्रलिखित वस्तुएँ जंगली पशुओं के ऊन से बनाई जाती हैं :–

१. 'सम्पुटिक' (पायजामा)।
२. 'चातुरस्रिक' (आयताकार कम्बल)।
३. 'लम्बारा' (पर्दा या लपेटन)।
४. 'कलावॅंक' (लम्बारा समान, परन्तु मोटे धागे से बना)।
५. 'प्रवारक' (कलावंक की एक अन्य जाति)।
६. 'सत्तालिका' (कालीन)।"

विभिन्न देशों की बनी अनेक वस्तुओं के विषय में कौटिल्य कहता है कि—"बंग देश का वस्त्र 'दुकुल (Dukul) श्वेत, मुलायम तथा अति उत्तम होता है। पान्ड्य देश का बना वस्त्र काला तथा मुलायम होता है। सूर्य कुन्ड देश का ऊन भीगी दशा में बुना जाता है और 'चतुरस्र (uniform) या व्यामिश्रण (Mixed) बुनावट का होता है। वह सूर्य के समान लाल तथा मुलायम होता है।

मौर्यकाल से लेकर मुगल काल तक लगभग दो हजार वर्ष तक ऊनी वस्त्र-उद्योग में कोई प्रगति नहीं हुई थी। ऊनी शालों का प्रचलन बाबर के समय से ही हुआ था। एम० डाउवर्गनो[७], जो शाल व्यवसाय से सम्बन्धित थे, के अनुसार शाल के इतिहास का विवरण इस प्रकार है। मुगल राजे अपनी पगड़ियों पर जवाहिरातों का आभूषण 'जिघा' पहनते थे। जिघा का रूप बादाम के समान होता है इसके शिखर पर परों का एक गुच्छा होता है। एक अन्दीजनी" जुलाहे ने जिघा की प्रतिलिपि बाबर के रूमाल पर इतनी सुन्दरता से बनाई कि तत्पश्चात् सभी रूमालों तथा शालों पर इसका प्रचार हो गया। यह जुलाहे भारतवर्ष में लाये गये। जिघा आज तक कालीनों में प्रदर्शित किया जाता है। इसी विवरण में अनेक प्रकार के रेशमी तथा सोने के डोरों से विभिन्न प्रकार के फूल पत्ती चित्रित कर काढ़े गये शालों का वर्णन है। इस प्रकार से ज्ञात होता है कि ऊनी वस्त्रों पर, मुख्यतया शालों पर, रेशमी तथा सोने के डोरों से फूल पत्ती की चित्रकारी मुगल समय से प्रारम्भ हुई थी।

मुगल काल में यद्यपि सूती वस्त्र-उद्योग अपने गौरव के उच्चतम शिखर पर पहुँच गया था परन्तु उस समय भी उच्चकोटि के ऊनी वस्त्र यूरोप से ही आते थे। ब्राउन[८] भारतीय इतिहास में लिखता है कि मुगल काल में भारतवर्ष का मुख्य आयात चाँदी, सोना, सीसा, तथा ऊनी वस्त्रों का था। ऊनी वस्त्र यूरोप से (मुख्यतया फ्राँस से) आते थे।

मुगल काल से आगे फिर ऊनी वस्त्र उद्योग जहाँ-तहाँ ही रह गये तथा सूती-वस्त्र-उद्योग पूर्ण

विकसित हुआ है। भारतवर्ष में ऊन उन्नीसवीं शताब्दी तक हाथ द्वारा कात तथा बुनकर ही प्रयोग होता था। यूरोपीय निवासियों के आगमन के साथ-साथ ही इस देश में बस्त्र बनाने के नये पश्चिमी साधनों का आगमन भी हो गया।

उस समय से आज तक भारतीय ऊन उद्योग स्वदेशी अन्दोलन की सहायता तथा भारत सरकार की युद्ध कालीन मांगों पर ही निर्भर रहकर जीवित रह सका है। इन्हीं की सहायता से यह उद्योग विदेशी होड़ तथा आर्थिक चढ़ाव-उतार से भी टक्करें ले सका है। द्वितीय महायुद्ध से स्थिरता पाकर यह उद्योग भविष्य में और भी अधिक उन्नत होने का स्वप्न देख रहा है।

लेखक, डाक्टर ए० यन० दे, डो० यस-सी० (लन्दन); यस-सी० डी० (पेरिस स्टेट) का अत्यन्त आभारी है जिन्होंने लेखक को अनेक प्रकार से प्रोत्साहित किया। उनकी सहायता बिना कदाचित् यह लेख सम्भव भी न होता।

अवलोकित साहित्यः—

(१) मार्शल, (१९३१), मोहन-जोदरों एन्ड इन्डस सिविलाइजेशन, लन्दन।

(२) गुलाटी एन्ड टरनर, (१९२९), जरनल, टेक्सटाइल इन्स्टीट्यूट मैनचेस्टर।

(३) मैके, (१९३५), इन्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ १३८, लोवेट डिक्सन एन्ड थाम्पसन लिमिटेड, लन्दन।

(४) लाइडेकर (१९१२) दि शीप एन्ड इट्स कजिन्स, एलेन एन्ड अनविन, लन्दन।

(५) इवर्ट्स, जे० सी०, (१९२४), जर्नल टेक्सटाइल इंस्टीट्यूट।

(६) मोतीचन्द्र, (१९३९), भारतीय विद्या, खन्ड (१)

(७) एम० डाउवर्गनो, लारेन्स (१८९६), दि वैली आफ काश्मीर, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

(८) ब्राउन, सर रिचर्ड, दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया (१९३७) केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, खन्ड ४, ३३७।

शिशुओं के कृत्रिम आहार

लेखक—डा० वसन्त कुमार सिंह

शिशु के पोषण के लिए माता के दूध के स्थान पर पशुओं के दूध का उपयोग आज एक दैनिक आवश्यकता हो गई है। उसका वैज्ञानिक प्रयोग किस प्रकार सम्भावित हानियों से बचा सकता है, उसका विवेचन बड़े सुन्दर रूप से इस लेख में किया गया है।

हमारे इस लेख का लक्ष्य शिशुओं के कृत्रिम आहार की प्रचलित व्यवस्थाओं के तथ्यों एवं उनकी व्यावहारिकता पर संक्षेप में ध्यान-केन्द्रीभूत करना है, जो अन्य लेखकों द्वारा अधिक विस्तार और सूक्ष्मता से प्रतिपादित हो चुकी हैं।

शिशु-स्तन-पान की वाञ्छनीयता नवीन अन्वेषण नहीं है। हाल तक इसकी स्थानापन्न वस्तुयें इस प्रकार सङ्कटपूर्ण थीं कि उनका कम व्यवहार था और उनके स्थान पर दुग्ध-पान कराने वाली उपमाता (Wet-nurse) के मानवीय दूध ही सदैव प्रयुक्त होते थे। ताजे गो-दुग्ध के कीटाणु सम्बन्धी महत्व का पूर्ण ज्ञान न होना ही शायद इसका कारण था।

इधर निकट काल में मानवीय-दुग्ध को त्यक्त कर अन्य साधनों से शिशुपान कराना प्रमुखतः दो रूपों में हुआ है:—

(१) अन्य पशुओं के दूध व्यवहृत होना :— विशेषतः गो-दुग्ध, यद्यपि बकरी, गदही, तथा घोड़ी के दूध भी इस हेतु उपयोग में लाये गये हैं। सामान्य रूप से दूध दुहने के बाद उसे अपक्व या रूपान्तरित (modify) करके शिशुओं के स्तन में मुँह लगाकर पीने की प्रथा भी ख्याति पा चुकी है। पेरिस में यह प्रचलन गत शताब्दी के अन्त तक था। ब्रेनरमॅन के कथनानुसार आजकल कुछ देशों में बकरी के स्तन में मुँह लगाकर शिशु-पान कराया जाता है। इसका उपयोग वहाँ के स्थानीय प्रचलन के दृष्टिकोण से ही महत्वपूर्ण माना जाता है, न कि औषधि-विज्ञान से प्रेरित होकर।

(२) दुग्ध-स्थानापन्न पदार्थों का व्यवहार (The use of milk substitutes)—दूध के अभाव के कारण ही त कुछ वर्षों से दुग्ध-स्थानापन्न पदार्थों का व्यवहार होने लगा है। दूध के प्रति सुग्राहक (Sensitive) शिशुओं के लिए वह बहुत ही लाभदायक है।

दूध में प्रोभूजिन, शर्करा पदार्थ और वसा को जिस अनुपात में हम पाते हैं, उसी अनुपात में विभिन्न पदार्थों द्वारा (जैसे सोयाबीन, जैतून का तेल और स्टार्च के मिश्रण से तैयार किये हुये दूध से) शिशुओं का पालन-पोषण सफलता पूर्वक किया जा सकता है, परन्तु इसके आवश्यक मौलिक अंशों (essential constituents) का प्रचूषण (absorption) कहाँ तक होता है इसमें चिकित्सकों को सन्देह है। इसलिए जब तक इसकी नितान्त आवश्यकता नहीं हो जाती है तब तक इसका व्यवहार नहीं किया जाता है।

वर्त्तमान काल में कृत्रिम आहार द्वारा शिशुपान कराने की जितनी भी विधियाँ उपलब्ध हैं उनमें गो-दुग्ध का प्रयोग सबसे अधिक है। साथ ही

साथ यदि हम यह जानना चाहें कि ऐसा करने से शिशुओं को कहाँ तक लाभ पहुँचाया जा सकता है तो इसके लिए हमें सर्वप्रथम शिशुओं की अन्न-प्रणाली पर ध्यान देना होगा, और द्वितीय यह भी स्मरण रखना पड़ेगा कि किस अंश में गो-दुग्ध शिशुओं के स्वाभाविक आहार से विभिन्न है।

शिशुओं की अन्न-प्रणाली

नवजात शिशुओं में प्रचूसी (Absorptive) और उदासर्जक (Secretory) अपिस्तर Epi theliun) आधार-उति (Supporting tissues) की अपेक्षा अधिक रहते हैं। गर्भस्थ जीवन के अन्तिम महीनों में क्लोमिक एमाइलेज (Pancreatic amylase) को छोड़कर साधारण भोजन के लिये सभी विकर (Enzymes) पर्याप्त होते हैं।

क्लोमिक एमाइलेज नवजात शिशु में भी कुछ महीनो तक नहीं रहते। गर्भस्थ शिशु में आमाशयिक हाइड्रोक्लोरिक एसिड (Gastric Hydrochloric Acid) बहुत रहते हैं, परन्तु जन्म के बाद छः महीने तक इसकी मात्रा बहुत कम रहती है। अतः नवजात शिशु के आँत की बनावट पर ध्यान देने से पता चलता है कि ये सभी तरह के साधारण भोजनों को पचाने और प्रचूसने (Absorb) में समर्थ हो सकते हैं। इस समय आमाशयिक अम्ल (Gastric Acidity) की मात्रा कम रहती है और संयुक्त शर्करा पदार्थ (Complex Carbohydrate) तुरन्त व्यवहार में नहीं लाये जा सकते। परन्तु प्रथम वर्ष के उत्तरार्ध में युवा और नवजात शिशु की अन्न-प्रणाली में कोई विशेष अन्तर नहीं होता।

मानवीय तथा गो-दुग्ध की तुलना

	वसा (प्रतिशत)	लेक्टोज (प्रतिशत)	पूर्ण प्रोभूजिन (प्रतिशत)	लेक्टअल्वूमीन (प्रतिशत)	केसीन (प्रतिशत)	खनिज (प्रतिशत)
मानव	४.०	७.०	१.२५	०.७५	०.१	०.२५
गाय	४.०	४.५	३.५	०.५	३.०	०.७५

उपर्युक्त सूची में मानवीय तथा गो-दुग्ध के बीच जो अन्तर उपस्थित किया गया है, वास्तव में उससे कहीं अधिक अन्तर इन दोनों के बीच पाया जाता है। और ऐसा होने का कारण अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है। यहाँ तक कि इन दोनों दूधों में पाये जाने वाले समान रसायनिक सत्व भी एक से उपयोगी सिद्ध नहीं हो सके हैं। अतएव हम इन दुग्धों के विभिन्न पदार्थों पर पृथक् पृथक् विचार करें।

(१) *प्रोभूजिन* (Protein) :—

गाय के दूध में कुल प्रोभूजिन की अधिक मात्रा के अतिरिक्त केसीन की बहुलता को भी हमें ध्यान में रखना पड़ेगा। विभिन्न जाति के दुग्धों में पाये जाने वाले लेक्ट अल्वूमिन के संयोजन (Composition) में विभिन्नता पायी जाती है; परन्तु अभी तक कोई ऐसा निर्णयात्मक प्रमाण नहीं मिला है जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि गो-दुग्ध का लेक्ट अल्वूमिन शिशुओं के लिये अनुपयुक्त है। लॅक्ट अल्वूमिन गर्म करने पर जम जाता है परन्तु आमाशय में यह नहीं फटता। केसीन का संयोजन (Composition) दोनों दुग्धों में एक ही सा रहता है, परन्तु इनके व्यवहार के बीच बहुत बड़ा भेद तब उत्पन्न होता है जब कि वे शिशुओं के आमाशय में प्रवेश करते हैं। दोनों

प्रकार के दूध आमाशय में आमाशयिक रस के संयोग से फट जाते हैं। मानवीय स्तन-पान के बाद जो दूध शिशुओं के आमाशय में जाता है वह बहुत मुलायम फटन का रूप धारण कर लेता है, और उसके पानी से अलग किये जाने के उपयुक्त वह नहीं रह जाता। परन्तु अपक्व गो-दुग्ध का प्रभाव कुछ और ही होता है, वह आमाशय में प्रवेश कर ठोस भोजन के रूप में परिणत हो जाता है। सर्वप्रथम वह फटन का रूप धारण करता है। और इसमें एक साथ पिचक जाने की विलक्षणता पायी जाती है। कुछ ही मिनट के अन्दर ये फटन एक दूसरे से मिलकर एकत्रित हो जाते हैं और इस रूप में क्रमबद्ध होने के कारण अखरोट के आकार के बन जाते हैं। तब इनमें विकरों (Enzymes) का प्रवेश दुष्कर हो जाता है और ये इतने बड़े हो जाते हैं कि न तो ये अंत्र की ओर जा सकते हैं और न वमन के साथ बाहर ही आ सकते हैं।

वास्तव में गो-दुग्ध को देखने से ऐसा मालूम होता है कि मानो वह बछड़ों को प्रारम्भ से ही रुखड़ा तथा ठोस भोजन के लिए अभ्यस्त बनाने के उद्देश्य से ऐसा बनाया गया हो। समय पाकर एकत्रित प्रोभूजिन सिकुड़ जाते हैं, परन्तु उसके ऊपरी भाग ही पाचन के योग्य होते हैं, क्योंकि इतने घने आकार में विकर (Enzymes) प्रवेश करने से असमर्थ रहते हैं। इसी स्वभाव के कारण अपक्व गो-दुग्ध पाचन-प्रणाली में गड़बड़ी का प्रबल कारण बन जाता है, परन्तु गो-दुग्ध के फटन के आकार को छोटा बना देने से इसका परिपाचन (Assimilation) भी मानवीय दुग्ध के सदृश ही होता है। परन्तु मानवीय दुग्ध की अपेक्षा इसकी आवश्यकता कुछ अधिक होती है।

इसी कारणवश वह योजना जो गो-दुग्ध के प्रोभूजिन को दो प्रतिशत या उससे भी कम करके मानवीय बनाने का प्रयत्न करती है, अपेक्षाकृत उन दुग्ध रूपान्तरित रीतियों से, जिनमें प्रोभूजिन की मात्रा अधिक रहती है, कम सफल सिद्ध हुई है।

२—*वसा* :—

मानवीय और गो-दुग्ध दोनों में सबसे अस्थायी पदार्थ वसा है। किसी किसी दूध में यह ५ प्रतिशत या उससे भी अधिक रहता है, परन्तु कुछ दूधों में इसकी मात्रा बहुत ही कम रहती है। गो-दुग्ध में मानवीय-दुग्ध से पामिटीन (Palmitin) और स्टीयरिन (Stearin) अधिक और ओलीन (Olien) कम पाये जाते हैं। इसमें उत्पन्न वसाम्ल (Volatile Fatty acids) की मात्रा भी अधिक है, जिससे [कि अन्न-प्रणाली में गड़बड़ी होने की सम्भावना] रहती है। साथ ही मानवीय-दुग्ध की अपेक्षा गो-दुग्ध खाने के बाद, आमाशय देर से खाली होता है तथा यह मुख्यतः इस दूध की वसा पर निर्भर करता है।

उपर्युक्त जितने भी अन्तर उपस्थित किए गए हैं उनमें से कोई भी इस निर्विवाद सत्य की व्याख्या पूर्ण रूप से नहीं कर पाये हैं कि शिशुओं के लिए गो-दुग्ध की वसा का उपयोग करना बहुत ही कठिन है। खिरसा (Colostrum) में वसा का कम मात्रा में पाया जाना यह सूचित करता है कि नवजात शिशुओं को वसा की आवश्यकता कम होती है। हॉल्ट (Holt) महोदय के अनुसार जन्मोपरान्त दो दिन तक खिरसा का प्रतिशत संयोजन (Percentage Composition) निम्नांकित प्रकार का होता है।

खिरसा का प्रतिशत संयोजन

प्रोभूजिन	वसा	लॅक्टोन	क्षार ash	जल
८.६	२.३	३.२	०.३	८५.६

३. *शर्करा पदार्थ* :—

यह नवजात शिशुओं के लिए आवश्यक है। इसकी मात्रा गो-दुग्ध की अपेक्षा मानवीय दुग्ध में बहुत ही अधिक है। शर्करा पदार्थों में डेक्सट्रोज

और सुक्रोज Dextrose and Sucrose भी शिशुओं के लिए उतना ही लाभदायक है जितना कि लॅक्टोज। अधिक से अधिक प्रतिदिन एक शिशु सवा सेर (40 oz) माँ का दूध पी सकता है। सवा सेर (40 oz) दूध में डेढ़ छटाँक (3 oz) चीनी पाई जाती है। अतः कृत्रिम आहार में प्रतिदिन डेढ़ छटाँक से अधिक चीनी कभी भी नहीं दी जा सकती है। कुछ शिशुओं को अधिक चीनी खिलायी जा सकती है, परन्तु अधिक चीनी देने से किण्वन प्रवाहिका (Fermentative Diarrhœa) होने का भय रहता है; लेकिन कहा जाता है कि सुक्रोज के बदले डेक्सट्रीन और माल्टोज मिला कर देने से प्रवाहिका होने का भय कम रहता है।

हम लोगों ने पहले देखा है कि नवजात शिशु के अंत्र में प्रथम ६ महीने तक एमाइलेज (Amylase) की कमी रहती है और इसलिए इस समय शिशुओं को स्टार्च नहीं दिया जाता है। लेकिन आजकल कुछ लोगों का कहना है कि तीसरे महीने से ही अगर स्टार्च दिया जाय तो इसके परिपाचन (assimilation) में कोई कठिनायी नहीं होती है, क्योंकि वमन की चिकित्सा करते समय शिशुओं को अन्न मिला हुआ दूध देने से कोई हानि नहीं होती है। वे इसे भी स्वीकार करते हैं कि स्टार्च में कुछ विशेष गुण हैं जो कि साधारण (Simple) शर्करा पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं। इसलिये जब केवल दूध से काम न चले तो उसमें स्टार्च मिला देने से बहुत ही लाभ होता है।

४. *खनिज पदार्थ* (Minerals):—

अपक्व गाय के दूध में लौह छोड़कर सभी खनिज पदार्थ मानवीय दूध से कहीं अधिक परिमाण में पाये जाते हैं। किन्तु इसकी कोई विशेष प्रधानता नहीं है, क्योंकि आवश्यकता से अधिक पदार्थ शीघ्र ही स्राव द्वारा (Excretion) शरीर से बाहर निकल जाते ह। दूध में पानी मिलाने से चूर्णातु (Calcium) की मात्रा कम जा सकती है, परन्तु लौह की मात्रा और भी घट जाती है। बाजार में बहुत से परिवर्तित दूध (modified milk) मिलते हैं जिनमें आवश्यकतानुसार लौह भी मिला रहता है। फिर भी कृत्रिम पान करने वाले सभी शिशुओं में लौह की कमी की सम्भावना रहती है।

५. *विटामिन* :—

कहा जाता है कि गौ तथा मानवीय दोनों दुग्धों में विटामिन 'बी' पर्याप्त रूप में पाये जाते हैं। लेकिन विटामिन 'ए', 'सी', और 'डी' के लिए यह सत्य नहीं है। विटामिन 'सी' की मात्रा अस्थायी है, क्योंकि यह ऋतु, प्रोभूजिन-परिवर्तन क्रिया (Protein modifying process) आदि पर निर्भर करता है। विटामिन 'ए' और 'डी' का भी कोई ठीक नहीं। ये भी प्रायः अपर्याप्त ही रहते हैं। अतएव कुछ महीनों तक शिशुओं को विटामिन 'ए', 'सी' और 'डी' देना परम आवश्यक है।

व्यावहारिक उपयोग

कृत्रिम आहार के इस लेख का अभिप्राय गो-दुग्ध को इस प्रकार रूपान्तरित करना है जिससे शिशु इस पर भी उसी तरह रह सकें जिस प्रकार स्तन-पान पर। इस दिशा में अभी तक पूर्ण सफलता तो नहीं मिली है, परन्तु बहुत से शिशु इस पर भी अच्छी तरह स्वस्थ रहते हैं। विलियम केडोगॅन के मतानुसार गो-दुग्ध को व्यवहार में लाने के लिए कृत्रिम पान के निम्नलिखित कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक है:—

(क) व्यवहार करने से पूर्व गो-दुग्ध के प्रोभूजिन को रूपान्तरित करना (Modify) आवश्यक है।

(ख) वसा की मात्रा कम रहनी चाहिए।

(ग) मानवीय शिशु में शर्करा पदार्थ की अधिक आवश्यकता होने के कारण उसे कृत्रिम पान में मिलाना आवश्यक है।

(घ) कृत्रिम रूप से भोजन पाने वाले के आहार में अलग से विटामिन 'ए' और 'डी' मिलाना चाहिए।

(क) प्रोभूजिन का परिवर्तन (Modification of Protein)—

गो-दुग्ध के फटन को मानवीय-दुग्ध के फटन के सदृश बनाने के बहुत से उपाय हैं। वे यों हैं:—

(१) जल-मिश्रण:—गो-दुग्ध को नवजात शिशु योग्य अच्छी तरह बनाने के लिए एक भाग दूध में ६ भाग पानी मिलाना पड़ेगा, लेकिन इससे इसकी शक्ति की मात्रा एकदम कम हो जाती है, परन्तु व्यवहार के लिए निम्नलिखित प्रकार से जल मिश्रण करने पर यथेष्ट फल प्राप्त हुआ है:—

प्रथम दो सप्ताह तक शिशुओं को गो-दुग्ध में बराबर बराबर जल मिला कर देना चाहिए। इसके बाद ४ महीने तक दूध की मात्रा पानी से द्विगुनी होनी चाहिए। और चार से ६ महीने तक के शिशुओं को तीन हिस्से दूध में एक हिस्सा पानी देना चाहिए। ६ महीने के बाद जलमिश्रित दूध की आवश्यकता विरले ही होती है। इस समय स्वस्थ शिशुओं को दूध बिना जल मिलाए ही दिया जा सकता है।

निम्नलिखित तालिका यह बतलाती है कि नौ महीने तक के शिशुओं को पिलाने के लिए गो-दुग्ध में कितना जल मिलाना चाहिए और इस तरह के बने मिश्रण का प्रतिशत संयोजन (Percentage Composition) कितने होंगे।

शिशु की अवस्था	दूध	जल	प्रोभूजिन (प्रतिशत)	वसा (प्रतिशत)	लक्टास (प्रतिशत)
० — २ सप्ताह	१	१	१.७५	२.००	२.२५
२ सप्ताह—४ मास	२	१	२.३०	२.७०	३.००
४ ··· —६ मास	३	१	२.६०	३.००	३.३६
६ ··· —६ मास	सम्पूर्ण	—	३.५०	४.००	४.५०

(२) उबालना—जो दूध जितना ही अधिक उबाला जाता है उस दूध के फटन का आकार-प्रकार और घनत्व (Density) उतना ही कम होता है, इससे लैक्ट-अल्बूमीन जम जाता है।

(३) क्षारीयकरण (Alkalination):—चूने का पानी साइट्रेट और बाईकार्बोनेट फटन के आकार-प्रकार को कम कर देते हैं।

(४) रेनिन द्वारा पहले से दूध फाड़ना या पेपटोन द्वारा पहले से पचाने की क्रिया सफल तो है, लेकिन इनमें अधिक परिश्रम लगता है।

(५) अम्लीकरण (Acidification) मट्ठे में तृणाणु प्रभाव (Bacterial Action) से रूपान्तरित प्रोभूजिन पाये जाते हैं। परन्तु इसमें वसा की मात्रा बहुत ही रहती है, इसलिए ये और प्रकार के अम्लीय दूध (Acid Milk) से कोई अधिक लाभदायक नहीं हैं। लेकिन इसका स्वाद अम्लीय दूध से अच्छा होता है।

(अ) औटे हुए गो-दुग्ध में लैक्टिक एसिड मिलाने से भी उतना ही अच्छा फल प्राप्त होता है जितना कि मट्ठा से। साथ ही यह बनाना भी आसान है। इसे तैयार करने का नियम है कि दस छटाँक (एक पिण्ट) दूध को औटने के बाद उसे ठंडा कर लेना चाहिए। ठंडा हो जाने के बाद उसमें लगभग ४५ बूँद (मिनिम) लैक्टिक एसिड (बी० पी०) धीरे-धीरे मिलाना चाहिए। इस क्रिया में १५ मिनट के लगभग समय लगाना अच्छा

है। अन्त में बहुत छोटे-छोटे फटन के दाने बन जाते हैं जो कि साधारण दूध पीने वाली शीशे के रबर के छिद्र द्वारा आ जा सकते हैं। दूध पिलाते समय ही यह तैयार करना चाहिए।

अम्लीय दूध प्रोभूजिन के छोटे-छोटे दाने के साथ-साथ गो-दुग्ध की उस शक्ति को भी कम करता है, जो आमाशयिक हायड्रोक्लोरिक एसिड को नाश करता है। यह गो-दुग्ध के अधिक खनिज पदार्थ के प्रत्यारोधन (Butter action) पर निर्भर करता है। अम्लीय दूध का परिपाचन (Assimilation) बिना पानी मिलाए भी अच्छी तरह होता है। परन्तु इसका स्वाद विशेष कर बड़े शिशुओं को अच्छा नहीं लगता। आजकल ये शुष्क (Dried) रूप में भी मिलते हैं।

(६) *शुष्कीकरण* (Drying)

कुछ देशों में कृत्रिम आहार के लिए शुष्क दुग्ध का व्यवहार प्रामाणिक रीति (Standard method) हो गई है। शुष्कीकरण से प्रोभूजिन के फटन इस प्रकार रूपान्तरित हो जाते हैं कि उनके परिपाचन में कोई कठिनाई नहीं होती हैं आधे-छटाँक (एक औंस) पानी में चाय के चम्मच से एक चम्मच (एक ड्राम) दूध मिलाने से पूर्ण दूध (Whole milk) बन जाता है।

(७) *उद्वाष्पन* (Evaporation)

कहा जाता है कि उद्वाष्पित दूध केवल ताजे दूध से ही बन सकता है, जिसमें बसा की मात्रा अधिक होती है। इसलिये यह विश्वसनीय और अच्छा है। परन्तु इस क्रिया से विटामिन 'सी' नष्ट हो जाता है। बन्द टिनों में ये दूध बहुत दिनों तक रह सकते हैं, किन्तु खोलने पर यदि इन्हें शीतल स्थान में न रखा जाय तो शीघ्र हीं ये दूषित हो जाते हैं। शुष्क दूध कोठरी के साधारण तापमान पर भी अच्छी तरह बहुत दिनों तक रहते हैं।

अतएव उद्वाष्पित दूध में ४५ प्रतिशत चीनी (Sucrose) रक्षक (Preservative) के रूप में मिला दी जाती है। इस क्रिया से टीन खोलने के बाद भी ये दूध बहुत दिनों तक रह जाते हैं। इस प्रकार के दूध को मीठा संघनित दूध (Sweetened Condensed milk) कहते हैं।

सादा संघनित दूध शिशुओं के लिए बहुत ही अच्छा है। इसके प्रोभूजिन के फटन मुलायम होते हैं। यथोचित पानी और थोड़ा चीनी मिलाने से आसानी से दूध तैयार हो जाता है। अमेरिका में उसका व्यवहार यथेष्ट रूप से होता है।

मीठे संघनित दूध में शर्करा पदार्थ की मात्रा बहुत ही अधिक रहती है इसलिए ये शिशुओं के संतुलित भोजन (Balanced Food) नहीं हो सकते। कभी-कभी वैयक्तिकीय अवस्थाओं (Pathological Conditions) में इसका व्यवहार किया जासकता है, परन्तु स्वस्थ शिशुओं के लिए यह एकदम अच्छा नहीं है।

(ख) वसा कम करना (Fat Reduction

साधारणतः शिशुओं को प्रथम कुछ सप्ताहों तक अल्प वसायुक्त दूध देना अच्छा है। यह पूर्ण दूध में पानी मिलाकर उसे अच्छी तरह रूपान्तरित करने से हो सकता है। कम वसा वाला शुष्क दूध भी इस हेतु व्यवहार में लाया जा सकता है। कितने शिशु पूर्ण मलाई युक्त शुष्क दुग्ध (Full cream dried milk) पर जन्म से ही रह सकते हैं, परन्तु बहुत से शिशुओं को खिला कर ऐसा देखा गया है कि यदि प्रथम ६ से ८ सप्ताह तक कम वसा दिआ जाय तो पाचन सम्बन्धी उपद्रव कम उत्पन्न होते हैं।

(ग) चीनी की मात्रा में वृद्धिः—

चाय के चम्मच से एक चम्मच चीनी डेढ़ छटाँक दूध में मिलाने से इसकी मात्रा लगभग ५ प्रतिशत बढ़ जाती है परन्तु ये माप एकदम ठीक नहीं हो सकते क्योंकि घरेलू चाय के चम्मच के आकार-प्रकार में थोड़ा बहुत भेद रहता ही है।

साथ-साथ सभी प्रकार की चीनी का घनत्व (density) एक सा नहीं होता, जिससे कि एक ही नाप के चम्मच में एक प्रचार की चीनी दूसरे प्रकार की चीनी से अधिक भारी हो सकती है। जल-दुग्ध-मिश्रण, जिसमें पानी और दूध बराबर-बराबर हिस्से में हैं अथवा दो भाग दूध में एक भाग जल है, उसमें एक चम्मच चीनी प्रत्येक डेढ़ छटाँक मिश्रण में देना चाहिए। इससे गाढ़े मिश्रणों में दो छटाँक में एक चम्मच की दर से चीनी मिलाना चाहिए। शिशु का मल यदि कड़ा होने लगे तो प्रत्येक भोजन के साथ एक चम्मच चीनी अधिक मिला देनी चाहिए। परन्तु यदि उसे पतला मल हो तो चीनी की मात्रा कुछ दिनों के लिए कम कर देनी चाहिए।

तरल पदार्थ एवं शक्ति की आवश्यकता
(Fluid and Energy Requirements)

शिशुओं में तरल पदार्थ संतुलित रखने के लिए ऐसा देखा गया है कि प्रतिपौंड शरीर-भार के लिए २ अथवा ३ औंस तरल पदार्थ की आवश्यकता प्रति दिन होती है। छोटे शिशुओं के लिए इनमें से बड़े अङ्क की आवश्यकता होती है और जैसे जैसे शिशु बढ़ता और भारी होता है वैसेही इसकी आवश्यकता भी घटती जाती है स्वस्थ शिशुओं के लिए २½ औंस प्रति पौंड शरीर भार की दर से तरल पदार्थ प्रतिदिन देना सवमान्य है। इस प्रकार पान कराने से शिशु के शरीर-भार में यथेष्ट वृद्धि होती है। २० कलोरी शक्ति (Energy) प्रति औंस मानवीय-दुग्ध में पायी जाती है, इसलिए कृत्रिम पान भी इस प्रकार ठीक करना चाहिए कि प्रति औंस २० केलोरी शक्ति रहे। इस प्रकार का भोजन प्रथम ६ महीनों के शिशुओं के लिए बहुत ही अच्छा है।

आहार की संख्या

ऐसा देखा गया है कि साधारणतः नवजात शिशु ३ औंस से अधिक दूध एक साथ व्यवहार नहीं कर सकते। इसलिए एक ७ पौंड के शिशु को, जिसे २½ औंस प्रति-पौंड की दर से दूध दिया जाता है, प्रतिदिन ६ बार से कम भोजन देना ठीक नहीं। उसे दिन में प्रति तीन घंटे और रात में अधिक समय पर भोजन दिया जा सकता है। कुछ सप्ताहों के बाद तीन घंटे के अन्तर को बढ़ा कर चार किया जा सकता है और आहार की संख्या प्रतिदिन ६ से घटाकर ५ कर दी जा सकती है।

दो अकाट्य नियम

(१) आवश्यकता से कहीं अधिक पतले दूध से शिशु-पान आरम्भ करना चाहिए।

(२) शिशु-आहार में कोई भी परिवर्तन क्रमिक होना चाहिए और वह भी तब जब इसकी नितान्त आवश्यकता समझी जाय।

मुद्रक—सरयू प्रसाद पांडेय, 'विशारद' नागरी प्रेस, दारागञ्ज, प्रयाग। प्रकाशक—विज्ञान परिषद, प्रयाग।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक—ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम०.एस-सी०; ।=)

२—चुम्बक—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; मू० ।।।=)

३—मनोरञ्जन रसायन—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—सूर्य सिद्धान्त—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—वैज्ञानिक परिमाण—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस सी०; १)

६—समीकरण मीमांसा—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स) गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।)

८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—इंटर-मीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—वर्षा और वनस्पति—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

११—विज्ञान का रजत जयन्ती अंक—विज्ञान परिषद् के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१२—व्यङ्ग-चित्रण—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री. रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ, सैकड़ों चित्र, सजिल्द २)

१३—मिट्टी के बरतन—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द, २)

१४—वायुमंडल—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर, सजिल्द २),

१५—लकड़ी पर पालिश—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का ब्योरेवार वर्णन। इससे कोई भी पालिश करना सीख सकता है—ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन-भटनागर, एम० ए०, २१८ पृष्ठ, ३१ चित्र, सजिल्द; २)

१६—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ५० चित्र; मालियों मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी, सजिल्द; २)

१७—जिल्दसाजी—क्रियात्मक और ब्योरेवार। इससे सभी जिल्दसाजी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० सजिल्द २)

१८—त्रिफला—ले० श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार, सजिल्द २ ।।=)

१९—तैरना—तैरना सीखने और डूबते हुए लोगों को बचाने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है। ले०—डाक्टर गोरखप्रसाद, पृष्ठ १०४ मूल्य १)

२०—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा।

पता—विज्ञान परिषद्, बैंक रोड, इलाहाबाद

में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६)

२१—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ—ले०—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२२—खाद्य और स्वास्थ्य—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२३—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफी के नवीनतम आविष्कारों का समावेश तथा फोटोग्राफरों के लिए अनेक नुसखे हैं। सजिल्द मूल्य ४)

२४—फल संरक्षण—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली, शरबत, अाचार चटनी सिरका आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक, २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२५—शिशु पालन—लेखक-श्री मुरलधर बढ़ाई बी० एस-सी०, प्रभाकर, गृहस्थ का उच्च आदर्श गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था का कम चित्रों द्वारा समझाया गया है। पृष्ठ संख्या १५० मूल्य ४)

२६—मधुमक्खी पालन—द्वितीय संस्करण ले०—पंडित दयाराम जुगड़ान; भूतपूर्व अध्यक्ष, ज्योलीकोट सरकारी मधुवटी; क्रियात्मक और ब्योरेवार; मधुमक्खी पालकों के लिए उपयोगी तो है ही, जन-साधारण को इस पुस्तक का अधिकांश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। ४००५ पृष्ठ; अनेक चित्र, और नकशे, एक रंगीन चित्र, सजिल्द; ३)

२७—घरेलू डाक्टर—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी० घोष, एम० बी० बी० एस०, डी० टी० एम०, प्रोफेसर डाक्टर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच०, डी०, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। २६० पृष्ठ, १५० चित्र, आकार बड़ा (विज्ञान के बराबर); सजिल्द, ४)

२८—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—द्वितीय संस्करण सम्पादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, आकार बड़ा विज्ञान के बराबर २५२ पृष्ठ २००० नुसखे, १०० चित्र; एक-एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। प्रत्येक गृहस्थ के लिए उपयोगी; मूल्य सजिल्द ३।।)

नवीन पुस्तकें

फसल के शत्रु—ले० श्री शंकर राव जोशी	...	...	३।।)
साँपों की दुनिया ले० श्री रामेश बेदी आयुर्वेदालंकार	...	...	४)
पोर्सलीन उद्योग—ले० श्री हीरेन्द्र नाथ बोस (का० वि० वि०)	...	...	।।।)
राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ ...	...	...	२)

पता—विज्ञान परिषद, बैंक रोड, इलाहाबाद।

Reg. No. 372

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उपसभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मंत्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ५) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश-शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ ७० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, विवरणों इत्यदि बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम

सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज प्रयाग, प्रकाशक—विज्ञान परिषद् बैंक रोड, इलाहाबाद

जून, १९५२
मिथुन २००९

भाग ७५
संख्या ३

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools,
Colleges and Libraries

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य तीन रुपये, एक संख्या का मूल्य पाँच आने।

विज्ञान

विज्ञान परिषद, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५

भाग ७५ | मिथुन २००९; जून १९५२ | संख्या ३

हिन्दी का नवनिर्माण : साहित्य का सर्वांगीण

प्राकृत भाषाओं की अनेक परम्पराओं से प्रभावित होता हुआ हिन्दी का प्रवाह आज इस अपने वर्त्तमान रूप को प्राप्त हुआ है। अमीर खुसरो के समय से फोर्टविलियम कॉलेज के लेखकों तक, और फिर दयानन्द, भारतेन्दु और द्विवेदी काल तक हिन्दी भाषा ने अपने स्थायी रूप को ग्रहण करने का सतत प्रयत्न किया। हमारे इस प्रान्तमें ब्रज, अवधी और बुन्देलखण्डी इन तीन धाराओं में प्रवाहित होकर अन्त में इसने खड़ी बोली की रूपरेखा का आश्रय लिया। आज से १०० वर्ष पूर्व यह भाषा काव्य-साहित्य का माध्यम थी। और कुछ ग्रन्थों की गद्य टीकाओं का भी यह माध्यम बनी। दार्शनिक, आयुर्वेदिक और धार्मिक ग्रन्थों की टीकायें भी इस भाषा में लिखी गयीं। यह टीकायें ब्रज भाषा के गद्य में थीं, और शिक्षा का माध्यम भाषा का यही रूप था। भारतेन्दु ने खड़ी बोली को ललित गद्य का माध्यम बनाया और अनेक जातियों के रूपक इसमें लिखे। दयानन्द ने इसे दार्शनिकों और गम्भीर विचारों का माध्यम बनाया, आगे चल कर द्विवेदी जी ने इसके सर्वांगीकरण का प्रयत्न किया, और उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थों के विविध विषयों के लिए इसे अपनाया—उन्होंने सम्पत्तिशास्त्र पर पुस्तक लिखी, और आलोचनाओं पर भी। उनकी "सरस्वती" में इतिहास, कला, आलोचना, विज्ञान, दर्शन, सभी अंगों पर लेख लिखे गये। विभिन्न विषयों के इन लेखकों ने हिन्दी साहित्य को सर्वांग-सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया। इसी समय समाचार पत्रों का युग आया। वेंकटेश्वर समाचार, आर्य मित्र विश्व-मित्र, प्रताप आदि कई पुराने पत्रों ने हिन्दी को जीवित रूप प्रदान किया। इन पत्र-पत्रिकाओं द्वारा यह जनता की भाषा बन गई, प्रति दिन की भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम बनीं। इस युग में ही भारत ने अपनी पराधीनता पर विजय प्राप्त करने के लिये राष्ट्रीयता के मार्ग का अनुसरण किया। इस ध्येय की प्राप्ति के लिये जो आन्दोलन हुआ, उसमें देश-व्यापी नेताओं ने हिन्दी भाषा को राष्ट्र की आकांक्षाओं का माध्यम बना दिया। राष्ट्र के आन्दोलन

के साथ हिन्दी की सम्पन्नता भी अग्रसर हुई। आज यह हमारे देश की राष्ट्रभाषा है—देश के बल, लक्ष्य, एवं उसकी समस्त चेतनाओं का यह प्रतीक है।

देश की प्रगति के साथ शिक्षा-जगत में भी क्रांति उत्पन्न हुई। पचास वर्ष पूर्व के हाई स्कूलों में प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर मैट्रिक तक की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था। ८-६ वर्ष के बालक को गणित, भूगोल, इतिहास और विज्ञान के विषयों को अंग्रेजी में ही पढ़ना और लिखना पड़ता था। यह युग विषयों को कण्ठाग्र कर लेने का था। विषय समझ में आवे या न आवे—अंग्रेजी की वाक्यावलियाँ याद कर ली जाती थीं। यह युग १६१५-१६ तक चला। इसके अनन्तर प्रारम्भिक कक्षाओं की पुस्तकें प्रान्तीय भाषाओं में, जिन्हें वर्नाक्यूलर कहा गया, आरम्भ की गईं। एंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों को खोलने का युग आया। १६२०-२५ तक के वर्षों में यह प्रयास किया गया कि हाई स्कूलों के शिक्षण का माध्यम प्रांतीय भाषायें बन जायँ। सन् १६३० के लगभग तक कई विषयों के लिये ऐसा होना सम्भव हो सका—भूगोल और इतिहास के लिये अवश्य, पर गणित और विज्ञान के क्षेत्र में तो अभी तीन-चार वर्ष हुए, कुछ सफलता प्राप्त हो सकी है। साहित्य का अभाव, अध्यापकों की ओर से कठिनाइयाँ, परीक्षकों की ओर से बाधायें, और अंग्रेजी का व्यापक महत्व हिन्दी के प्रसार में बराबर बाधा डालता रहा।

सभ्यता और संस्कृति के नये युग में हमारा पुराना शब्द-भण्डार समस्त भावनाओं और चेतनाओं को अभिव्यक्त करने में अपने को अशक्त पाने लगा। देश-विदेश से आई हुई सामग्री के साथ अनेक संज्ञायें और शब्द आये, जिनका प्रयोग यहाँ के भाषा-भाषी प्रचुरता से करने लगे। उदाहरणतः एक सायकिल के साथ ही ट्यूब टायर, ब्रेक, ह्वील, मडगार्ड, सीट, बेल, केरियर आदि दर्जनों शब्दों ने हमारी बोली में स्थान पा लिया। छापेखाने के खुलते ही वहाँ के कर्मचारी मशीन, फोरमेन, कम्पोजीटर, प्रूफरीडर, टाइप, लेड, केस करेक्शन आदि शब्दों का व्यवहार करने लगे। रेल और पोस्ट आफिस के सर्वप्रिय होने पर सैकड़ों विदेशी शब्द जनसाधारण को कण्ठाग्र हो गये। यही अवस्था अन्य कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियों की हुई। पुराने धन्धों का स्थान ज्यों-ज्यों नवीन पद्धति के धन्धों ने लिया, हमारी भाषा में पुराने शब्दों का परित्याग और नये विदेशी शब्दों का ग्रहण आरम्भ हो गया। राजकीय विदेशी सत्ता से मुक्ति पाने पर उनके साथ की आई हुई पदावली अभी बहुत काल तक हमारे देश में उनके सम्बन्ध की स्मृति दिलाती रहेगी।

हमारे देश से अन्य देशों के सांस्कृतिक सम्पर्कों का होना इस युग की कोई नई बात नहीं हैं। चीन अरब, पारस, मिश्र और युनान से इस देश का सदा से घनिष्ट संबंध रहा है। प्रत्येक युग में ही हमने इन देशों के साथ ज्ञान-विज्ञान, कला शिल्प और व्यापार का आदान-प्रदान किया। प्रत्येक शताब्दी में ही हमारे ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन और कथानकों के ग्रन्थ इन देशों के सम्पर्क में आये, और उन देशों के ग्रन्थों का अनुवाद भी यहाँ की अध्ययन अध्यापन की भाषा संस्कृत में हुआ। जयसिंह ने ज्योतिष के कई ग्रन्थों का अनुवाद कराया था, यह बात प्रसिद्ध ही है। फलतः आज समस्त भाषाओं में राशियों के नाम—मीन, मकर मेष, तुला, वृश्चिक, कन्या आदि एक ही अर्थ और भाव में पर्याय बने हुए हैं। आज से तीन शताब्दियों पूर्व तक हमारे पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद विदेशों और विदेशी शब्दों के अनुवाद हमारे साहित्य में थोड़े बहुत होते रहे।

गत दो शताब्दियों में विदेशों में विज्ञान इस प्रगति से बढ़ा और हमारा देश इस उत्कर्ष में भाग लेने से इतना वंचित रहा कि परस्पर का आदान-प्रदान बन्द हो गया। हम संसार की दौड़ में बहुत पिछड़ गये, और फलतः आज हमारी

भाषा अपने को शब्द-भण्डार के सम्बन्ध में दीन-हीन अनुभव कर रही है। हिन्दी में विज्ञान-विषयक पाठ्य पुस्तकों की रचना १९ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों से आरम्भ हो गई थी—पर उस समय दो चार पुस्तकें ही और वे भी अत्यन्त प्रारम्भिक, लिखी गईं। लेखकों ने इन पुस्तकों में अनेक नवीन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने अपनी स्थापना के कुछ वर्षों के अनन्तर ही वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द-कोष की ओर ध्यान दिया और अनेक प्रान्तीय सरकारों और विश्व विद्यालयों का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की चेष्टा की। फलतः इस सभा ने कुछ वैज्ञानिक-विषयों का एक शब्दकोष प्रकाशित किया। इस कोष में दर्शन, तर्कशास्त्र, शिक्षा, ज्योतिष, रसायन, गणित और भौतिक विज्ञान के शब्दों का चयन किया गया। इस शब्दकोष ने बहुत दिनों तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति की। कलकत्ता विश्व-विद्यालय और वंगीय साहित्य परिषद् ने आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्रराय के सहयोग से रसायन के शब्दों का संकलन प्रकाशित किया। बाद को मैट्रिक परीक्षा के उपयोग के लिये अन्य विषयों के छोटे पारिभाषिक संकलन भी प्रकाशित हुए। बंगाली में "प्रकृति" नामक एक पत्रिका भी वैज्ञानिक विषयों की प्रकाशित होने लगी, हिन्दी में तो १९१३ के लगभग से ही "विज्ञान" पत्रिका प्रकाशित हो रही है। मराठी में "मेकेनिकल इंजीनियर" नामक एक पत्रिका निकली। इन पत्रिकाओं में विशेष रूप से और अन्य साहित्यिक पत्रिकाओं में गौण रूप से वैज्ञानिक लेखों का प्रकाशन आरम्भ हुआ। अनेक विषयों के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग इन पत्रिकाओं में किया गया। भाषा को वैज्ञानिक विषयों के सांचे में ढालने का स्तुत्य प्रयास इन लेखों में हुआ। वैज्ञानिक साहित्य को अपनी भाषा में व्यक्त करने के लिये न केवल हमें पारिभाषिक शब्द ही चाहिए थे, हमें भाषा को वह रूप-रचना और वाक्य-विन्यास भी देना था, जो इन नए विषयों के सर्वथा उपयुक्त हों। रसायन, गणित, जीव विज्ञान आदि शास्त्रीय विषयों की अपनी अलग एक भाषा और भाषा-पद्धति होती है, जिसमें हमें अपनी देशीय भाषाओं को सम्पन्न करना था। हिन्दी, मराठी, और बंगाली तीनों भाषाओं ने इस ओर इस युग में अच्छा प्रयत्न किया। तामिल और तेलगू भाषा में भी कुछ साहित्य इन विषयों का रचा गया। पर उससे हिन्दी भाषा को अधिक योग नहीं प्राप्त हुआ।

जब किसी नये शास्त्रीय विषय पर हिन्दी में पुस्तक लिखी गयी उस पुस्तक के अन्त में उस विषय के पारिभाषिक शब्दों के देने की पद्धति प्रारंभ हुई। इस प्रथा ने लेखकों और पाठकों की बड़ी सहायता की। धीरे धीरे हमारे पास शब्द-समूहों की अच्छी सामग्री हो गयी। १५ वर्ष हुए, विज्ञान परिषद् प्रयाग ने अपने साहित्य में प्रयुक्त शब्दों का एक संग्रह प्रकाशित किया। अजमेर से श्री सुखसम्पत्तिराय भंडारी ने शब्दकोष कई बृहद् खंडों में छापा। मराठी साहित्य के प्रसिद्ध कोषकार श्रीदाते जी ने अभी हाल में एक वैज्ञानिक शब्दकोष पूना से प्रकाशित किया है जिसमें हिन्दी साहित्य की सभी सामग्री का समावेश कर लिया गया है। गत कुछ वर्षों के प्रयासों में दो उल्लेखनीय हैं,—एक तो श्री डा० रघुवीर का, जिन्होंने नागपुर से लघु और बृहद् दोनों प्रकार के कोष तैयार कर दिए हैं; और दूसरा भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग का, जिसके कोष के अभी दो खंड निकले हैं।

भारतीय भाषाओं की पारिभाषिक नीति का अभी स्थिरीकरण नहीं हो पाया है। इंटर यूनिवर्सिटी बोर्ड और सरकार की ओर से बनी हैदरी कमेटी ने पारिभाषिक शब्दों के सुझाव देश में उस समय रक्खे थे, जब हम हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों को समकक्षता देने के लिए उत्सुक थे। इधर यूनिवर्सिटीज कमीशन रिपोर्ट ने इस संबंध में अपने सुझाव रक्खे हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित

हुआ है। समस्त विषयों का शिक्षण इन विश्वविद्यालयों में जब हिन्दी में आरंभ हो जायगा, तब कुछ काल के पश्चात् हिन्दी पारिभाषिक शब्दों का स्थिरीकरण हो सकेगा अधिकांश पक्ष इस समय इस विचार का है कि अन्तरराष्ट्रीय विदेशी शब्दों को हिन्दी में यथासम्भव पचा लिया जाय। उद्देश्य यह है कि हिन्दी भाषियों का साहित्य अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिक जगत् के निकटतम रहने का प्रयास करे। हिन्दी भाषियों का भी बाहर के जगत् से इस प्रकार घनिष्ट सम्बन्ध रह सकेगा। अध्यापक, विद्यार्थी, लेखक और पाठक और व्यवसायी व्यक्तियों के अधीन यह बात है कि आगे के साहित्य की रूपरेखा किस प्रकार की हो। शब्दों का आदान-प्रदान भाषा का सहज स्वाभाविक गुण है, पर उससे भाषा का सौष्ठव बढ़ना चाहिए, न कि विकृत होना। इस बात का हमें सदा ध्यान रखना पड़ेगा। आज के दिन के अध्यापकों के सामने जो कठिनाइयाँ हैं, वे आगे आने वाले अध्यापकों के सामने इतनी अधिक नहीं होंगी।

वैज्ञानिक साहित्य में अस्थिरता है, और उसकी शब्दावली में एक प्रवाह है। प्रत्येक युग का विज्ञान अपने लिए नए शब्दों की रचना करता है। रेडियो और बेतार के तार ने नयी शब्दावली दी। इस परमाणु युग में एक नयी शब्दावली हमारे सामने आ रही है। दस पाँच बरस बाद फिर एक नया युग आवेगा, और तब नये, पारिभाषिक शब्द बनेंगे। यही अवस्था शिल्प के शब्दों की भी हैं। काव्य-युग, प्रस्तरयुग, और धातु युग के शब्द दूसरे थे। चीनी मिट्टी, काँच और सीमेण्ट के युग ने नए शास्त्र की सृष्टि की। प्लास्टिक के युग ने अब फिर एक विचित्रता आरंभ की है। हमारे देश के लिए यह सरल नहीं है कि सब उत्तरोत्तर युगों में अन्य देशों से समकक्षता बनाए रख सके। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी भाषा की क्षमता को आगे आने वाले युगों के उत्कर्ष के योग्य बना लें। साहित्य आज किसी छोटे से छोटे विषय की उपेक्षा नहीं कर सकता है। अणु से लेकर वृहद् ब्रह्मांड के सभी विषय मनुष्य के उत्कर्ष के लिए आवश्यक हैं। हमारे देश की समृद्धि भाषा की समृद्धि पर निर्भर है, और हमारा साहित्य देश के उत्कर्ष का प्रतीक है। इस युग में हम जीवन को साहित्य से पृथक् कर ही नहीं सकते। साहित्य के सर्वाङ्गीण नवनिर्माण में हम सब को भाग लेना है।

—*सत्य प्रकाश*

[आल इंडिया रेडियो के सौजन्य से]

पौधों का वर्गीकरण

श्री रमेश कुमार श्रीवास्तव, एम० एस-सी०

पौधों के वैज्ञानिक वर्गीकरण के प्रयत्नों और इतिहास का सुन्दर वर्णन इस लेख में किया गया है। पाठकों को लेख मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगा।

कदाचित् प्राणि जगत् का वनस्पति जगत् पर पूर्ण अवलम्बन ही ऐसा सत्य था जिसने मनुष्य जाति को पौधों के नाम रखने पर विवश किया। जब मनुष्य के ज्ञान की सीमा इतनी विस्तृत थी और उसे ज्ञानोपार्जन की भावना ने इतना उत्साही नहीं बना दिया था तब कुछ सरल नामों से ही मनुष्य और वनस्पतियों का सम्पर्क साधारणतया बना रहता था। प्रतिदिन के कार्य के लिए कुछ ही पेड़ पौधों के नाम जानना आवश्यक था।

परन्तु विज्ञान के प्रवेश के समय वनस्पति जगत् के विषय में मनुष्य का ज्ञान बहुत बढ़ चुका था। वैज्ञानिक समालोचनाओं ने प्रत्येक क्षेत्र को नियमित एवं व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया। वनस्पतिज्ञों ने भी पौधों के वर्गीकरण को निश्चित रूप देने के लिए कुछ मूल सिद्धान्त प्रस्तावित किए। सर्वप्रथम यह निश्चित किया गया कि पौधों के नाम द्विरूपी (Binomial) होंगे, अर्थात् प्रत्येक पौधे के नामकरण में गण तथा जाति दोनों ही का उल्लेख किया जावेगा। इसके पश्चात् यह भी निश्चित हुआ कि वर्गीकरण का आदर्श एक ऐसी रचना-क्रम को मान लिया जाय जिससे पौधों के विभिन्न वर्गों में न केवल प्राकृतिक या स्वाभाविक सम्बन्ध जान पड़े वरन् जिसे सरलता पूर्वक कार्यान्वित भी किया जा सके। किन्तु वर्तमान पौधों की संख्या ही वनस्पतिज्ञों के सभी प्रयत्नों को यथेष्ट समय तक परास्त करती रही। फिर वनस्पतिज्ञों को न तो आदिकाल के पौधों का ही पर्याप्त ज्ञान था न पौधों के विकास-क्रम का ही। ऐसी स्थिति में पौधों का वर्गीकरण एक कठिन प्रश्न बन गया। अंग्रेज वनस्पतिज्ञ जॉन-रे ने १७०४ में कहा कि, प्रकृति अपने को किसी नियमित प्रणाली का बन्दी नहीं बनने देगी।

वनस्पतिज्ञों ने वर्गीकरण का आधार कुछ प्रत्यक्ष तथा कुछ अप्रत्यक्ष प्रमाणों को बनाया। तुल्यात्मक बाह्य रूप, और रचना-क्रम, लुप्त पेड़ों की रचना तथा विकास-स्तर, पौधों का पृथ्वी पर वितरण तथा प्राकृतिक अवस्था में व्यवहार, कोषविज्ञान और उत्पत्ति विज्ञान, इत्यादि विषयों ने वर्गीकरण के प्रश्न को सुगम करने का प्रयत्न किया।

प्रारम्भ के वनस्पतिज्ञों के लिए बाह्य रूप ही वर्गीकरण का मुख्य आधार था। बाह्यरूप के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि अधिकांशतः पौधों में सरलता से विषमता की ओर विकास हुआ है। सरल रूप वाले पौधों को आदिकाल के पौधों के लगभग समान ही माना गया। हीकेल महोदय ने कहा कि पौधों का सीमित जीवन साधारणतया उनके इतिहास तथा विकास-क्रम की पुनरावृत्ति होता है। डाले महोदय ने बताया कि कोई भी जीवित वस्तु विकास-क्रम के उच्चस्तर से आदि

वस्तुओं की ओर नहीं लौटतो। यह भी निश्चित हो गया कि समान उत्पत्ति वाले अवयव समान कार्य वाले अवयवों से कहीं अधिक विकास सम्बन्ध (evolutionary relations) के सूचक हैं।

डार्विन महोदय के जन्म के पहिले ही वनस्पतिज्ञों के पास बाह्य रूप के आधार पर इतना अधिक ज्ञान एकत्र हो चुका था कि उसकी व्याख्या करना सरल कार्य नहीं था। पौधों को कुल, गण तथा जातियों में विभाजित किया जा चुका था और कुछ बड़े बड़े वर्ग भी बना लिए गए थे। परन्तु प्रधान तथा अप्रधान गुणों में कोई अन्तर नहीं माना जाता था। इस कारण वनस्पतिज्ञों ने भिन्न भिन्न गुणों को प्रधानता देकर उन्हें वर्गीकरण का आधार बना लिया था।

पौधों के रचना-क्रम ने भी वनस्पतिज्ञों को कई वर्षों तक एक निश्चित वर्गीकरण करने से रोका। अपर्याप्त ज्ञान के कारण पहिले तो यह माना जाता था कि रचना-क्रम के क्षेत्र में पौधों में बहुत ही अव्यवस्थित रूप से विकास हुआ है। परन्तु ज्ञान-वृद्धि के साथ साथ इसमें भी एक निश्चित प्रणाली बनती गई। जब यह देखा गया कि सूत्रिजों में रम्भ का अभाव है तथा हरितिजों में रम्भ अविकसित है तब हरितिज निश्चित रूप से विकास-क्रम में सूत्रिजों से ऊपर रख दिए गए। पर्णिजों में रम्भ प्रणाली दृढ़ हो चुकी थी और बीजिजों में पर्णिजों की खण्डनालों के स्थान पर कहीं वाहक नालें बनने लगी थीं। इस प्रकार इन चार बड़े भागों में विकास-क्रम निश्चित हो गया। पौधों की कार्य-प्रणाली ने भी वर्गीकरण में इसी प्रकार सहायता दी।

जहाँ जीवित पेड़ों के वाह्य रूप और रचना ने वनस्पति जगत् के विकास के सम्बन्ध में मनुष्य का ज्ञान अधिक बढ़ा दिया था वहाँ लुप्त पेड़ों के बाह्य रूप एवं रचना-क्रम ने उसे पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। इनके अध्ययन से ज्ञात हुआ कि आदिकाल में चेतना पहिले जलमय क्षेत्रों में ही प्रारम्भ हुई। किन्तु आदिकाल की चेतन वस्तुएँ इतनी सुकोमल थीं कि उनका कोई शेष अब नहीं पाया जाता। इनके कुछ समय बाद अधिक नियमित रूप से पौधों और प्राणियों का विभाजन हुआ। इनमें दृढ़ कोषाभित्तियाँ थीं और इस कारण इनका कुछ शेष अब तक पाया जाता है। पृथ्वी के गर्भ में से निकाले गए असंख्य वनस्पति-अवशेषों (fossils) ने विकास-शृङ्खला की खोई हुई कड़ियों का कार्य किया है। परन्तु भूगर्भ शास्त्र का ज्ञान इतना सीमित है कि पौधों के वर्गीकरण के विषय में अभी कोई निर्णीत प्रणाली निश्चित नहीं की जा सकती।

वर्गीकरण के प्रधान आधार के विषय में ये विवाद अभी उलझे ही हुए थे जब एक नवीन समस्या वनस्पतिज्ञों के सम्मुख आई। पौधों को किन निश्चित वर्गों, श्रेणियों या विभागों में विभाजित किया जाय? परन्तु यह समस्या शीघ्र ही हल हो गई और भाग, श्रेणी, वर्ग, कुल, गण तथा जाति को इसका आधार माना गया। उदाहरणार्थ नीम के पेड़ का इस प्रकार वर्णन किया जाता है :—

वनस्पति जगत्
बीजिज भाग
आवृत बीजिज्ञ श्रेणी
मीलियेसी कुल
मीलिया गण
अजाडिराचटा जाति

गण एवं जातियों के एक ही नाम सभी वनस्पतिज्ञों ने अपना लिए हैं।

डार्विन महोदय की "ओरिजिन ऑफ स्पीशीज" या "जातियों की उत्पत्ति" से पहिले वनस्पतिज्ञ कोई निश्चित वर्ग-प्रणाली नहीं मानते थे। वर्गीकरण की प्रणाली ईसा से पूर्व चौथी व तीसरी शताब्दी में एरिस्टॉटल तथा उनके शिष्य थियो

फ्रेस्टस ने सर्वप्रथम बनाई। परन्तु इनके सिद्धान्त अप्रधान गुणों पर ही आधारित थे। कई शताब्दियों बाद इटली के वनस्पतिज्ञ सीजल पिनी ने फिर वर्गीकरण के कुछ सिद्धान्त प्रस्तुत किये और ज्ञात पौधों के विषय में १६ ग्रन्थ लिख डाले। सत्रहवीं शताब्दी में स्विटजरलैन्ड के गेस्पेर्ड बौहिन ने अपनी पुस्तक "पाइनैक्स" में लगभग ६००० जातियों का वर्णन एवं वर्गीकरण किया। सन् १७०४ में जॉन रे ने "हिस्टॉरिया प्लेन्टेरम" में वनस्पति जगत् को प्रथम बार निश्चित आधार पर विभाजित किया। इनकी प्रणाली इस प्रकार थी :—

१. अबीज (शाक)
   अ. अपूर्ण (पुष्परहित)
   ब. पूर्ण (पुष्पसहित) द्विपत्री
      एक पत्री या अपत्री

२. आरबोरीज (पेड़)
   अ. एक पत्री
   ब. द्वि पत्री

परन्तु जॉन रे की प्रणाली में शाक-प्रधान तथा काष्ठ-प्रधान गुणों को अधिकाधिक प्रधानता दी गई है।

स्वीडेन के केरोलस लिन्नियस ने १७५३ में "स्पीशीज प्लेन्टेरम" में सारी जातियों का तथा १७५४ में "जेनेरा प्लेन्टेरम" में सारे गणों का वर्णन किया। वास्तव में लिन्नियस ने पौधों के वर्गीकरण की कोई निश्चित प्रणाली नहीं बनाई परन्तु साधारण कार्यों के लिए एक कृत्रिम वर्गीकरण केवल पुष्प के रचनाक्रम और गुणों के ऊपर बना दिया। लिन्नियस का सबसे प्रधान कार्य वनस्पति विज्ञान में द्विरूपी नाम प्रचलित करना था।

सन् १७८६ में डी जस्यू ने वनस्पतियों को १५ श्रेणियों में विभक्त किया जिनमें से १५ श्रेणियाँ बीजिजों की थीं। उन्होंने पौधों को तीन बड़े वर्गों में बांटा :—

१. अपत्री—शैवाल, फफूँद, हरितिज एवं पर्णिज।
२. एक पत्री—बीजिज
३. द्वि पत्री—बीजिज

डी जस्यू ने काष्ठ-प्रधान तथा शाक-प्रधान गुणों का कोई महत्व नहीं दिया परन्तु बीज, पत्तों तथा पुष्प के गुणों को सर्वप्रधान बनाया। सन् १८१६ में डी कैन्डोले ने इस वर्गीकरण को बहुत कुछ सुधारा।

स्टीफेन एन्डलिकर ने १८४० में एक नया वर्गीकरण पौधों को दिया। इसमें सूत्रिजों को छोड़ शेष सब पौधों के लिए शीर्षीय बाढ़ ही प्रधान गुण माना गया। परन्तु इस कारण एन्डलिकर ने आवृत बीजिजों को द्विपत्री आवृत बीजिजों के साथ रख दिया और यह दोष बाद में बेन्थम और हूकर की प्रणाली में भी रह गया।

वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में इस समय अनेक अन्वेषण हो रहे थे। राबर्ट ब्राउन ने अपनी गवेषणाओं द्वारा यह बताया कि आवृत बीजिजों में बीज, भ्रूणपोष तथा गर्भधानी की बनावट में बहुत अन्तर है। हॉफमाइस्टर के भ्रूण विकास अध्ययन से ज्ञात हुआ कि पौधों के प्रत्येक बड़े वर्ग में जनन एकान्तरण होता है। सन् १८५६ में चार्ल्स डार्विन ने "ओरिजन ऑफ स्पीशीज" में पौधों के विकास-क्रम को एक निश्चित एवं नियमित रूप दिया। इन्होंने लिखा कि पौधों के विकास में प्रकृति का कार्य सबसे प्रधान था। विकास-क्रम में प्रकृति ने शिथिल एवं क्षीण पौधों को तो त्याग दिया परन्तु स्वस्थ एवं योग्य पौधों को चुन कर उन्हीं से वनस्पति जगत् को इतना विस्तृत किया। प्रकृति ने कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित कीं जिनके कारण सब पौधों में खाद्य पदार्थों के लिए एक विग्रह प्रारम्भ हो गया और

इस संग्राम में सबसे स्वस्थ एवं योग्य पौधे ही सफल हुए।

डार्विन महोदय के इस कल्पात्मक मत को वनस्पतिज्ञों ने शीघ्र ही अपनाया और वर्गीकरण की प्रणालियों को इसी के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया।

इंगलैंड के प्रसिद्ध वनस्पतिज्ञ बेन्थम और हूकर ने बीजिजों का एक विस्तृत वर्गीकरण किया जो आज तक विभिन्न रूपों में संसार के कई देशों में माना जाता है। यह वर्गीकरण वास्तव में डी जस्यू और डी कैन्डोले की प्रणालियों का ही बढ़ा हुआ और परिवर्तित रूप था। "जेनेरा प्लेन्टेरम" नामक पुस्तक में इन्होंने बीजिजों को द्विपत्री बीजिजों, अनावृत बीजिजों तथा एक पत्री बीजिजों में विभक्त किया। बेन्थम और हूकर ने लगभग २०० कुलों का वर्णन किया। इनमें रेनन कुलंसी सबसे पहिले और ग्रेमिनी सबसे बाद में था। बेन्थम और हूकर की प्रणाली में अनावृत बीजिजों का स्थान ही अत्यन्त विवादग्रस्त था।

जूलियस वान सैक्स ने १८८२ में सूत्रिजों का एक वर्गीकरण बेन्थम और हूकर के सिद्धान्तों पर किया। सन् १८८३ में आइक्लर ने फिर पूरे वनस्पति-जगत को दो बड़े भागों में बाँटा।

अ. क्रिप्टोगैमी
- १. थैलोफाइटा (सूत्रिज)
- २. ब्रायोफाइटा (हरितिज)
- ३. टेरिडोफाइटा (पर्णिज)

ब. फेनेरोगैमी
- १. जिम्नोस्पर्मी (अनावृत बीजिज)
- २. एन्जियोस्पर्मी (आवृत बीजिज)

जर्मन वनस्पतिज्ञ एन्गलर और प्रैन्टल ने अपने ग्रन्थ "डाइनेचुरलिशेन फ्लान्जेन फैमिलिएव" में वनस्पति जगत् का एक नवीन वर्गीकरण दिया। अधिकांशतः यह आइक्लर की प्रणाली का ही बढ़ा रूप है परन्तु इसमें वर्गीकरण के कुछ मुख्य सिद्धान्तों का अधिक नियमित रूप से अनुकरण किया गया है। एन्डलर और प्रैन्टल के वर्गीकरण के विभिन्न भाग विशेषज्ञों द्वारा लिखे गए थे, इस कारण कदाचित इसमें पर्याप्त सम्बद्धता नहीं आई परन्तु आजकल यही प्रणाली सबसे अधिक प्रचलित है। सन् १८९४ में अमेरिकन वनस्पतिज्ञ बेसी ने बेन्थम और हूकर के वर्गीकरण को सुधार कर फिर से प्रस्तुत किया। इसमें अनावृत बीजिजों को द्विपत्री तथा एक पत्री आवृत बीजिजों के मध्य से हटाकर पहले रख दिया गया। सन् १९०१ में रिचार्ड वेट स्टाइन ने अपनी "हैन्डबुक डर सिस्टेमिटिशेन बोटेनीक" में एन्गलर और प्रैन्टल की प्रणाली को सुधारने का प्रयत्न किया। सन् १९०५ में हैन्स हैलियर ने एन्गलर और प्रैन्टल के वर्गीकरण की त्रुटियों को ठीक कर एक नयी प्रणाली बनाई।

पौधों के वर्गीकरण के इतने प्रयत्न भी कदाचित् यथेष्ट नहीं माने गए और वनस्पतिज्ञों ने अधिकाधिक प्राकृतिक एवं सरल वर्ग-प्रणालियां ढालने का प्रयत्न कम नहीं किया। सन् १९२६ में हचिंसन ने एक बार फिर पौधों के काष्ठ प्रधान तथा शाक-प्रधान गुणों को अपने वर्गीकरण का आधार बनाया।

इस समय तक भूगर्भ विज्ञान के क्षेत्र में बहुत अधिक अन्वेषण हो चुके थे। वनस्पति अवशेषों (fossils) के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि पौधों के वाह्यरूप और रचनाक्रम की प्रस्तुत श्रेणियों में से अधिकांश कृत्रिम और काल्पनिक ही हैं। आदि पर्णिजों के उपवर्ग साइलो फाइटेलिस, आदि अनावृत बीजिजों के उपवर्ग साइकेडो फिलिकेलिस (सागुपर्ण उपवर्ग) एवं लुप्त आवृत बीजिजों के ज्ञान ने पर्णिजों, अनावृत बीजिजों तथा आवृत बीजिजों के अन्तर को अत्यन्त सूक्ष्म बना दिया। कई वनस्पतिज्ञों का यह विश्वास है कि ये भाग पृथ्वी के इतिहास में कई लाख वर्षों तक एक ही दिशा में विकास करते रहे।

लुप्त पेड़ों की रचना का ध्यान रखते हुए

अमेरिका के वनस्पतिज्ञ आर्नोल्ड ने रम्भवाले पौधों को दो में विभक्त किया :—

१. लाइकाप्सिडा—इसमें पर्णिजों के कुछ वर्ग हैं, जिनमें पर्ण अवकाश नहीं होता।

२. टेराप्सिडा—इनमें पर्ण अवकाश होता है। ये पाँच भागों में विभक्त हैं :—

१—टेरिडोफाइटा (पर्णिज)

२—साइकेडोफाइटा
३—कोनोफरोफाइटा
४—क्लेमाइडोस्परमोफाइटा
} अनावृत बीजिज

५—एन्जिओस्परमोफाइटा (आवृत बीजिज)

इस प्रकार आर्नोल्ड के अनुसार पर्णिजों से आवृत बीजिजों तक पौधों के विकास-क्रम की एक अविच्छिन्न शृङ्खला है।

पौधों के वर्गीकरण की विभिन्न प्रणालियों के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि वनस्पतिज्ञ अब तक पौधों के यथार्थ विकास क्रम एवं परस्पर विकास-सम्बन्ध के विषय में एकमत नहीं हैं। फिर भी सुविधा के लिए पौधों के कुछ बड़े भाग बना लिए गए हैं।

१—सूत्रिज या थैलोफाइटा
अ—शैवाल या एलगी
ब—फफूंद या फन्जाइ

२—हरितिज या ब्रायोफाइटा
अ—हिपैटिसी
ब—मसाई

३—पर्णिज या टेरिडोफाइटा
अ—इक्वसिटेलिस
ब—लाइकोपोडियेलिस
स—फिलिकेलिस

४—बीजिज या स्पर्मेटोफाइटा
अ—अनावृत बीजिज
ब—आवृत बीजिज

इस कृत्रिम वर्गीकरण में सूत्रिजों का विभाजन पोषण-क्रिया के आधार पर, हरितिजों का जन्युक और बीजाणुक के विकास-स्तर के आधार पर, पर्णिजों का बीजाणुक के रचना-क्रम तथा प्रजनन क्रिया के आधार पर तथा बीजिजों का विभाजन बीज की स्थिति, अण्डकोश की रचना एवं बीजाणुक की रचना के आधार पर किया गया है। वास्तव में पौधों की उत्पत्ति, उनका विकास-क्रम तथा उनका वर्तमान रूप अनेक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कारणों का परिणाम है। वनस्पतिज्ञ नए प्रमाण मिलते ही नए वर्गीकरण ढालने का प्रयत्न करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक वर्ग के विकास इतिहास का अध्ययन उचित मनोयोग से नहीं किया जाता वरन् सभी वनस्पतिज्ञ उस नवीन वर्गीकरण की समालोचना में अपना ध्यान लगा देते हैं। विशिष्ट क्षेत्रों में विस्तृत अध्ययन की ही इस समय आवश्यकता है।

दीवार की आकृति

मूल० ले० इ० वी० लूकास

कथा रूप में वैज्ञानिक समस्याओं की चर्चा तथा पाठकों में वैज्ञानिक कौतूहल उत्पन्न करने का प्रयत्न साहित्य की नई देन है, इस रोमांचक कहानी के पढ़ने का आनंद हमारे पाठक अपलक नेत्रों से ले सकते हैं।

डैबने क्लब की कल वाली घटना से मैं अब तक कांप जाता हूँ। कल की उस अनोखी बात के स्मरण मात्र से मेरे रोंगटे खड़े हो जाते है परन्तु सन्तोष केवल इस बात का है कि क्लब की उस बात से केवल मैं अकेला ही प्राण-हीन सा न बना वरन् सब की वही दशा थी।

हम विचित्र, अमानवी और दैविक विषयों की चर्चा में पूर्णतया संलग्न थे और हममें से प्रत्येक साथी अपनी अपनी सुना रहा था। यद्यपि सब साथियों की घटनायें विचित्र थीं तब भी उनमें रोंगटे खड़े हो जाने का खिंचाव न था। उन वर्णित घटनाओं को सुनकर मानसिक द्वन्द्व की किञ्चित-मात्र भी उत्पत्ति नहीं होती थी। उनमें मनोवैज्ञानिक हलचल थी जो किसी मनोविज्ञान-शास्त्री के लिये पाठ्य और विवेचन की सामग्री बन सकती।

क्लब की कल वाली बैठक में कुछ नये चेहरे भी दिखाई दिये थे जिनमें एक मेहमान बहुत ही उल्लेखनीय है। मिस्टर रडसन वाइट उस मेहमान को अपने साथ लाये थे। श्वेत-मुख का वह पुरुष प्रत्येक कथावाचक को बहुत गौर से घूर रहा था परन्तु उसके होंठ वैसे ही चुप थे जैसे नींद में खोई हुई पलकें जो आँख की रोशनी पर ढक्कन डाल देती हैं। क्लब ने चाहा कि यह भी कुछ बोले। अतः इसी गरज से सब मेम्बरों ने उससे अनुरोध किया कि वह भी कोई तजुर्बे की कोई अनहोनी घटित घटना वर्णन करे।

वह कुछ देर तक चुप रहकर बोला, "दोस्तो! यह साधारण रूप में सुनी सुनाई कपोल-कल्पित कहानी नहीं है। मैं तो सदा सच्चाई का कायल रहा हूँ। मैं एक ऐसी अनोखी मनोवैज्ञानिक और सत्य घटना सुनाऊँगा जो उपन्यास की घटनाओं से भी मजेदार होगी। वह एक ऐसी घटना है जो मेरे साथ घटित होकर कल ही शाम समाप्त हुई है।"

उत्सुक होकर हमने उससे आरम्भ करने के लिये प्रार्थना की।

"दो एक साल पहिले," उसने आरम्भ किया, "मैं ग्रेट आरमाण्ड स्ट्रीट पर एक कमरा किराये पर लेकर रहता था। कमरे की दीवारें पुराने किसी किरायेदार ने गन्दी कर दी थीं और स्थान के नम तथा सीलन होने के कारण दीवारों पर बड़े बड़े गन्दे निशान हो गये थे। स्थान का रंग उड़ जाने के कारण अजीब २ रेखाओं का निर्माण हो गया था। उन रेखाओं के बीच में एक मनुष्य रूप बन गया था जो ठीक किसी मानव की मुखाकृति लगती थी। अपनी चारपाई पर लेटा हुआ मैं, सदा सोते जागते उस मुखाकृति को घूरा करता था और शनैः शनैः मैं आकृति को अपना एक सहवासी समझने लगा। इस आकृति में मुख्य बात यह थी कि

दीवारों के अन्य निशानों के सदृश यह अपना मौलिक रूप नहीं बदला करती थी। वह सदा एक रूप में दीवार पर बनी थी।

"एक बार मुझे इन्फ्लुइंजा ने आकर धर दबोचा और मेरी मानसिक स्थिति शोचनीय हो गई। मैं सदा कुछ न कुछ ऊलजलूल इस स्थिति में सोचा करता और मेरी दृष्टि हमेशा दीवार के चेहरे पर टिकी रहती जो मेरी आँखों के ठीक सामने पड़ता था। मुझे ऐसा लगा कि उन दिनों वह मुखाकृति सत्यरूप में मानवी शक्ल में परिणत हो रही है। आकृति ने मेरे मस्तिष्क को घटाटोप की तरह छा लिया। मैं दिन-रात पड़ा पड़ा उसकी हरकतों को देखा करता और उसके विषय में सोचा करता। उसकी नाक ने एक अजीब टेढ़ापन अख्त्यार कर लिया था और सिर का झुकाव विचित्र दिशा में हो गया था। वास्तव में उस चेहरे का एक महत्व-पूर्ण और अनोखा व्यक्तित्व था जो हजारों पुरुषों में अकेलापन लेकर भी ठीक मानवी था।

"मैं रुग्णावस्था से मुक्ति पाकर रोग-मुक्त हो गया परन्तु तब भी उस दीवार के चेहरे ने मेरा पिंड न छोड़ा। वह और भी अधिक एक पहेली बनकर मेरे मस्तिष्क में छा गया। मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि इस संसार में कहीं न कहीं इस आकृति का असली मनुष्य अवश्यमेव मौजूद है जो कभी न कभी जरूर मुझे मिलेगा। अपने इस विश्वास का उत्तर मेरे पास भी न था पर मैं केवल इतना ही सोच सका था कि वह मनुष्य और मैं किसी न किसी रूप में आपस में अवश्य सम्बन्धित हैं। नियति ने ऐसा ही विधान बनाया है और ईश्वर की यही इच्छा है। अतः मुझे उस आदमी की खोज के लिये पागलपन सा सवार हो गया। मैं स्टेशनों, राजनीतिक जल्सों, फुटबाल मैचों और उन सभी स्थानों पर चक्कर लगाने लगा जहाँ बहुत भीड़ होती थी ताकि मुझे दीवार के चेहरे वाला आदमी मिल जाय, लेकिन सब बेकार रहा। मुझे वह चेहरा न मिला। मैं तो जैसे न मिलने पर ढूँढने के लिये और भी दीवाना हो गया। मैंने अन्य सब कुछ कार्य करना छोड़ दिया। मैं नगर के हंगामे भरे स्थानों के बीच खड़ा होकर आते जाते चेहरे को घूरा करता। लोग मुझे पागल समझने लगे। पुलिस मुझे सन्देह दृष्टि से देखने लगी। हाँ! मैंने स्त्रियों की ओर कभी न देखा, केवल पुरुष, पुरुष, और पुरुषों के चेहरे मेरी आँखों का शिकार थे।"

अपनी भवों पर परेशानी से हाथ फेरते हुए उसने कहा "और एक दिन', सच मानिये साहब; मैंने उसे पा लिया। वह एक टैक्सी में बैठा हुआ था जो पिकाडली की ओर बढ़ रही थी। मैं पागल सा टैक्सी के पीछे दौड़ा। पीछे से आती हुई खाली टैक्सी को देखकर उसे रोका और चढ़कर टैक्सी वाले से कहा, 'उस टैक्सी के पीछे पीछे चलो।' ड्राइवर ने टैक्सी को दृष्टि में रख अपनी टैक्सी उसके पीछे छोड़ दी। कलैरिंग क्रास आ गया। मैं सेट फार्म की ओर बढ़ा। अपने आदमी को एक छोटी बच्ची तथा दो औरतों के साथ देखा। वे २.२० मिनट पर फ्रांस के लिये रवाना होने वाले थे। मैंने उससे बातचीत करने की कोशिश की परन्तु असफल रहा। उसके दूसरे साथी उसके साथ हो लिये थे और वे सब ट्रेन में चढ़ गये।

मैंने जल्दी में, यह सोचकर फाक स्टान का टिकट ले लिया कि जहाज के खुलने के पूर्व मैं उसे पकड़ लूँ परन्तु फाकस्टान में वह अपने मित्रों के साथ मेरे पहुँचने से पहिले ही उतर कर जहाज के सैलून में घुस गया। सैलून के भीतर प्रवेश करने से स्पष्ट था कि वह एक मालदार व्यक्ति है।

पुनः मुझे निराश होना पड़ा परन्तु मैंने भी उससे बातचीत करने के लिए कमर कस ली थी। मेरे पास केवल बोलगों तक जाने के लिये एकतरफा किराये के पैसे शेष थे। अतः यह अनुमान लगाकर कि वह अवश्यमेव सब साथियों को छोड़कर डेक पर टहलने के लिए आयेगा ही, मैं सैलून के द्वार पर जमकर बैठ गया और उस सुनहरी

घड़ी की प्रतीक्षा करने लगा जब कि वह बाहर निकले और मैं उससे बातचीत कर सकने का सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ। लगभग आध घंटे बाद वह नन्ही बालिका की उंगली थामे बाहर आया। मेरा हृदय लहरों पर नाचती हुई नौका के समान जोरों से धड़कने लगा। उसके चेहरे में किञ्चित भी अन्तर न था—ठीक दीवार के चेहरे से मिलता हुआ, वही रेखायें, वही झुकाव और वही आकृति। उसने मुझे एक बारगी देखकर ऊपर डेक पर जाने के लिये कदम उठा लिये। बस मौका हाथ से न चूकना चाहिये, मैंने सोचा।

"क्षमा कीजिये।' मैंने कांपती बोली में पूछा "क्या आप मुझे परिचय-पत्र दे सकेंगे। अत्यधिक आवश्यक कारणों से मैं आपके साथ पत्र-व्यवहार करना चाहता हूँ।"

वह स्तम्भित हो गया, लेकिन उसने मेरी बात मान ली। शान्त भाव से उसने अपना कार्ड निकाल कर मुझे दे दिया और स्वयं नन्ही बालिका के साथ ऊपरी डैक के लिये बढ़ गया। यह निश्चय था कि उसने मुझे पागल समझ कर और झंझटों से बचने के लिए कार्ड चुपचाप मेरे सिपुर्द कर दिया था।

कार्ड को हाथ में दबोचे मैं जहाज के एक कोने में जा पहुँचा और पढ़ने लगा। मेरी आँखें चकित, विस्मित अपलक रह गईं। मेरा सिर घूम गया। उसमें लिखा था मिस्टर आरमाँड वाल, पीट्स्वर्ग, यू. स. ए.। इसके आगे मुझे स्वयं याद नहीं कि क्या हुआ। हाँ, मैंने अपने को अस्पताल में पाया। मैं कुछ सप्ताह अस्पताल में पड़ा रहा और अभी एक ही महीने पहिले अस्पताल से आया हूँ।"

कहते कहते मेहमान एकदम चुप हो गया। हम बेजान एक दूसरे को निरन्तर देखने लगे। हमारी स्थिति ऐसी हो गई मानों साँप सूँघ गया हो।

उसने पुनः कहना आरम्भ किया। "मैं फिर अपने पुराने आरमाँड स्ट्रीट वाले कमरे में पहुँचा और दीवार के चेहरे के अब तक के परिवर्तनों को जाँचने लगा, जिसके साथ एक अमेरीकन की रहस्यमय जिन्दगी का निकटतम सम्बन्ध था। मैंने उस अमेरीकन के विषय में अधिक जानने के लिये पीट्स्वर्ग बहुतों के लिये पत्र लिखा। आरमाँड वाल के लिये भी लिखा। अमेरीकन समाचार-पत्रों के सम्पादकों से पत्र-व्यवहार कर छानबीन की। लन्दन में अमेरीकन सोसाइटी की स्थापना की—पर मुझे केवल इतना ही पता लग सका कि वह एक करोड़पति है और उसके माँ बाप अँगरेज हैं जो लन्दन में रह चुके हैं। परन्तु कहाँ? इस प्रकार का उत्तर मुझे न मिल सका।

"इसी तरह समय बीतता चला गया। कल सुबह जब कि मैं अत्यधिक थका होने के कारण देर में उठा तो देखता हूँ कि सूरज अत्यधिक चढ़ आया है और उसकी किरणें कमरे को प्रकाशित कर रही हैं। अपनी आदत के अनुसार मेरी दृष्टि सर्वप्रथम दीवार की आकृति की ओर गई। मैं एकदम घबरा उठा जब मैंने देखा कि कि वह आकृति आज अत्यधिक धुँधली है। कल रात तो वह इतनी स्पष्ट थी मानों बात करने के लिए होंठ फड़काना चाहती हो। मैं परेशान होकर विस्तरे से उठा। समाचार-पत्र का प्रातःकालीन संस्करण आ चुका था। मेरी नजरें एक दम इस समाचार पर पड़ गईं।" अमेरीकन करोड़पति मोटर दुर्घटना में।' शायद आप लोगों ने भी उसे पढ़ा होगा। वह इस प्रकार था—मिस्टर आरमांड वाल (डीवार) पीट्स्वर्ग के करोड़पति तथा अन्य साथी जो मोटर द्वारा स्थिजिया से पीसा जा रहे थे एक छकड़े से टकरा जाने पर घायल हो गये हैं और मिस्टर वाल (डीवार) की स्थिति अत्यधिक चिंताजनक है।

"पुनः मैं अपने कमरे में जाकर दीवार के चेहरे को देखने लगा और मेरे आश्चर्य का

ठिकाना न रहा जब कि वह मेरे देखते देखते अचानक गायब हो गया।

"बाद में मुझेपता चला कि मिस्टर वाल (डीवार) की मृत्यु उपरिवर्णित घटना से हो गई है।"

पुनः वह विचित्र कथावाचक अचानक चुप हो गया। मुख से अचानक एक साथ निकला, "वास्तव में आश्चर्यमय।" "लेकिन इससे क्या मतलब निकला महाशय।"

"मतलब! मतलब के बारे में पूछते हैं आप लोग? तो सुनिये—इससे तीन मतलब निकलते हैं। पहिला यह कि लन्दन की एक स्ट्रीट के कमरे में पीट्सबर्ग जैसे दूर देश के नगरवासी की आकृति का दीवाल पर बन जाना और उस अमेरीकन के जीवन के साथ दीवार के चेहरे का निकटतम सम्बन्ध, यह एक ऐसी विचित्र घटना है जो सबको आश्चर्यमय अवश्य लगेगी परन्तु मेरे बिश्वास में विज्ञान एक दिन अवश्यमेव इस समस्या का निदान ढूँढ़ लेगा।"

"कैसे महाशय? डैवेन क्लब के एक मेम्बर ने प्रश्न किया। 'साधारण सी बात है।' वह बोला। "क्या विज्ञान की उस प्रगति को आप लोग नहीं समझ रहे हैं जो दर्शन और विज्ञान के सम्मिश्रण के जीवन की प्रत्येक गहराई को ढूँढ़ निकालना चाहती है। मनोविज्ञान जो मस्तिष्क की हलचलों से सम्बन्धित है, क्या विज्ञान का एक बहुत बड़ा अंग नहीं? क्या आपने नहीं सुना कि भारतवर्ष के ऋषि मुनि, सांस खींचकर आकाश में उड़ा करते थे और जमीन के भीतर गढ़ों में बन्द वर्षों कब्र के मुर्दों की तरह पड़े रहते थे। क्या आज के वैज्ञानिक के लिए यह समस्यायें सुलझाने के लिए हैं। जब यह सब हो सकता है तो इस कहानी को आप असम्भव किस दृष्टि में मान सकते हैं? कहिये आप लोगों के पास क्या उत्तर है?"

सब चुप रहे। पत्थर की मूर्ति की तरह सब सन्न थे। हमारे सबके मुखों पर एकबारगी दृष्टि दौड़ाकर वह पुनः कहने लगा। "और इसका उत्तर आपके चेहरे स्वयं दे रहे हैं। जो मानसिक आन्दोलन मेरे इन शब्दों से ज्वार की भाँति आप लोगों के मस्तिष्कों में उठा होगा, क्या विज्ञान उस मानसिक ज्वार-भाटे के लिए जवाब नहीं देगा? हाँ! दूसरी बात कहानी के विषय में यह है कि पीट्सबर्ग के उस महोदय के नाम और लन्दन की उस गली के नाम में सामञ्जस्य होने का आश्चर्य।"

वह एक दम पुनः कहते-कहते चुप हो गया। हमें उसकी बातों से सहमत होना पड़ा। हमारी दशा खराब थी। हम इतना चकित हो गये थे कि मानो हम इन्सान से शिला बन गये हों और हमारी नाड़ियों का रक्त किसी ने चूस लिया हो। इतने में ही वह विचित्र मेहमान उठकर द्वार तक पहुँच गया। उसे जाते देखकर स्पैन्टन ने साहस बटोर कर पूछा। "क्यों साहब? वह तीसरी बात भी कहते जाइये।"

वह चलते-चलते बोला, "क्षमा कीजियेगा। मैं कहना भूल गया था। वह तीसरी बात है कि... कि...वह कुछ रुक कर बोला। "मैंने अभी-अभी आध घंटे पहिले इस कहानी को पढ़ा है।" वह वायु के झोंके की तरह द्वार से बाहर हो गया।

'ओह! मार डाला।' मेरे मुख से निकला। मैं अब भी काँप रहा था। 'जहरीला सांप।' दूसरे ने लड़खड़ाती वाणी में कहा।

'हिप्नाटिस्ट!' तीसरे ने कहा।

छायानुवादक श्री रामरत्न बडोला

दक्षिण भारत का भूबंध

ले० जगपति चतुर्वेदी

हमारे देश में भी दक्षिण भारत में आज से ६-७ करोड़ वर्ष पूर्व ज्वालामुखी का इतना अधिक उभाड़ हुआ था कि लाखों वर्ग मील भूमि उसके लावा से ढक गई। उसी की कथा इस लेख में दी गई है।

दक्षिणी भारत के जिस भू-भाग पर ज्वालामुखीय प्रभाव की विस्तृत तहें फैलकर धरातल का निर्माण करती हैं उसे दक्षिणी भारत का भूबंध (डेकेन ट्रैप) नाम दिया गया है। दक्षिणी भारत के पठार का उत्तर-पश्चिमी भाग इस रूप का पाया जाता है। इसके तल या ज्वालामुखीय उभाड़ों की तह का निर्माण-काल भूगर्भ विज्ञान के इतिहास में तृतीयक युग (टर्टियरी) का प्रारम्भ है जो आज से ६ या ७ करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ होगा। इसी युग का प्रथम खंड इओसीन काल कहलाता है। इस युग के प्रारंभ में संसार में कैसी उथल-पुथल रही होगी, क्या अवस्था रही होगी, इसका चित्रण स्वर्गीय डा० बीरबल साहनी ने अपने १९४० ई० के विज्ञान काँग्रेस, मद्रास के भाषण में निम्न रूप से किया था :—

"प्रामाणिक विद्वान तृतीयक युग का प्रारंभ ६ या ७ करोड़ वर्ष पूर्व बतलाते हैं। यह बहुत ही यथार्थ अर्थ में एक नए युग का जन्म है। महा-विकराल शक्तियाँ, धरती की कोख में विलोड़ित होकर धरती की पपड़ी में विशाल भू-विदीर्णता उत्पन्न कर चुकी थीं। और ये विदीर्णताएँ समुद्र तल में मुख विस्फारित कर रही थीं। पपड़ी के अन्य छोटे भूविस्फारणों (फिशर) से लावा की पुनर्वार बाढ़ रूप में पिघला पत्थर उभड़ रहा था जो लाखों वर्ग मील भूमि और समुद्र को घेर सका होगा। ज्वालामुखीय चूर्ण की वर्षा से विस्तृत भूमि अनुर्वर हो रही थी। उच्च ज्वालामुखीय पठार की मुख्य विशेषता रखकर एक नया भूतल निर्मित हो रहा था। भूतल का रूप वेग से परिवर्तित हो रहा था, वह वनस्पतियों का एक विशेष आधुनिक परिधान धारण करने लगा। सरिताएँ, तड़ाग तथा स्थल हम लोगों से अधिक परिचित रूप के जन्तुओं से आकीर्ण होने लगे। फिर भी उस समय मनुष्य का कहीं पता नहीं था। इस हलचल-पूर्ण काल से समुद्र के मध्य से महानतम पर्वत-श्रेणियों के जन्म होने का आभास मिलता था और भारत के उत्तर में कहीं धरती की विक्षुब्ध कोख मनुष्य का आदि जन्म-स्थल होने वाली थी।

"इस प्रकार का इओसीन काल था—यह यथार्थतः नवयुग का उषाकाल था।"

दक्षिण भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग जहाँ ज्वालामुखीय प्रभाव से इस युग की रचना बनकर दक्षिण-भारतीय भूबंध नाम से ज्ञात है, वहाँ पठार के पूर्वी और दक्षिणी भाग उस पुरातन युग की रचना हैं जिसे धरातल का आदि निर्माण-काल कहा जा सकता है और उसकी आयु एक अरब वर्ष से भी पूर्व की होगी। इन वातावरणों का स्मरण कर डा० साहनी ने दक्षिणी भूबंध की विशद चर्चा करने का जो प्रयत्न किया है, वह

विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने भाषण में कहा था :—

"दक्षिण-भारतीय प्रायद्वीप के पूर्वी और दक्षिणी भाग अधिकांशतः बहुत ही अधिक प्राचीन काल की शिलाओं से निर्मित हैं। यथार्थतः ऐसी शिलाएँ ही महाद्वीपों के भूखंड की आधार-भूमि निर्मित करती हैं।

"दक्षिणी पठार के मध्य और पश्चिमी भाग का दृश्य बिल्कुल दूसरा ही है।......अनेक स्थलों पर नवीनतर चट्टानें पुरातन आधार के तल-भंजित तल पर आधारित मिलती हैं......बहुत दिनों की निस्तब्धता के पश्चात् धरती के अंतर्भाग से फट पड़ी हुई ज्वालामुखीय शक्ति लावा की बाढ़ रूप में इतने विकराल रूप में उभड़ी जितनी न तो कभी भूतकाल में ही दिखाई पड़ी थी और न उसके पश्चात् ही दिखाई पड़ी।

"इस काँग्रेस के जिन प्रतिनिधियों ने उत्तर से बम्बई या नागपुर होकर यात्रा की होगी उन्होंने अवश्य ही लंबी नीची चपटे शिखर की पहाड़ियाँ देखी होंगी जो देश के उस भाग के अधिकांश खंड के दृश्य का मुख्य भाग बनाती हैं जो नर्मदा और ताप्ती नदियों तथा गोदावरी और कृष्ण के ऊपरी स्रोतों द्वारा प्रस्रवित होती है। इस रूप का ही दृश्य काठियावाड़ तथा कच्छ तक प्रसारित है। और कम से कम नर्मदा के उत्तर २०० मील तक विस्तृत है। बम्बई से पूना जाने वाली रेलवे लाइन पश्चिमी घाट को पार करते हुए भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों पर अवस्थित टीलों की एक शृंखला में कटी हुई घाटियों के मध्य से होकर जाती है, जो एक विशाल सीढ़ी के अवशिष्ट भाग समान हैं। ये टीले उस लावा की क्रमागत तहों के खुले तल हैं जो कुछ अवधियों के अंतर से रह-रहकर उभड़ी थीं जो कई सहस्रों वर्ष तक फैली घटना होगी तथा जो पश्चिमी तट पर ६ से १० हजार फीट तक मोटी बन सकी थी।

"यहाँ विस्यूवियस की भाँति के ज्वालामुखी नहीं थे। साधारणतया धरती के विदीर्ण तल से चुपचाप ही लावा उभड़ रहा था। किन्तु ये विदीर्ण तल सैकड़ों गज चौड़े और देश में मीलों तक फैले थे, उनके दाएँ-बाएँ ओर टेढ़े-मेढ़े दरार भी शाखा रूप फटे पड़े थे जिन सब में लावा के दहकते रूप उमड़ रहे थे। भड़ोंच के निकट राजपिपला पहाड़ी, कच्छ तथा काठियावाड़ तथा पश्चिमी भारत के कुछ अन्य भागों में इन पुराने विदीर्ण तलों में से कुछ अब भी पहचाने जा सकते हैं, जिनके भीतर लावा जमी हुई भित्ति रूप में पाया जाता है।

लौह की प्रचुरता से दक्षिणी भारत के लावा में ऐसी तरलता होती थी कि वह विलम्ब से जमता था। वह लगभग पानी की ही भाँति प्रवाहित होता था तथा स्थल खंड के खड्डों को भर देता और शीघ्रतापूर्वक धरातल पर चादर की भाँति मीलों तक फैल जाता, तब कहीं जम पाता जिसे हम बसाल्ट या भूबंधीय शिला नाम देते हैं। अपनी प्रलयंकरी यात्रा में यह दहकती बाढ़ भूमि को झुलसा देती और धरातल की सब हरियाली उदरस्थ कर लेती। स्वयं धरती ही अग्निमय बन गई थी।

"सरोवर तथा वापियाँ जल-तल के ऊपर लावा प्रवहमान होने से उबल उठती थीं। जहाँ-तहाँ किसी जल-धारा का वेग अवरुद्ध हो जाता और उसका जल एक अस्थायी जलाशय में परिवर्तित हो जाता। फिर यह कोई नया मार्ग पाकर या बनाकर किसी नई दिशा में प्रवाहित हो जाता अथवा दूसरे उभाड़ में अग्नि के प्रकोप से इसका भी अन्त हो जाता। बड़ी-बड़ी नदियाँ इतना शीघ्र अपना मार्ग अवरुद्ध न पाकर अपने पुराने मार्ग पर प्रवाहित होती रहतीं। कोई लावा की तह मार्ग में जम गई होती तो उसे काट कर वे अपना मार्ग बना लेतीं। किन्तु उभाड़ होने जारी रहे, स्थान-स्थान पर समय-समय पर होते ही रह कर

बड़े विस्तृत क्षेत्र में फैल सके। मूल रूप में कदाचित् १० लाख वर्ग मील तक राजमहेन्द्री से कच्छ तक तथा धारवार के निकट से झाँसी तक फैले थे। पिछले लावा की तह के ऊपर तह जमती, तथा पठार की पुरानी नींव सहस्रों फीट नीचे पड़ गई। करोड़ों वर्ष के तल-भंजन के पश्चात् भी दक्षिण भारत के भूबन्ध का विस्तार आज दो लाख वर्गमील है।

"आप नागपुर से बम्बई की ६०० मील दूर की यात्रा ज्वालामुखी शिला पर से अपना पग हटाये बिना ही कर सकते हैं।........

"यह कहना कठिन है कि दक्षिण भारतीय भूबन्ध के विस्तृत क्षेत्र में पहले आग्नेय प्रक्रिया का कहाँ प्रारम्भ हुआ। नागपुर छिंदवाड़ा क्षेत्र के लावा अवश्य ही सबसे प्रथम उभाड़ के परिणाम होंगे और जहाँ तक हमारा आधुनिक ज्ञान है, इस श्रृङ्खला की सबसे अधिक ऊँचाई का उभाड़ मलाबार पहाड़ी और बोर्ली में बंबई नगर में पाया,जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि उभाड़ दक्षिणी भारत के पूर्वी भाग से प्रारम्भ होकर पश्चिम की ओर बढ़ा किन्तु इसे हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते। यह प्रकट करने वाली कोई वस्तु नहीं है कि उभाड़ का प्रारम्भ अनेक स्थानों पर दूर-दूर एक ही समय प्रारम्भ नहीं हुआ।

"लावा की धारा मुटाई में कुछ फीटों से लेकर सौ फीट तक की विभिन्न रूप की पाई जाती है। एक धारा के ऊपर जब दूसरी धारा जम जाती थी तो वह पुराने विदीर्ण तल को भर देती थी। बाद में होने वाले उभाड़ को इस नई पूरी तह को तोड़-फोड़ कर ऊपर आना पड़ता था। बड़ा ही भीषण उभाड़ होता था। एक नया विदीर्ण तल उत्पन्न होता अथवा पुराना विदीर्ण तल ही अधिक विस्फारित हो जाता। इस मृत्यु-मुख में बिजली की भयानक कौंध उठ पड़ती। आग बरस पड़ती, धुएँ, और ज्वालामुखी चूर्ण का उभाड़ मीलों ऊपर आकाश में हो जाता मानों आकाश पर ही आक्रमण हो।

चूर्ण फिर नीचे आता, विदीर्ण तल के चारों ओर प्रज्वलित लावा की तह पर बरस पड़ता। कदाचित् उससे कहीं इधर, कहीं उधर कोई टीला बन जाता अथवा भूतल की हरियाली के ऊपर ही इसकी तह उसे झुलसा कर बिछ जाती। पश्चिमी भारत में ज्वालामुखीय चूर्ण की अनेक तहें भरी हैं। उदाहरणार्थ पूना तथा महाबलेश्वर में ऐसी तहें विद्यमान हैं। यहाँ पर अवश्य ही उभाड़ केन्द्र रहे होंगे।"

रक्त-प्रवाह और हृदय की क्रिया

श्री बागेश्वरी सिंह परिहार

मानव-शरीर के रक्त-प्रवाह की क्रिया तथा खोज का वर्णन लेखक ने सुबोध रूप में करने का प्रयत्न किया है। छात्रों तथा सर्वसाधारण की जानकारी के लिए लेख उपादेय है।

मानव समग्र विश्व की नवीनतम रचनाओं तथा अनुसन्धानों का सम्राट है। मनुष्य भी एक प्रकार का जन्तु है जिसमें मस्तिष्क की मात्रा अधिक होती है जिससे वह अन्य के अपेक्षाकृत अधिक सोच व समझ सकता है। जीव शास्त्र के ज्ञाता मनुष्य को सबसे अधिक विकसित स्तनीय जीव कहते हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य मेरुदण्ड सहित वह जीव है जो अपने बच्चों को दूध पिलाता है और वाह्य आपत्तियों से अधिक चतुराई के साथ बचाता है। वास्तव में मनुष्य के किसी अंग में कोई विशेष नूतनता नहीं आने पाई है, प्रत्युत उसे अन्य जन्तुओं की अपेक्षा प्रकृति और वातावरण पर अधिक अधिकार है।

समस्त पादप तथा जन्तु आदि के शरीर अगणित कोशों (Cells) के सम्मेलन से बने हैं। मानव-शरीर भी इसी प्रकार के तीन सौ पचास करोड़ (३५० करोड़) कोशों से मिलकर बना है। यदि इतने बड़े लोथड़े को भली भाँति सवारने या जोड़ों को ठीक बनाये रखने, या विभिन्न अंगों के विभिन्न पदार्थ (तत्व), न प्रदान किये गये होते तो बिचारा मनुष्य भी जेली मछली ही की भाँति एक असहाय जीव होता।

साधारणतया प्रकृति ने शरीर में प्रत्येक चीज ठीक बनाये रखने के लिये बहुत सी क्रियाओं का प्रबन्ध किया है। शरीर में बल देने के लिये पाचन क्रिया (Digestive System), नव-जीवन संचार तथा रक्त शुद्ध करने के लिये श्वास-क्रिया (Respiratory System), गंदगी सोखने और यातायात का सम्बन्ध बनाये रखने के लिये प्रवाहन क्रिया (Circulatory System), आदि कितनी ही क्रियायें मिल कर शरीर को ठीक रखती हैं।

रक्त-प्रवाहन की क्रिया का अनुसन्धान सर्वप्रथम विलियम हारवे (१५७८-१६५७) ने किया। इसी कारणवश चिकित्सा में एक नूतनयुग का आविर्भाव हुआ। पहले यह विश्वास किया जाता था कि नलियों में हवा रहती है, क्योंकि प्रयोगात्मक रूप से मुर्दों को ही देखा गया था। फिर पता लगा कि खून नलियों में यों ही आगे-पीछे घूमा करता है। तदुपरान्त हारवे ने यह सिद्ध किया कि वही रक्त बार बार नलियों में घूमता है और फेफड़ों से शुद्ध हो आया करता है। विज्ञान-जगत को उस समय यह बिल्कुल ही एक नवीन खोज हारवे ने दी।

रक्तः—रक्त-प्रवाहन् के विषय में कुछ जानने या बतलाने के पूर्व हमें रक्त के विषय में सूक्ष्म ज्ञान हो जाना चाहिये।

हमारा रक्त रंगविहीन तरल पदार्थ है। इस

खून के पानी को रक्तवारि (Plasma) कहते हैं। अनुमान किया जाता है कि इसमें लगभग ८०% जल ही होता है। कई प्रकार के घोलों के साथ रक्त में असंख्य सूक्ष्म ठोस अणु तैरा करते हैं जिसे रक्ताणु (Blood Corpuscles) कहते हैं। रक्ताणु दो प्रकार के होते हैं—लाल और श्वेत।
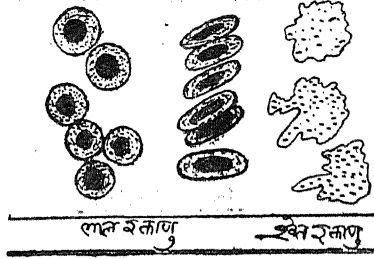
चित्र नं० १

रक्ताणु गोल-गोल ठोस कण होते हैं जो दोनों ओर से कुछ पिचके होते हैं। यह सूक्ष्मकण एक वर्ग इन्च की जगह में लगभग दस करोड़ की संख्या में आ सकते हैं। नग्न दृष्टि से यह नहीं दीख पड़ते। सूक्ष्मदर्शक से देखने पर प्रत्येक कण कुछ पीलापन लिये हुए दिखाई पड़ता है किन्तु सामूहिक रूप में रंग लाल ही होता है। इसी कारण रक्त लाल ही रंग का दिखाई पड़ता है।

श्वेत रक्ताणुओं का कोई खास आकार नहीं होता है। अमीबा की भाँति यह अपने को तथा अपने आकार को निरन्तर बदला करते हैं, यहां तक कि अपने अपने को दबाकर पतली नलियों से होकर चले जाते हैं। यह बीमारी के छोटे कीड़ों को खा डालते हैं। इनकी संख्या शरीर में लाल रक्ताणुओं की अपेक्षा बहुत कम है।

आन्तरिक भागों के तन्तुओं और कोशों तक आक्सीजन ले जाकर पोषक पदार्थ दे आना, कार्बन डाय आक्साइड के साथ अन्य विकारों को ले आना, खून का प्रमुख कार्य है। नसों द्वारा रक्त फेफड़े तक आता है और वह साँस की आक्सीजन सहित शुद्ध वायु के सम्पर्क में भी आ जाता है। लाल रक्ताणु में हीमोग्लोबीन होती है जो आक्सीजन को अपने में मिला लेती है। जैसे जैसे रक्त विविध अंगों में पहुँचता है हीमोग्लोबीन के साथ मिली हुई आक्सीजन को कोशों के तन्तुओं में छोड़ता जाता है। इस प्रकार आक्सीहीमोग्लोबीन बन जाता हैं। यही कार्य सदा चालू रहता है।

हमारे श्वेत रक्ताणु बाहरी विकारों और कीड़ों को चारों तरफ से लिपट कर सोख लेते लेते हैं। इस प्रकार बीमारियों से भरसक बचाने का पूरा प्रयत्न करते हैं। जब नहीं सोख पाते तो शरीर रोगग्रस्त हो जाता है।

इन रक्ताणुओं में जमाव की शक्ति होती है। जब कहीं घाव होवा है या चोट लग जाती है तब भी यही सहायता देते हैं। चोट के मुँह पर आकर जम जाते हैं और इस प्रकार रक्त का बहना बन्द हो जाता है। कभी कभी तो खून का पूरा थक्का बन जाता है। यदि वह न हो तो चोट लगने पर शरीर का सारा खून ही बह जाय और मृत्यु ही हो जाय।

रक्त-प्रवाह :—रक्त-परिभ्रमण की क्रिया जानने के लिये कुछ विस्तार में तो आना है, किन्तु यह कठिनाई दिये गये चित्रों से कम हो जायेगी।

रक्त शरीर में सदैव चक्कर लगाया करता है। इस क्रिया को रक्त-संचालन या रक्त-परिभ्रमण या रक्त-प्रवाह कहते हैं। इस क्रिया के होने में सबसे महत्वपूर्ण कार्य हृदय का होता है। हृदय से निकलती या गिरती हुई बहुत सी रक्त की नलियां (शिरायें और धमनियां) होती हैं जिनका केशिकाओं (Capillaries) के रूप में सारे शरीर में जाल सा बिछा रहता है। सिकुड़ कर हृदय खून बाहर निकाल देता है तथा प्रमुख धमनियों द्वारा विभिन्न भाग में रक्त पहुँच जाता है। जाते समय खून लाल तथा पोषक पदार्थों से भरा रहता है। किन्तु आते समय शरीर के

विकारों के कारण मैलालाल और अशुद्ध हो जाता है। गंदा खून फिर फेफड़े में साफ होकर दुबारा चक्कर लगाने के लिए तैयार हो जाता है। साधारणतया, इस क्रिया को हम नगर के पानी आने के प्रबन्ध से तुलना कर सकते हैं। पम्पिंग स्टेशन की भांति हमारा हृदय कार्य करता
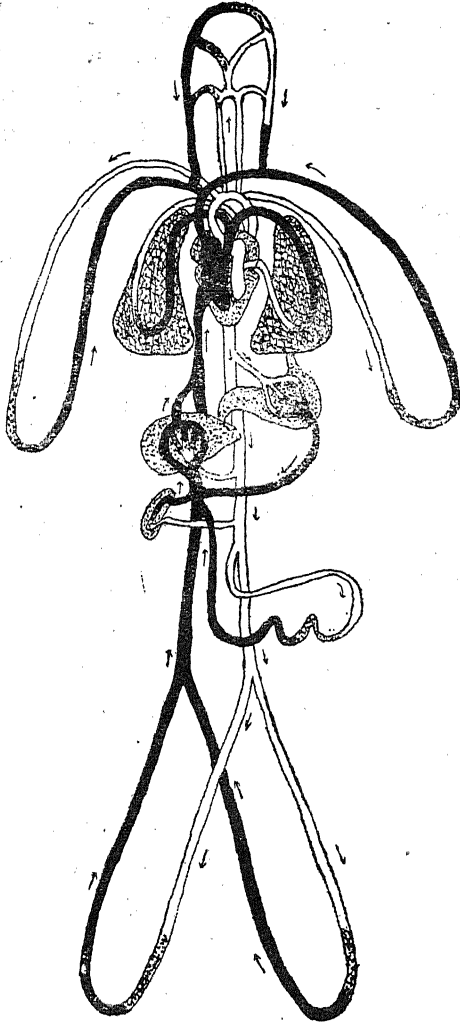
चित्र नं० २ (रक्त-प्रवाह)

है। जिस प्रकार नगर के प्रत्येक घर में पानी की पाइप लगी रहती है उसी प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग में खून की नलियां रहती हैं। इसे हम चित्र से भलीभांति देख सकते हैं। इस प्रकार यह क्रिया सदैव चला करती हैं तथा हृदय सदैव धड़कता रहता है। इस क्रिया का अन्त तो मृत्यु ही के साथ हो सकता है।

हृदय की बनावट :—रक्त-प्रवाहन की क्रिया का प्रभाव वाहक हृदय ही होता है। समस्त बहाव इसी पर निर्भर है। इसे कुछ लोग "रुधिर मांसल पम्प" (muscular blood pump) कहते हैं जिसके कारण रुधिर और रक्ताणु सदैव आगे बढ़ा करते हैं तथा रक्त-प्रवाहन की क्रिया पूरी होती रहती है। प्रथम दृष्टि से तो हृदय मांस का एक लोथड़ा मात्र ही लगता है जो स्वाधीन
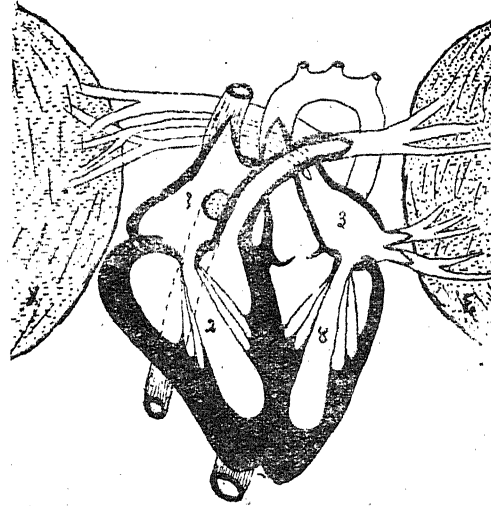
चित्र नं० ३

"हृदय की आन्तरिक बनावट"

१ और ३ = दाहिने तथा बायें ग्राहक कोष्ट
२ और ४ = " " " क्षेपक कोष्ट
५ और ६ = दोनों ओर के फेफड़े

पेशियों (involuntary muscles) के सम्मिलन से बना है। मनुष्य के हृदय का आकार लगभग बन्द मुठ्ठी का सा ही होता है। हृदय एक सौत्रिक तन्तु (fibrous tissue) की बनी थैली में पड़ा रहता हैं। इसे हृदय का आवरण ही कह सकते हैं। भीतर यह दो असमान (दायें-बायें) भागों

में एक मांस की दीवाल के द्वारा विभाजित रहता है। इसमें से प्रत्येक विभाजित टुकड़ा भी दो भाग में (एक बड़ा, एक छोटा) बँटा रहता है। इस प्रकार खोखले हृदय के भीतर चार कोठरियाँ पाई जाती हैं। ऊपर छोटे और निचले बड़े भागों को क्रमशः ग्राहक कोष्ट (auricle) और क्षेपक कोष्ट (Ventricle) कहते हैं। दोनों ऊपर ग्राहक कोष्टों में खून आने के लिये छिद्र रहता है जिसमें कपाट (Valve) लगे रहते हैं। यह कपाट रक्त को लौटाने से रोकते हैं। कपाटों के प्रबन्ध सहित एक छिद्र ग्राहक और क्षेपक कोष्ट के बीच में होता है। इस कपाट के कारण रक्त केवल ग्राहक से क्षेपक कोष्ट ही में आ सकता है, लौट कर ऊपर नहीं जा सकता।

दोनों निचले क्षेपक कोष्ट में सूक्ष्म छिद्र रक्त को धमनियों द्वारा बाहर निकालने के लिये होते हैं। दांये ओर का रक्त फेफड़े में सफाई के लिए और बांये ओर का रक्त सारे शरीर में धमनियों द्वारा भेज दिया जाता है। इसमें से सबसे प्रमुख धमनी को (Aorta) अओरटा कहते हैं। फेफड़े में जाने वाली धमनी के मुँह पर चक्करदार तिकोना कपाट लगा रहता है जिससे उल्टा बहाव नहीं होने पाता। ऐसे कपाटों का प्रयोग सबसे पहले हारवे ने बताया था। इस प्रकार रक्त का बहाव सदैव दाहिने ग्राहक से दाहिने क्षेपक और फिर फेफड़े में बाँये ग्राहक से बांये क्षेपक और निदान यहाँ से प्रमुख धमनियों द्वारा सारे शरीर भर में पहुँच जाता है।

हृदय की क्रियाः—हम जब कहते हैं कि हृदय में धड़कन हो रही है तो इसका तात्पर्य यह कि मांस की दीवालें सिकुड़ कर समीप आने की चेष्टा करती हैं। सिकुडन का आरम्भ ग्राहक कोष्ट से ही होता है। भीतर दबाव पड़ने के कारण ग्राहक का खून उतर कर क्षेपक में चला आता है। यह सिकुड़न आगे बढ़ती आती है और क्षेपक कोष्ट भी सिकुड़ने लगता है। कपाट के कारण उल्टा तो हो नहीं सकता, अवशेष मार्ग धमनियों की ओर ही खून चढ़ने लगता है। इस प्रकार खून फेफड़े या शरीर में पहुँचने लगता है।

दोनों ग्राहक कोष्टों में सिकुड़न लगभग एक ही समय होती है। उसके बाद सारा हृदय ४/१० सेकेन्ड तक विश्राम करता है जिससे ग्राहक कोष्ट में शिराओं द्वारा फिर रक्त भर जाय। इसके बाद फिर सिकुड़न होती है और यही गति जीवन पर्यन्त तक रहती है।

नसों में भी खून को आगे बढ़ने के लिये उसी प्रकार से सिकुड़न हुआ करती है तथा इसकी गति बिल्कुल हृदय के बराबर होती है। इसी कारण तो हाथ की नाड़ी पकड़ने से हृदय की गति का अनुमान लगाया जाता है। नसों के भीतर भी कपाट का प्रबन्ध है जैसा चित्र में दिखाया गया है। यहाँ भी उल्टा बहाव इसी से रोका जाता है। इस प्रकार खून सारे शरीर में दौड़कर कुछ गंदला हो जाता है। इसकी सफाई फेफड़े में होती है जैसा हम पहले लिख चुके हैं। यही खून बार बार चक्कर लगाया करता है तथा गदला होकर बार बार साफ हुआ करता है। यह चक्कर चलता ही रहता है।

धमनियां और शिरायें कई भागों में आगे विभाजित होती रहती हैं और यहाँ तक कि सूक्ष्माति-सूक्ष्म नसें सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी नहीं दिखाई पड़तीं। विलियम हारवे को भी नहीं दिखाई दिया था। उन्होंने केवल आगे के लिए कल्पना ही की थी कि नलियां शिराओं में विभाजित होकर फिर जुड़कर एक होकर मिल जाती हैं जैसा चित्र में है। यह हारवे की सुन्दर कल्पना सत्य ही हुई।

यह सारी क्रिया अपने आप हुआ करती है। प्रकृति के इन सब पर कुछ विचित्र नियम हैं तथा समग्र चेतन जगत उसी पर निर्भर है।

भारत में फल तथा वनस्पति-संरक्षण उद्योग का विकास

श्री जगदीश चन्द्र आनन्द

केन्द्रीय खाद्यशिल्प अनुसंधानशाला के एक शोधक द्वारा लिखित यह लेख प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है पाठकों को सामयिक तथा एक उपयोगी विषय पर लेखक की यह रचना रुचिकर लगेगी।

सब से पहले नेपोलियन बोनापार्ट ने अपनी युद्ध सम्बन्धी यात्राओं में यह अनुभव किया था कि सेना की सफलता के लिए खाद्य-सामग्री का गोला-बारूद से कोई कम महत्त्व नहीं। यह सामग्री ऐसे संरक्षित रूप में ही होनी चाहिए जो चिरकाल तक पड़ी रहने से खराब न हो सके तथा सुगमता से प्रयोग में लाई जा सके। नेपोलियन की प्रार्थना पर फ्रांस सरकार ने यह घोषणा की कि जो व्यक्ति नेपोलियन की पैदल तथा जल सेना के लिए भोजन-संरक्षण की ठीक विधि का आविष्कार करेगा उसे बारह हजार फ्रॉंक्स का पुरस्कार दिया जायेगा। NICHOLS APPERT ने सन् १८१० में, "कई सालों तक पशु मांस तथा वनस्पति संरक्षण की विधि," नाम की पुस्तक लिख कर यह पुरस्कार प्राप्त किया। एक प्रकार से यह पहला व्यक्ति था जिसने इस विज्ञान का श्रीगणेश किया। इस प्रकार एक दूसरे फ्रांसीसी वैज्ञानिक LOUIS PASTEUR लूइस पासचूर ने भी अपनी खोज से इस खाद्य-संरक्षण उद्योग का काफी विकास किया और इन्हीं आविष्कारों के कारण हम आज हर प्रकार के फल डिब्बों तथा बोतलों में खरीद कर उनका आनन्द ले सकते है। इस कारण हम न वैज्ञानिकों के प्रति आभारी है।

भारत में अचार, चटनी तथा मुरब्बे चिरकाल से घर २ में बनते तथा उपयोग में लाए जाते रहे हैं। परन्तु उनका औद्योगिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं था। यहां पर फल तथा वनस्पति उद्योग अभी तक आरम्भिक अवस्था में ही है। वास्तव में इस उद्योग का आरम्भ १०० लाल हुए बंगाल में हुआ था। उस समय के ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विदेशी कर्मचारियों को अचार तथा मुरब्बे इतने स्वादिष्ट लगे कि वे अपने स्वदेश को लौटते समय भारत के इन चटपटे पदार्थों को अपने सम्बन्धियों के लिए उपहार के रूप में ले जाते थे। इससे कुछ व्यक्तियों को बंगाल में आचार मुरब्बे बड़ी मात्रा में बनाने का प्रोत्साहन मिला।

दूसरे महायुद्ध से पूर्व फल-संरक्षण का थोड़ा बहुत काम होता रहा और डिब्बों में फल, जैम जैली तथा सक्वैश भारत में बनते रहे। इस युद्ध के आरम्भ हो जाने पर विदेशी सैनिकों के लिए, दूसरे देशों से इन संरक्षित फल तथा वनस्पति पदार्थों का, जहाज में स्थान कम होने के कारण, लाना कठिन हो गया जिससे सेना के आहार की सारी आवश्यकताएं, भारत से ही पूरी की जाने लगीं। खाद्य सम्बन्धी सैनिक आवश्यकताओं के लिए बड़े बड़े ठेके भारतीय फर्मों को ही मिलने लगे। इस से भारत में इस उद्योग का बहुत विकास हुआ और भारत में हर प्रकार के फल तथा

वनस्पतियाँ डिब्बों में बन्द होने लगीं तथा सुखाई जाने लगीं। साथ ही सक्वैश, कार्डियल, जैली, ममिलेड, चटनी तथा ऐसे दूसरे पदार्थ बड़ी मात्रा में बनने लगे। परन्तु युद्ध समाप्ति पर सैनिक आवश्यकताएँ कम होने लगीं तथा बाहर से ऐसा माल सस्ता मिल जाने के कारण इस उद्योग की गति फिर मंद पड़ गई। इसके साथ ही देश के विभाजन से सीमाप्रान्त तथा बिलोचिस्तान जैसे प्रदेश भारत से कट गए। इन प्रदेशों में डिब्बों में बन्द किए जाने वाले फलों की अधिकता थी। भारत में बहुमूल्य फलों का जैसे आडू, खुरमानी, अंगूर व अनार आदि का सर्वथा अभाव हो गया है।

सैनिक खाद्य सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने में इस उद्योग का श्रेष्ठ स्थान है। सुरक्षित फल तथा वनस्पतियों का लम्बी यात्राओं में, वायुयान में, बड़े बड़े सहभोजों तथा ब्याह शादियों में भी कोई कम महत्त्व नहीं। इन उपायों से न केवल भारत के ही फल, परन्तु आस्ट्रेलिया के आडू, कैलेफोरनिया के संगतरे, हवाई के अनानास आदि फलों का हर स्थान पर तथा हर ऋतु में आनन्द ले सकते है। इस उद्योग द्वारा अधिक फल तथा वनस्पति-उपजाऊ केन्द्रों का फल बंजर तथा पथरीली भूमि पर रहने वालों के काम आने लगा है और वह इन पदार्थों से वंचित नहीं है। इस उद्योग के विकास से अधिक फल-उपजाऊ प्रदेशों के किसानों का स्तर भी काफी ऊँचा हो गया है क्योंकि उनको अपने फलों का अनुकूल मूल्य मिलने लगा है। अन्यथा यह फल कभी मंडी में इतनी मात्रा में आ जाते कि उनको मिट्टी के मोल भी कोई नहीं उठाता था। इसके अलावा हमारे बढ़ते हुए स्तर के लिए तथा शहरों में स्त्रियों के दूसरे उद्योगों में काम करने के लिए यह आवश्यक है कि रसोई की आवश्यकताएँ घर से निकाल कर औद्योगिक केन्द्रों से पूरी की जाए।

परन्तु इस समय इस उद्योग की अवस्था कोई उत्साहपूर्ण नहीं है और इस के भी कारण हैं:—

(१) दूसरे देशों के माल के साथ मुकाबला।

(२) इस उद्योग में इतना लाभ नहीं है।

(३) आज कल भारत में चीनी तथा दूसरे फलों व वनस्पतियों के अधिक भाव और भारत में अपनी आवश्यकता अनुसार डिब्बों के लिए टिन का अभाव।

भारत में कोई तीस लाख एकड़ भूमि में फलों की खेती हो रही है (तालिका १) ताजा फलों की मात्रा कोई १०० लाख टन पड़ती है जो दूसरे देशों से बहुत कम पड़ाती है। दूसरे देशों में फलों तथा सब्जियों का भाव कोई १। आने पौंड है परन्तु हमारे देश में लगभग ४ आने पौंड है। इसी प्रकार चीनी का भाव हमारे देश में कोई ८ आने पौंड है जब कि आस्ट्रेलिया में ३३ आने पौंड, क्यूबा में २ आने पौंड है। इसी प्रकार फल बन्द करने वाले डिब्बों का भाव भी हमारे देश में आस्ट्रेलिया तथा इङ्गलेंड की अपेक्षा कोई तीन चार गुना है।

इन सारी कठिनाइयों के होते हुए भारत में फल-संरक्षण उद्योग कोई अधिक उन्नति नहीं कर पाया। कच्चे माल का भाव अधिक होने के कारण हम दूसरे देशों के माल के साथ मुकाबला नहीं कर सकते। भारतीय फल-संरक्षण उद्योग-पतियों की एसोसिएशन ने भारतीय टैरिफ बोर्ड (India Tarif Board) के सामने भारतीय खाद्य वस्तुओं के मूल्य की जो सूची रखी वह निम्न लिखित है।

वस्तु का का नाम	भारतीय माल			आयात वस्तु का मोल प्रति दर्जन		
	रु०	आ०	पाई	रु०	अ०	पाई
पौंड के डिब्बों में बन्द फल	१२	१०	०	६	०	०
एक पौंड " जाम	१२	४	०	६	०	०
शर्बत तथा सक्वैश	१७	८	०	६	०	०
दो पौंड के डिब्बों के बंद वनस्पति	६	०	०	३	८	०

ऊपर के आँकड़ों से प्रतीत होता है कि भारत से संरक्षित फल तथा वनस्पति का निर्यात उस समय तक असंभव है जब तक कि हम कच्चे माल के मूल्य कम न कर सकें। इन परिस्थितियों के होते हुए भी भारत में बने हुए चटनी, मुरब्बे तथा दूसरे तेल के मसालेदार अचार विदेशी मण्डियों में खूब बिकते हैं। इन पदार्थों को अच्छे आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों से बना कर तथा सुरक्षित कर इनका निर्यात दुगुना तथा तिगुना किया जा सकता है। इस प्रकार दूसरे ऐसे फल जैसे आम, कैइयुएप्पल, लीची आदि जो कि केवल भारत में ही होते हैं दूसरे देशों में काफी मात्रा में बिक सकते हैं। आम का अचार तथा आम के सूखे रस की पपड़ी दूसरे देशों में काफी मात्रा में बिकती है। इन खाद्य पदार्थों के निर्यात से भारत को और अधिक दुर्लभ मुद्रा प्राप्त हो सकती है।

भारतीय सैनिकों की आवश्यकता हम अपने देश से ही पूरी करने के योग्य हो गये हैं। नमकीन पानी में डिब्बों में बन्द आलू, टमाटर, गोभी तथा पालक का साग बड़ी मात्रा में बनाये जा रहे हैं। अब तो पकी पकाई मसालेदार वनस्पतियां भी डिब्बों में भरी जाने लगी हैं। आशा है आने-वाले कुछ समय में वनस्पति उद्योग और उन्नति करेगा।

इस उद्योग के विकास के लिए अति आवश्यक है कि इसका विकास सहकारिता के आधार (Cooperative basis) पर हो। जिस किसी स्थान पर एक फल अधिक होता है उस फल से बनी वस्तुएँ उसी स्थान पर बननी चाहिये जिससे कि वहाँ के किसानों को अच्छे प्रकार के फल उगाने का प्रोत्साहन मिले। इसके अतिरिक्त इस उद्योग में काम आने वाले कच्चे माल जैसे चीनी, डिब्बे, तथा यातायात के लिये भारत सरकार को सुविधाएँ देनी चाहिये। साथ ही ग्राहक के हित को ध्यान में रखते हुए इन फलों की बनी वस्तुओं के स्तर के बारे में कड़ा नियन्त्रण रखना भी अति आवश्यक है।

भारत में फल की उपज

(क)

प्रदेश	फल-उपजाऊ भूमि का क्षेत्रफल	
उत्तर प्रदेश	१३,८६,७१४	एकड़
मद्रास	४,५८,८५३	,,
बिहार	३,२२,३५१	,,
पश्चिमी बंगाल	३,११,२७६	,,
बम्बई	६६,०४६	,,
उड़ीसा	६५,०००	,,
मध्य प्रदेश	८४,७११	,,
पंजाब (भारत)	५३,०२०	,,
आसाम	५२,५००	,,
मैसूर	७१,१०८	,,
ट्रावंकोर	५०,४१०	,,

प्रदेश	फल-उपजाऊ भूमि का क्षेत्रफल	
हैदराबाद	३१,२१५	एकड़
जम्मू तथा काश्मीर	२०,०००	,,
कूर्ग	१६,५६८	,
बड़ोदा	५,४८३	,,
सिकम	२,७००	,,
कोचीन	२,६२०	,,
देहली	२,१४०	,,
पटयाला	२,७७०	,,
जोधपुर	३,३२१	,,
ग्वाल्यार	३६०	,,
हिमाचल प्रदेश	३५०	,,
कुल	३०,७८,८२४	एकड़

(ख) फलों के आधार पर

आम	२१,९२,३०८	एकड़
केला	२,४६,३६०	,,
नारंगी	१,६५.४८५	,,
अमरूद	१,०६,७०१	,,
जामन, अनार, आमला आदि	२४,०१८	एकड़
दूसरे फल	३,४०,९२२	,,
कुल	३०,७८,८२४	एकड़

भारत में फल-संरक्षण उद्योग के आँकड़े

नाम	मात्रा(पौंडों में)	मूल्य(रुपयों में)
(१)फल रसों से बने शरबत सक्वैश कार्डियल आदि	३४,०६,२३२	२७,१४,१६५
(२)(क)जैम,जैली,मर्मलेड	९,६१,४६९	७,८९,५८६
(ख)चीनी से पगे फल	९७,३१५	१,१२,४६१
(३)डिब्बों में बन्द वनस्पतियाँ	७०,९१९	५६,९२१
(४) टमाटो कैटचप	८३,६९४	७६,९२४
(५) चटनी तथा अचार	२३,५६,९९१	१३,९५,२७७
(६) सास (Sauce)	५०,५३२	३४,३०२
(७) सिरका	४,६३,५५०	१,५७,५२५
(८) मुरब्बे	१५,८६.३२९	१०,९२,१३०
(९ सूखे तथा नमकीन फल	४२,२३५	३५,०८६
(१०) अन्य वस्तुएँ	३,२२,२८५	२,८७,१०६
कुल	९४,४४,५७१पौंड या ४,२१६ टन	६७,५१,४८३ रुपये

इसके मुकाबले में अमरीका में सन् १९४५ में निम्नलिखित मात्रा में डिब्बों में फल तथा वनस्पतियाँ बनीं।

डिब्बों में बन्द फल	१०,८४४७६ टन
,, ,, वनस्पतियाँ	२१,८३,७२० ,,

भारत में सुरक्षित फल तथा वनस्पति पदार्थों की आयात

	१९४६-४७	१९४८-४९
डिब्बों में बन्द फल	३९० टन,	१३० टन
	३,६८,८६३ रुपये	१,९४,९४३ रुपये
जैम, जैली आदि पदार्थ	३७५ (टन)	१८० टन
	४,०८,५२६ रु०	२,२७,९६० रुपये

हमारी वायु-सेना

श्री सूर्य गुप्त

भारतीय वायु-सेना के जन्म और विकास की कहानी इस लेख में वर्णित है। पाठकों की जानकारी तथा मनोरंजन की सामग्री लेख में पर्याप्त है।

भारत की अपनी ही वायुसेना हो, यह विचार पहली बार सन् १६२६ में 'स्कीन कमेटी' ने भारत सरकार के सामने सिफारिश के रूप में रखा था। इससे पहले इस देश में नौ-सेना और स्थल-सेना की भाँति कोई वायु-सेना न थी। हाँ, कुछ "फलाइंग क्लब" अवश्य यहाँ जनता और सरकार को इस ओर लाने का प्रयत्न कर रहे थे। उड़ने के शौकीन जो प्राय: धनी लोग ही होते थे सैकड़ों रुपये खर्च कर वायुयान चलाने का आनन्द लेते थे। इन अनेक ऐसे उड़ने वालों में श्री रामनाथ चावला का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपने वायुयान का कार्य अपने खर्चे पर सीखा और लगभग १६३० में आपने कराची से लंदन की यात्रा का रिकार्ड तोड़ कर भारत के गौरव को ऊँचा उठाया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत सरकार को भी इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी कि भारत में एक सुदृढ़ वायुसेना का होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उस समय की बृटिश सरकार को एक तो भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के इलाकों में कई बार ऐसी सेना की आवश्यकता पड़ती रहती थी और बृटिश "रायल एयर फोर्स" के द्वारा ही इस इलाके में कार्य लिया जाता था, दूसरे उस समय कुछ लोगों की साधारण मनोवृत्ति यह सोचने की थी कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत के उत्तर में राज्य क्रांति के कारण यह बहुत दिनों तक समझा जाता रहा कि कदाचित भारत पर अकस्मात् आक्रमण हो जाय। अतएव कुछ इस भय के कारण भी यह उचित समझा गया कि भारतीयों को इस क्षेत्र में लाना उचित है और एक शक्तिशाली वायुसेना के निर्माण का बीज इस प्रकार हमारे देश में स्वभावत: पनपने लगा।

"स्कीन कमेटी" की सिफारिश के अनुसार सन् १६३३ में कराची में वायुसेना के एक छोटे से दस्ते का उद्घाटन हुआ। सन् १६३६ तक इस दस्ते ने पर्याप्त उन्नति की, भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में वायु-युद्ध सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया। उसके पश्चात् यह दस्ता 'नम्बर १ स्क्वाड्रन' के नाम से प्रख्यात हुआ। सितम्बर १६३६ में जब युद्ध आरम्भ हो गया तो भारतीय वायुसेना का विकास स्वाभाविक ही था क्योंकि उस समय यह सम्भावना बनी हुई थी कि कहीं सारा एशिया महाद्वीप युद्धग्रस्त न हो जाय। अतएव भारत के ३ हजार मील लम्बे समुद्र-तट को किसी भी प्रकार के आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए सन् १६४० में बम्बई में पहली बार वायुसेना के तट-रक्षक दस्तों ने इस प्रकार का कार्य आरम्भ कर दिया। इन रक्षा सम्बन्धी उड़ानों में अधिकतर भारतीयों ने ही भाग लिया।

यह रक्षा का कार्य उन उड़ाकों ने किया जिन्होंने गैर सरकारी तौर पर "फलाइंग-क्लबों" में अपने ही खर्चे पर शिक्षा पाई थी। ऐसे स्वयं-सेवकों को सुसंगठित किया गया और इनकी एक अलग श्रेणी, जिसका नाम "वालंटियर रिजर्व" रखा गया, का उद्घाटन हुआ।

इस समय युद्ध बर्मा तक पहुँच गया था। वायुसेना के स्कवाड्रन नं० १ ने विंग कमांडर, उस समय स्कवाड्रन लीडर, के० के० मजूमदार की कमान में जापान के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों की सेना की सहायता की। हमारी वायु सेना के और दस्तों ने जो कि इस समय तक बिल्कुल तैयार हो गए थे, तत्पश्चात् बर्मा युद्ध के दूसरे भाग में भाग लिया।

सन् १६४४ तक हमारी वायुसेना ठीक ढंग से एक यौद्धिक सेना बन कर तैयार हो गई थी और इसके पास नवीन हथियार और वायुयान भी उपलब्ध थे। दो दस्ते बम-वर्षक, 'डाइव बाम्बर', पाँच लड़ाकू विमान और देखभाल करने वाले वायुयानों का प्रयोग भलीभाँति कर रहे थे। इस वायुसेना ने मित्र राष्ट्रों की विख्यात् १४ वीं सेना के इम्फाल से रंगून तक के आक्रमण में सहायता दी। इस कार्य में इम्फाल, मांडले, अराकान, बुथीडांग, मांगडा, मैवान आदि अनेक स्थानों पर अन्य प्रकार के घोर युद्ध के अतिरिक्त वायुयुद्ध भी हुए। सन् १६४४ और १६४५ में वायुसेना ने न केवल इस प्रकार के सैकड़ों आक्रमणों में ही भाग लिया, वरन् वर्मा के घने जंगलों की दलदलों में मच्छर-मार औषधि बिछाई, अराकान के समुद्री तट पर युद्ध सफल बनाने के लिये धूम्र-चक्र रचे और खाने आदि का सामान ले जाने वाले वायुयानों की रक्षा की, इनके अतिरिक्त कितने ही भारतीय उड़ाके बृटिश वायुसेना के साथ इसी देश में और देश से बाहर भी कार्य कर रहे थे। हमारे कुछ उडाकों ने यूरोप में शत्रु-ग्रस्त भागों के ऊपर से कितनी ही बार उडाने कीं।

भारतीय वायुसेना की इन सेवाओं के बदले में युद्ध के पश्चात् सम्राट जार्ज ने भारतीय वायुसेना के नाम के पहले "रायल" शब्द के प्रयोग की स्वीकृति दी। इस प्रकार इस सेना का पूरा रायल इंडियन एयर फोर्स पडा। जब युद्ध का अनुभव प्राप्त करके यह सेना बर्मा से लौटी तो इसके सामने विकास का अवसर आया। प्रत्येक प्रशंसा और वीरता पदक के लिए इस सेना ने भारी मूल्य दिया था। अपने अनुभव के कारण यह सेना विभाजन के समय तथा उसके बाद संकटों में अत्यंत सहायक सिद्ध हुई।

सन् १६४६ में इसी सेना का 'नं० ४ स्पिटफायर' नामक दस्ता, भारतीय पैदल सेना के प्रख्यात दस्तों के साथ जापान में मित्रराष्ट्रों की सेना के साथ रहने के लिए चुना गया। हमारी वायुसेना का यह पहला अवसर था कि जब इसे दूसरे देश में रक्षा के लिए आमंत्रित किया गया। जापान में हमारी वायुसेना के दस्ते ने ब्रिटिश, आस्ट्रेलियन न्यूजीलैंड और अमेरिकी सेनाओं के साथ मिलकर कार्य किया।

सन् १६४७ में देश-विभाजन के कारण इस सेना के भी दो टुकड़े हो गए। और इस समय इसकी शक्ति पूरी न होने पाई थी कि अकस्मात् इस सेना को पाकिस्तान से भारतीयों को निकालने का कार्य सौंप दिया गया। इतना ही नहीं, कश्मीर में तो हमारी वायुसेना को अत्यंत दुष्कर कार्य करने पड़े। कश्मीर को इसी सेना के साहसी उडाकों ने बचाया, विमान-उड़ान की कठिन समस्याओं का सामना किया। कश्मीर जैसे पहाड़ी स्थान में, जहाँ हवाई अड्डों की कोई योजना न थी, इन साहसी वीर उडाकों ने वायुयानों को १२ हजार फीट तक की ऊँचाई पर ऊबड़-खाबड़ स्थानों पर उतारा। पूँछ और लेह के इलाकों में घिरी हुई सेनाओं और वहाँ के रहने वालों के लिए गोला बारूद का सामान

पहुँचाया और वहाँ से आते समय वहाँ से आने वालों को निकाला। इन इलाकों से लगभग १०,००० व्यक्तियों को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाया। इन सेनाओं को बराबर खाने पीने के सामान और गोला बारूद, मौसम की कठिनताओं का सामना करते हुए इन साहसी उड़ाकों ने शत्रु के ऊपर से उड़ कर पहुँचाया जिससे सेनाएं बराबर लड़ती रहीं और इस प्रकार वहाँ विजय प्राप्त हुई।

कश्मीर में ही नहीं वरन् आसाम के इलाकों में तो प्रायः प्रति वर्ष ही, वर्षाऋतु में हमारी वायु-सेना हजारों व्यक्तियों की सहायता करती है। इस इलाके में प्रति वर्ष कोई न कोई आपत्ति बनी रहती है। कभी भूकम्प है तो कभी बाढ़ है। हजारों टन अनाज और अन्य खाद्य पदार्थ इन इलाकों में ये ही साहसी उड़ाके ले जाते हैं और भूखे मरतों को बचाते हैं। कश्मीर के पश्चात् हमारी वायुसेना ने हैदराबाद के "पुलिस एक्शन" में प्रशंसनीय कार्य किया।

इस सेना के पूर्ण विकास के लिए सरकार अब भी उचित कार्रवाई कर रही है। देश-विभाजन के पश्चात् वायुसेना के प्रधान कार्यालय को पुनः संगठित किया गया था जिसके अनुसार "टेक्नीकल एंड इक्वीपमैंट स्टाफ" के विभाग की वृद्धि की गयी। पालम के चालक समूह (जो कि वायुसेना के युद्ध संबंधी और ऐसे ही अन्य दस्तों का नियन्त्रण रखता है और शिक्षण समूह जो कि पृथ्वी पर काम करने वालों, मशीन के कार्य करने वालों और बिना मशीन कार्य करने वालों, का निर्माण करता है) के अतिरिक्त अब इस सेना के पास एक और अत्यंत आवश्यक विभाग है जो वायुयानों को ठीक दशा में रखने का कार्य करता है। इसका नाम 'बेस रिपेयर डिपो", कानपुर, है। इनके अतिरिक्त उड़ाकों की शिक्षा के लिए दो शिक्षणालय और खोले गए हैं जहाँ एक नये ढंग से शिक्षा दी जाती है और इसका नाम "आल थ्रू फ्लायंग ट्रेनिंग स्कीम" रखा गया है। बंगलौर में एक और शिक्षणालय का उद्घाटन किया गया है जहाँ हवाई बेड़े के "टेक्नीकल अप्रेन्टिसों" को शिक्षा दी जाती है। यह शिक्षणालय अपनी प्रकार का, पूर्व में, एक ही है।

ऊँचे दर्जे की वायु-शिक्षा प्राप्त करने के लिए इस सेना के अफसर ब्रिटेन आदि देशों में भेजे जाने की योजना है और उचित प्रकार के व्यक्तियों की भर्ती के लिए एक कार्यालय भी कार्य कर रहा है।

वायुसेना के अफसरों के लिए "मिलिट्री स्टाफ" कालेज में उच्चतम सैनिक शिक्षा का प्रबंध किया गया है। वायुसेना ने हाल ही में "जेट फाइटर" वायुयान ब्रिटेन से प्राप्त किए हैं। यह "जेट" वायुयान और वायुयानों से अधिक गति से चलते हैं। इतना होते हुए भी हमारी वायुसेना अभी पश्चिमी देशों की वायुसेना के समकक्ष नहीं है। परन्तु फिर भी इस सेना का आधुनिक ढाँचा एक सुदृढ़ मकान की नींव की भाँति है जिस पर जिस समय राष्ट्र चाहे एक बलशाली हवाई सेना बनकर खड़ी हो सकती है।

हवाई शक्ति का विकास

लेखक—स्क्वाड्रन लीडर टी० वसु

हवाई शक्ति के महत्व तथा उपयोगिता का चित्रण प्रस्तुत लेख में किया गया है जो रोचक और पठनीय है।

हवाई शक्ति से, मानव-समाज, आज, सक्रिय रूप से प्रभावित है। यह विशाल शक्ति शांति का साधन भी बन सकती है और विनाश का साधन भी। इस दृष्टि से, मनुष्य पर इस सम्बन्ध में एक भारी जिम्मेदारी आ पड़ी है।

हवाई शक्ति की व्याख्या यों की गयी है...... "आक्रमणात्मक, प्रतिरक्षात्मक तथा सप्लाई सेवाओं के लिए, किसी राष्ट्र की, आकाश का उपयोग करने और शत्रु को उसका उपयोग न करने देने की सामर्थ्य।" इस व्याख्या के अनुसार, हवाई शक्ति का मतलब कुछ बहादुर उड़ाकों और सशस्त्र विमानों मात्र का नहीं है, बल्कि उसमें विमान-बल (हवाई सेना), और वैमानिक उद्योग, परिवहन, व संचार प्रणाली, आर्थिक स्थिति, सुरक्षित अड्डे, कुशल जन-बल, प्रगतिशील गवेषणा कार्य, आदि जैसे अनेक तत्व सम्मिलित हैं।

पहले की लड़ाई में

हवाई शक्ति के आविर्भाव से पहले, युद्ध सशस्त्र बल (स्थल व जल सेनाओं) तक सीमित था और नागरिक पर उसका प्रभाव परोक्ष रूप में ही पड़ता था। किन्तु अब हवाई-सेना (विमान-बल) जहाँ भी काम में लायी जाय, वहीं रण-भूमि बन जाती है और इस प्रकार, उसके कारण युद्ध नागरिक के बहुत ही निकट आ गया है। हवाई शक्ति ने युद्ध का स्वरूप ही बदल दिया है और उसे सर्वांगीण बना दिया है।

सैनिक उड्डयन पहले शत्रु सम्बन्धी सूचनाएँ लाने के लिए शुरू हुआ था। किन्तु सूचनाएँ लाने के लिए जाने वाले विमानों को शत्रु-विमानों से टक्करें लेनी पड़ीं, जिससे चित्र लेकर शत्रु की स्थिति का पता लगाने की प्रणाली का जन्म हुआ और साथ ही लड़ाकू विमान काम में लाये जाने लगे। इस प्रकार जो सूचनाएँ प्राप्त हुईं, उनसे शत्रु-प्रदेश में ऐसे लक्ष्यों का पता चला, जिसके लिए वैमानिक गोलाबारी आवश्यक थी। इस तरह हवाई सेना धीरे-धीरे स्थल सेना की एक सहायक सेना के रूप में विकसित हुई, और गोली की मार से बाहर के लक्ष्यों के लिए बम-वर्षा, आदि से काम लिया जाने लगा।

प्रथम महायुद्ध में

प्रथम महायुद्ध में हवाई सेना ने भाग तो लिया, पर उसने जल या स्थल सेना की सहायता मात्र का काम किया, न कि एक स्वतः निर्णयकारी सेना का। फिर भी, यह स्वीकार किया जाने लगा कि भावी युद्ध के लिए हवाई सेना का महत्व बहुत बढ़ जायगा। युद्ध के बाद, इंग्लैंड में तीनों तरह की सेनाओं (स्थल, जल तथा वायु) की पारस्परिक ईर्ष्या तथा अन्य कारणों से सैनिक उड्डयन की औद्योगिक प्रगति की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सका।

[शेष पृष्ठ ९३ पर]

शास्त्र और विज्ञान

श्री रमाशंकर सिंह, एम० एस-सी०, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

स्वतन्त्रता के बाद से इधर हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग अधिक होने लगा है। इस समय एक ही वस्तु के लिये कई शब्द प्रयोग में आ रहे हैं, इसलिए उन शब्दों में किसका प्रयोग अधिक ठीक होगा, इसका भी विचार करना चाहिये। इस समय मेरा अभिप्राय केवल दो शब्दों से है— शास्त्र और विज्ञान। शास्त्र और विज्ञान के जो भी अर्थ पहले रहे हों, इस समय विज्ञान शब्द सायंस की जगह प्रयोग हो रहा है। यह ठीक भी है। इन पक्तियों के लेखक का विचार है कि शास्त्र शब्द का प्रयोग 'आर्ट्स' के स्थान पर हो तो ठीक होगा, क्योंकि 'आर्ट्स' में आने वाले अनेक विषयों को हम शास्त्र के ही नाम से संबोधित करते हैं, जैसे नागरिक शास्त्र, तर्क शास्त्र, दर्शन शास्त्र, अर्थ शास्त्र आदि।

यदि यह बात मान ली जाय तो हमें विज्ञान के विषयों को विज्ञान के नाम से ही संबोधित करना चाहिए, और उनके साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि सायंस को हम विज्ञान की संज्ञा तो दे ही चुके हैं।

इसलिए हमें इन विषयों को भौतिक-शास्त्र न कह कर भौतिक विज्ञान, इसी प्रकार रसायन विज्ञान, उद्भिज विज्ञान आदि नामों से पुकारना चाहिये। इस समय कुछ पुस्तकें जो हिन्दी में छपी हैं उनमें एक ही विषय को कई नाम देना ठीक नहीं जान पड़ता, जैसे रसायन शास्त्र और रसायन विज्ञान। यही नहीं, भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में भी इन नामों में समानता होनी चाहिये। बँगला में विज्ञान शब्द का ही प्रयोग इधर देखने को मिलता है, जैसे भौतिक विज्ञान। पता नहीं अन्य भाषाओं में क्या हो रहा है। अच्छा होता हिन्दी भाषा-भाषी इन विषयों के वास्ते एक नाम तो स्थिर देते, क्योंकि इस समय इसे हम नहीं करते तो हमेशा के लिए इस प्रकार की विभिन्नता रह जायगी। यही उपयुक्त समय है जब इसे किया जा सकता है। आशा है विद्वान इस बात पर ध्यान देंगे।

हवाई शक्ति का विकास

[पृष्ठ ९२ का शेष अंश]

तीव्र विकास

जर्मनी, इटली और जापान ने १९३५ के बाद से अपने विमान उद्योगों की ओर अधिक ध्यान देना शुरू किया। जर्मनी ने अपनी वायु-सेना को बढ़ाना शुरू किया और इटली व जापान ने भी नयी हवाई सेनाएँ संघटित कीं। रूस ने उड्डयन उद्योग में अपने आदमियों को ट्रेनिंग देने के लिए अमेरिका से सहायता माँगी और अपने विमान उद्योग की स्थापना की। १९३० से १९४० के बीच के वर्षों में अमेरिका ने अपने हवाई व्यापार की ओर पूरा ध्यान दिया, और ब्रिटेन ने भी आत्म-संतोष की भावना का परित्याग कर, अपनी हवाई नीति के अंतर्गत प्रतिरक्षा का रुख अपनाया। इसके बाद द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया और युद्ध-काल में जो सक्रिय औद्योगिक प्रगति हुई, उसने न केवल विमान-उद्योग में एक क्रांति पैदा कर दी, बल्कि वैमानिक युद्ध-प्रणाली को आधुनिक युद्ध का एक प्रबल एवं आवश्यक अंग सिद्ध किया।

वैज्ञानिक समाचार

तुंग वृक्ष

इन दिनों भारत में एक ऐसा वृक्ष महत्व प्राप्त करता जा रहा है जिसकी 'नर-मादा' भेद की समस्या कभी कभी इसकी औद्योगिक उपयोगिता को व्यर्थ बना देती है। इस वृक्ष का नाम तुंग है। जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, इसका उद्गम स्थान चीन है। इस वृक्ष के पत्ते हृदय के आकार के होते हैं और चीन में हृदय को तुंग कहते हैं, इसलिए इसका नाम तुंग है।

तुंग तेल की, जो इस पेडके फलसे निकाला जाता है, औद्योगिक उपयोगिता बहुत है। जल्दी सूखने का गुण रखने के कारण, यह तेल बढ़िया किस्म के रंग-रोगन बनाने के काम आता है। इसमें पनरोक गुण भी है। अतः यह पनरोक कपड़ा तथा कागज बनाने के काम भी आता है।

छपाई की बढ़िया रोशनाई, विशेषकर "चाइनीज इंडियन इंक" में इस तेल का उपयोग किया जाता है। चमड़े पर चमक और आब लाने के लिए, चमड़ा उद्योग को भी इसकी आवश्यकता होती है।

तुंग तेल, रबड़ का भी काम दे सकता है। कई बातों में तो यह रबड़ से भी अच्छा रहता है। रबड़ की तरह इसे भी लचीला बनाया जा सकता है, किन्तु रबड़ के समान इसमें स्वतंत्र गंधक नहीं होती, जिसके कारण यह कई कामों में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। 'टूथपेस्ट' तथा प्रसाधन सामग्री की मुड़ने वाली ट्यूबोंपर भी तुंग तेल लगाया जाता है।

जल और पाले के प्रभाव को रोकने की क्षमता के कारण, वायुयान के लिए यह बहुत उपयोगी है। विशेष परिस्थितियों में तो, साबुन उद्योग भी इसका कुछ उपयोग करता है।

इस वृक्ष को वर्षा बहुत प्रिय है। आज से लगभग २० वर्ष पहले, तुंग के पेड़, भारत में पहले पहल आसाम में लगाये गये थे। ये वृक्ष खूब पनपे। किन्तु दुर्भाग्य से इनमें से बहुत से पेड़ 'नर' निकल आए। 'मादा' पेड़ों में भी, कुछ समय बाद, कम उपज के लक्षण दिखायी देने लगे। इसलिए, तुंग पेड़ लगाने का प्रयास, कुछ समय के लिए छोड़ दिया गया। चार वर्ष बाद यह कार्य फिर शुरू हुआ।

आज तो भारत में, तुङ्ग वृक्ष, आसाम, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, कश्मीर, बम्बई, मद्रास, मैसूर, कुर्ग और ट्रावनकोर-कोचीन में भी मिलेंगे। तुङ्ग वृक्ष की जो दो किस्में भारत में लगायी गयी हैं, उनको बहुत अधिक वर्षा की आवश्यकता होती है। किन्तु जहाँ ये वृक्ष लगे हों वहाँ पानी जमा नहीं होना चाहिए। इनमें से एक किस्म के पेड़ ४ हजार फुट से अधिक ऊँचाई के लिए तथा दूसरी के दो और साढ़े तीन हजार फुट की ऊँचाई के बीच के क्षेत्र के लिए उपयुक्त हैं।

तुंग पेड़ लगाने में, साधारणतः इसके बीज ही बोये जाते हैं, किन्तु इसकी कलम भी लगायी जा सकती है। दूसरे या तीसरे वर्ष में यह पेड़ फल देने लगता है। किन्तु आरंभ के फल लगते ही तोड़ दिये जाते हैं, जिससे कि पेड़ का विकास अच्छा हो। चौथे वर्ष से आगे, फलों को बढ़ने दिया जाता है। १५ वें वर्ष तक इसकी पैदावार बढ़ती रहती है और प्रति पेड़ लगभग ४५ पौंड तक पहुँच जाती है। १५ से २५ वर्ष तक उपज स्थायी रहती है और बाद में गिरने लगती है। इसके फल जब पक जाते हैं तो वे टूट टूट कर नीचे गिरने लगते हैं। इन्हें धूप में सुखाकर रख लिया जाता है।

इसके फल का औसत वजन २.५ ग्रेन और गिरी का १.५ ग्रेन होता है। गिरी से कोई ६४.६ प्रतिशत तेल निकलता है। पुराने ढंग से तेल निकालने में छीजन बहुत होती है। आधुनिक मशीनों के उपयोग से तेल अधिक निकलता है और वह होता भी बढ़िया है।

इस समय कलकत्ते में ही तुंग तेल निकालने की मशीनें लगी हुई हैं। भारत के तुंग क्षेत्र में विस्तार होते ही इन मशीनों की भी अधिक संख्या में आवश्यकता होगी।

तुंग क्षेत्र का व्यापारिक भविष्य उज्जवल है और गवेषणा से इसके उपयोग तथा महत्व में और भी वृद्धि हो सकती है।

विज्ञान-प्रचार की नई योजनाएँ

समय समय पर हम विज्ञान-प्रेमियों को संबोधित कर सहायता और सहानुभूति प्राप्त करने की विज्ञप्तियाँ, टिप्पणियाँ या सम्पादकीय निकालते रहते हैं। उनके उत्तर में कुछ पत्र हमें प्राप्त भी होते हैं; परन्तु अत्यल्प। हमारे सभ्य, ग्राहकों तथा उदार पाठकों में उत्साह की कमी तो नहीं है। परन्तु योजनाओं का कोई मूर्त रूप होने से हमें विशेष सहायता तथा प्रोत्साहन मिल सकता है। हम नीचे अपनी कुछ प्रस्तावित योजनाएँ दे रहे हैं।

परिचय-प्रचार—

हमारे एक मान्य सभ्य प्रो० नागराजन ने इच्छा प्रकट की है कि सभ्यों में परस्पर परिचय बढ़ाने की व्यवस्था की जाय। इस संबंध में हमारा सुझाव है कि केवल सभ्यों तक यह परिचय-प्रचार सीमित न हो। बल्कि हिन्दी-सेवी सभी वैज्ञानिकों का परिचय विज्ञान में, और फिर बाद में या साथ ही पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जाय।

इसके लिए हम विश्व विद्यालयों के विज्ञान विभागों, शोध संस्थाओं आदि में कार्य करने वालों की टोह में रहेंगे। आप स्वयं कुछ लेख, भाषण, पुस्तक प्रणयन या विज्ञान-प्रचार में संलग्न रहने वाले हैं तो अपना परिचय तथा साहित्य सेवा का विवरण निस्संकोच लिख भेजें। संकोची और लज्जालु अथवा विनम्र सज्जनों से प्रार्थना है कि वे किसी परिचित व्यक्ति का ही नाम लिख भेंजे जो उनके बारे में हमें सामग्री दे सकें या स्वयं लिख सकें। पत्र-व्यवहार करने और समुचित व्यवस्था करने के लिए हमारे पास न तो धन है, न कोई व्यवस्थित कार्यालय या कार्यकर्त्ता, अतएव विज्ञान द्वारा ही यह सूचना हम प्रकाशित करते रहेंगे किन्तु जो मौन रहकर ही, विज्ञापन बाजी से दूर रहकर वैज्ञानिक-साहित्य प्रचार के अनुष्ठान में योग दे रहे हों ऐसे आदर्श कर्मियों को भी हमें नहीं छोड़ना है। हम ऐसे उद्योग में विशेष संस्थाओं के विशेषांक भी निकाल

सकते हैं। संस्थाओं के संचालकों या उत्साही हिन्दी-प्रेमियों से हमारे उदार सभ्य, ग्राहक या विज्ञान-प्रेमी परिचित हों तो पत्र व्यवहार कर सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। इस संबंध में कोई वैज्ञानिक साहित्य-सेवी अपने चित्र का ब्लाक बनवाकर हमारी सहायता करें तो और भी सुविधा हो सकती है।

साहित्य-सेवा

उपर्युक्त महानुभाव ने ही हमारे मई के संपादकीय के संबंध में उत्तर देते हुए लेख लिखने का वचन दिया है। अन्य सज्जन भी रचनाएँ भेज कर हमें उत्साहित करेंगे। एक विशेष निवेदन हमें अपने नवयुवक उत्साही लेखकों से करना है। यदि वे छोटी मोटी पुस्तक रूप में किसी विषय पर अपनी रचनाएँ दे सकें जो सुपाठ्य तथा मनोरंजक हो और विज्ञान के एक या दो अंकों (लगभग ३२ या ६४ पृष्ठों) में पूर्ण हो सकती हो तो हम उसे विज्ञान के साथ ही पुस्तक का भी रूप देकर अपने पुस्तक भंडार की वृद्धि कर सकते हैं। धनाभाव में यह योजना बड़ी लाभप्रद सिद्ध हो सकती है।

ग्राहक संख्या

एक बार प्रचार पत्रक हमने छापा था। कुछ उत्तर आए थे। जो सज्जन कुछ विज्ञान-प्रेमियों के नाम देना चाहें उन्हें हम नमूने भेजेंगे। वे स्वयं भी ग्राहक होने के लिए उनको पत्र लिख सकते हैं। हम प्रचार के लिए विज्ञान की कुछ प्रतियाँ भी उत्साही कार्य कर्ताओं या एजेन्टों को भेजते रहने का प्रयत्न कर रहे हैं।

सभ्यों से निवेदन

अधिकांश सभ्यों को पुराने शेष सभ्य-शुल्क के लिए दो बार स्मरणपत्र भेजे जा चुके हैं। हम तीसरी बार, विज्ञान द्वारा उन्हें फिर सूचना दे रहे हैं। परिषद् की सहायता सभ्यों के शुल्क समय पर मिल जाने से हो सकती है। बाद में हम छपी पुस्तकें और विज्ञान दे कर उन्हें सभ्य-शुल्क से अधिक मूल्य का साहित्य देते हैं। फिर भी कई वर्ष तक सभ्य होने का लाभ उठाते रहने के बाद कुछ उदार महानुभाव सभ्य होने की अपनी असमर्थता या अनिच्छा प्रकट कर देते हैं। यह स्थिति बड़ी ही शोचनीय है। सभ्य नहीं ही रहना है तो निःशुल्क विज्ञान परिषद् की सेवाएँ ग्रहण करते रहना सौजन्य और शिष्टाचार की श्रेणी से निम्नस्तर की ही बात होगी अतएव सभ्य नहीं रहना है तो समय से सूचना दे दीजिए। हम भी समझ जाएँगे कि थोड़े सीमित सहायकों के बल पर ही कार्यक्रम पूरा करना है।

दूसरी बात सभ्यों के शुल्क की अवधि के संबंध है। सभ्य पूरे वर्ष के लिए होते हैं। अप्रैल से दूसरे वर्ष के मार्च तक एक वर्ष माना जाना चाहिए। बीच में सभ्य होने पर विज्ञान के पुराने अंक या अधिकारानुसार पुस्तकों की माँग कर सकते हैं।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६)

२१—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ—ले०—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२२—खाद्य और स्वास्थ्य—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२३—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफी के नवीनतम आविष्कारों का समावेश तथा फोटोग्राफरों के लिए अनेक नुसखे हैं। सजिल्द मूल्य ४)

२४—फल संरक्षण—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली, शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक, २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२५—शिशु पालन—लेखक-श्री मुरलधर बडाई बी० एस-सी०, प्रभाकर, गृहस्थ का उच्च आदर्श गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था का क्रम चित्रों द्वारा समझाया गया है। पृष्ठ संख्या १५० मूल्य ४)

२६—मधुमक्खी पालन—द्वितीय संस्करण ले०—पंडित दयाराम जुगड़ान; भूतपूर्व अध्यक्ष, ज्योलीकोट सरकारी मधुवटी; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों के लिए उपयोगी तो है ही, जनसाधारण को इस पुस्तक का अधिकांश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। ४८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, और नकशे, एक रंगीन चित्र, सजिल्द; ३)

२७—घरेलू डाक्टर—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी० घोष, एम० बी० बी० एस०, डी० टी० एम०, प्रोफेसर डाक्टर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच०, डी०, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। २६० पृष्ठ, १५० चित्र, आकार बड़ा (विज्ञान के बराबर); सजिल्द, ४)

२८—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—द्वितीय संस्करण सम्पादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, आकार बड़ा विज्ञान के बराबर २५२ पृष्ठ २००० नुसखे, १०० चित्र; एक-एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। प्रत्येक गृहस्थ के लिए उपयोगी; मूल्य सजिल्द ३।।)

नवीन पुस्तकें

फसल के शत्रु—ले० श्री शंकर राव जोशी	...	...	३।।)
साँपों की दुनिया—ले० श्री रामेश वेदी आयुर्वेदालंकार	...	...	४)
पोर्सलीन उद्योग—ले० श्री हीरेन्द्र नाथ बोस (का० वि० वि०)	...	...	।।।)
राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ ...	...	...	२)

पता—विज्ञान परिषद, बैंक रोड, इलाहाबाद।

सापों की दुनिया

लेखक—श्री० रमेश वेदी आयुर्वेदालंकार

मूल्य ४)

"साँपों की दुनिया" श्री रमेश वेदी द्वारा रचित सर्पविज्ञान सम्बन्धी एक मौलिक रचना है। सापों का रहन-सहन, भोजन आदतें, आकस्मिक आक्रमण से बचाव सर्प-विष के प्रकार, उसका मनुष्य एवं अन्य प्राणियों पर प्रभाव, सर्पविष चिकित्सा आदि विषयों पर लेखक ने अभी तक किये गये प्रयोगों एवं अनुसंधानों का सरल भाषा में सारांश दिया है।

भारतवर्ष में बहुतायत से पाये जाने वाले विषहीन एवं विषैले सापों का विस्तृत एवं सचित्र वर्णन भी दिया है तथा प्रत्येक जाति के सांप की शरीर-रचना, उसकी आदतें, रहन-सहन, भोजन, मनोविज्ञान इत्यादि का सुन्दर चित्र खींचा है। लेखक की भाषा रोचक है और शैली सुन्दर। हमारे पूर्वजों का सर्प सम्बन्धी ज्ञान, प्राचीन संस्कृत साहित्य में विभिन्न जाति के सर्पों का उल्लेख, सर्पों का वर्गीकरण विषैले एवं निर्विष साँपों की पहिचान, साँपों के विष-दन्त एवं विष ग्रन्थियों की रचना, सर्प-विष का मनुष्य और दूसरे प्राणियों पर प्रभाव, सर्प-विष चिकित्सा और सापों की आर्थिक उपयोगिता इत्यादि पर लेखक ने विस्तृत प्रकाश डाला है।

"सापों की दुनियाँ" साँपों से सम्बन्धित वैज्ञानिक अनुसन्धान, अवैज्ञानिक किम्बदन्तियाँ एवं अन्ध विश्वास, प्राचीन साहित्य में सापों का उल्लेख एवं तत्सम्बन्धी ज्ञान का निचोड़ है।

फसल के शत्रु

[लेखक—श्री० शंकरराव जोशी]

बहुत से कीट मानव-समाज का अहित करते हैं, कुछ कीट इन कीटों का ही संहार कर डालते हैं तथा कुछ कीट अन्य रूप से मनुष्य का हित करते हैं। सिद्धहस्त और अनुभवी लेखक ने इस पुस्तक में उन कीटों का वर्णन किया है जो मानव-जाति को विशेष हानि पहुँचाते हैं। वैज्ञानिक कृषि तथा व्यापारिक प्रतियोगिता के इस युग में इन जन्तुओं के करतब का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य ही है। फसलें बो लेना और प्रति एकड़ पैदावार बढ़ा लेना मात्र ही कृषि व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर लेना नहीं माना जा सकता। खेत में खड़ी फसलों और बगीचे के पौधों की शत्रु से रक्षा करना तथा गोदाम में रक्खी गई पैदावार को कीड़ों और रोगों से बचा लेना भी अत्यावश्यक है।

इस पुस्तक में फसलों, लकड़ी, कोठारों में भरे नाज, साग, तरकारी आदि सभी वस्तुओं की इन शत्रुओं से सुलभ साधनों द्वारा प्रभावोत्पादक रूप से रक्षा पा लेने की विधियाँ तथा उन शत्रु रूपी कीटों तथा रोगों की पूरी पहचान भी दी गई है। अतएव आशा है कि हमारे देश के प्रगतिशील किसान इस पुस्तक में वर्णित सुलभ वैज्ञानिक साधनों से अपनी कृषि को सुरक्षित और उन्नति करने का अवसर न चूकेंगे। अनेक चित्रों से कीटों तथा रोगों की पहचान सुगम करने का प्रयत्न भी किया गया है। हिन्दी में इस विषय पर इतनी सुन्दर तथा ब्यौरेवार पुस्तक अभी तक दूसरी नहीं निकली है। डबल फुलसकेप सोलहपेजी आकार के लगभग ३५० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ३॥)

पता—विज्ञान परिषद्, बैंक रोड, इलाहाबाद

Reg. No. 372

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उपसभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमंत्री, दो मंत्री, एक सम्पादक और एक अन्तरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ५) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश-शुल्क ३) होगा जो सभ्य चुने जाने के समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ ७० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, विवरणों इत्यादि बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम

सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद् बैंक रोड, इलाहाबाद

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

जुलाई, १९५२ भाग ७५
कर्क २००९ संख्या ४

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य तीन रुपये, एक संख्या का मूल्य पाँच आने।

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५

भाग ७५ | कर्क २००९; जुलाई १९५२ | संख्या ४

चन्दे का प्रश्न

चन्दे का प्रश्न कितना जटिल है! इसके संग्रह तथा उपयोग की भी कितनी विविध विधियाँ हैं! इसके अनेक रूपों पर एक विहंगम दृष्टि डालने से कितना ही अधिक कौतूहल प्राप्त होता है। आप रेलगाड़ी में यात्रा कर रहे हों; अपने गंतव्य स्थल तथा यात्रा की उद्देश्य-सिद्धि के अनेकानेक प्रश्नों तथा पहलुओं पर आप ध्यानमग्न होकर अपने समीप के प्रस्तुत वातावरण को जिस समय बिल्कुल भूल-से ही रहे हों कि कोई गोलकधारी आ टपकता है। अकस्मात गायन के नाम पर उसका पंचम सुर में दीर्घ आलाप बेचारे यात्री को चौंका ही देता है। "गौएँ मारी जा रही हैं, गौएँ काटी जा रही हैं, गोमाता की रक्षा के लिए गोशाला की तैयारी कीजिए।" आदि ऐसे ही प्रसंगों को छेड़ कर भजन के नाम पर गाने की अपेक्षा अपने गोलक को झकझोर झकझोर कर वह कर्णकटु शब्द का अधिक वेग कर आपका ध्यान तुरन्त ही अपने सारे आयोजन के मूल में द्रव्य की आकांक्षा बतलाने में विलंब नहीं करता। दान के पात्र व्यक्ति की परीक्षा करने वाले कुछ व्यक्ति उँगलियों पर गिनने लायक मिल जाते हैं, द्रव्य का मोह रख कर उससे तनिक भी विछोह सहन न कर सकने वाले लोभी पुरुष भी अपनी कुछ गिनती रखते ही हैं। फिर भी हमारे इस धर्मभीरु देश में दानवीरता का आदर्श दिखाने वाले नररत्न थोड़े नहीं! गोलक में पैसे दो पैसे डाल देने से ही जहाँ वेगपूर्वक डूबती धर्म-नौका बचा लेने का श्रेय मिल जाता हो वहाँ इतने सस्ते पुण्यकार्य को करने से क्यों मुँह मोड़ा जाय! अस्तु।

चाहे जो हो, गोलक में पैसे का दान सब की दृष्टि में आता है। किन्तु उन पैसों के बाहर निकलने या किसी जनोपयोगी पुण्य कार्य में व्यय होने का दृश्य एक ओट के पीछे की ही घटना होती है। यथार्थ में उसका रहस्य तो दाता गणों को कभी देखने का प्रायः अवसर नहीं आता। दाताओं के हृदय में गोलकधारी के महत् उद्देश्यों के प्रति चाहे जितनी अधिक आस्था हो, उसका गोलकधारी के अभीष्ट साधन में विशेष स्थान नहीं होता। द्रव्य-प्राप्ति के लिए उसे महान उपकारिणी संस्थाएँ खड़ी रखने की अपेक्षा नहीं होती, उसके आयोजन में संचालक समिति, मंत्रिपरिषद किंवा लेखा-जोखा या आय-व्यय के निरीक्षण के झमेलों की भी झंझट नहीं रखनी पड़ती। उसे तो बस एक गोलक चाहिए, गोलक पर कोई गोशाला, अनाथालय या दातव्य

संस्था के बहुरंजित नाम तथा संकेत-पट चाहिए तथा गोलक को दुर्भेद्य अभिव्यक्त करने के लिए मुख पर ताला बंद चाहिए। इन उपकरणों के साथ एक अधिक आवश्यक साधन और भी चाहिए। उसे हम माँग सकने का साहस, निर्भीकता या पटुता कह सकते हैं। बस उसको चन्दा मिलने के लिए दाताओं की द्रव्य-पोटली खुलने में बहुत व्याघात नहीं प्रतीत हो सकता। ताला की कुंजिका किसी के पास हो, इसकी श्रद्धालु या सरल स्वभाव के दाता को चिन्ता करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि थोड़े परिश्रम तथा वाह्याडंबर से ही आय का स्रोत खुलने वाला हो तो बहुरंजित गोलक बनवाने या एक ताला क्रय कर उसकी कुंजी केवल दर्शक की दृष्टि से परे या अपनी ही जेब में रख लेने की व्यावहारिक बुद्धि रखने वाले व्यक्तियों का अभाव नहीं हो सकता। अस्तु।

गोलक नहीं तो, लिखित या मुद्रित विज्ञाप्ति-पत्रक या प्रमाणपत्र ही सही। अमुक परिवार दैवसंयोग वश महान संकटग्रस्त हो गया, उसके सभी वयस्क सदस्य (पुरुष) गोलोकवासी हो गए। उसी परिवार की अनाथ संतान दाता के सम्मुख है जो दान पाने की अधिकारिणी है। अमुक स्थल अकाल या जलप्रलय से अभावग्रस्त हो गया, उसी के निराश्रित निवासी दाता के सम्मुख दान की याचना करते हैं; इस तरह के भावों की प्रार्थना लिखित या मुद्रित कराकर उस पर हस्ताक्षर कराने के लिए उदारमना सज्जनों की कमी नहीं हो सकती, विशेष कर उस स्थिति में, जब कि हस्ताक्षरकर्त्ता के नाम-धाम आदि के सम्बन्ध में कोई जानकारी ही न मिलनी हो या दाता को उसकी कोई चिन्ता करने की आशंका ही न हो।

संकेत-पट या विज्ञप्ति-पत्रक के बिना भी स्वच्छ वस्त्र धारण कर ही भिक्षाटन की वृत्ति वाले महानुभाव सड़क पर, गली में, घरों में भोले भोले सज्जनों से साक्षात्कार करने या मार्ग रोक लेने का प्रयत्न करते देखे जाते हैं। कहीं जा रहे थे, सब कुछ समान चोरी चला गया, द्रव्य की थैली जेब से निकल गई। वे घर जाने के लिए लाचार हैं, थोड़ी सहायता से घर पहुँच सकना संभव है आदि विचारद्योतन उनके प्रचुर लाभ का कारण हो सकता है। मार्गव्यय के लिए ही सही, थोड़ा ही द्रव्य सही, परन्तु दिन भर अनेक दाताओं के यहाँ एक ही प्रश्न का निराकरण कराने पहुँचने के उद्योग से निराकरण की सामग्री टिकाऊ समस्या की बहुगुणित गुरुतर समस्याएँ भी हल कर सकती है। दैनिक यात्रा द्वारा सारी आयु भर ऐसी व्यवस्था से अर्जन करते रहना कोई भारी प्रश्न नहीं हो सकता है। स्थान तथा दाता वर्ग के नए नए होने से आय स्थायी हो सकती है।

हमने निश्चय ही भिक्षाटन या चन्दा के नाम पर याचना के पहलुओं पर वैज्ञानिक दृष्टिपात करने का प्रयत्न नहीं किया है। हमने केवल प्रसंग वश ही इन बातों की कुछ चर्चा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सहज धन-प्राप्ति के साधनों की बहुलता का कहीं अन्त नहीं है। हमने ऊपर जो चन्दे के नाम पर धन संचय कर व्यक्तियों के ही लाभ उठाने की बात लिखी है, वह सर्वव्यापी नियम नहीं कहा जा सकता है। अनेक शुद्ध प्रचारक या संस्थाएँ भी अपने साधनों से इसी प्रकार धन एकत्र करती पाई जा सकती हैं, परन्तु कहीं कहीं तो यह चक्र ही पलटता दिखाई पड़ता है। संस्था के ही उपयोग के लिए सही, परन्तु याचना का साधन इतना हीन किंवा हेय देखा जा सकता है कि उसकी वीभत्सता सामाजिक भर्त्सना का विषय हो सकती है। नारी-उद्धार के नाम पर, कुलीन परिवारों से वहिष्कृत नारियों के प्रश्रय स्थान बनने वाले, ऊँची अट्टालिकाओं जैसी विशाल संस्था रख कर भी उन्हें सौ दो सौ रुपए पर बेचते ही नहीं देखते, बल्कि कलंकित या गर्भिणी कन्या-रत्न की मूल्य वृद्धि के लिए गर्भपात करा देने का साहस करने वाली सामाजिक व धार्मिक संस्थाएँ पाई जा सकती है। महर्षियों के आदर्शों की अनुगामिनी संस्थाओं में भी ऐसा शोकप्रद दृश्य देखा जा सकता है।

हम इन सामाजिक समस्याओं, सुधारक-समाजों एवं किन्हीं भी सुधार-कृत्यों के औचित्य-अनौचित्य की छानबीन में तनिक भी पड़ने की इच्छा न रख कर केवल चन्दे या याचना के प्रश्नों पर ही कुछ कह कर चुप लगाना चाहते हैं। धन तो आवश्यक ही है, हम भी एक संस्था हैं, हमें भी याचना करनी है, सार्वजनिक हित के लिए याचना या धन की माँग ही चन्दा नाम

से अभिव्यक्त होता है। जघन्य या सुसंस्कृत कोई भी सुगम साधन यह याचना या दान की माँग अधिक फलवती कर सकने के लिए हमारे पास नहीं है। गोलक भी नहीं है। पत्रक भी नहीं हैं। प्रचारक भी नहीं हैं। सदुद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई अन्य जघन्य साधन भी तो हमे दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत हमारे पास केवल असुविधाएँ ही असुविधाएँ हैं। हम उसके कुछ उदाहरण भी देते हैं :—

सभ्य शुल्क के नाम पर प्रथम वर्ष का ३) प्रवेश शुल्क छोड़ दीजिए और अन्य वर्षों का ३) वार्षिक विज्ञान का चंदा निकाल दें तो ३) शेष रहता है। औसत ।।) डाक व्यय लगाकर हम अपना उस वर्ष का नवीन प्रकाशन भेजने की व्यवस्था रख सकते हैं। शेष २।।) हमारे पास जो शेष रहा, वही पुस्तक की लागत में समझा जाना चाहिए।

हमारे कुछ सहायक उत्साह में नए सभ्य बनाना चाहते हैं, पुस्तकें और विज्ञान हम बाँट देते हैं, केवल इस आशा पर कि सभ्य शुल्क आ जायगा। किन्तु पिछले लेखा को देखकर जब हम ५, ५ वर्षों का चन्दा अर्द्धांश सभ्यों पर अब भी शेष देखते हैं तो नवागंतुक सभ्यों पर अपनी माँग का दबाव कहाँ तक डालें।

उत्तर प्रदेश की सरकार ने पिछले वर्ष हमारी सहायता की। वार्षिक सहायता भी कुछ मिल ही जाती है, परन्तु पुस्तक का प्रकाशन, विक्रय, परिश्रम तथा द्रव्य-साध्य कार्य हैं। वैतनिक कर्मचारी एवं साहित्यिक सहायक, कार्यालय आदि की व्यवस्था के लिए यथेष्ठ धन चाहिए। विज्ञान के कम से कम दो हजार ग्राहक हों, तभी उसको बहुत सुन्दर रूप दिया जा सकता है। केन्द्रीय सरकार से हम बहुत कुछ आशा रख सकते हैं, परन्तु इतना ही नहीं कि हमें अब तक एक पैसे की सहायता ही नहीं मिली, बल्कि उस दिन केन्द्रीय सचिवालय के वैज्ञानिक अनुसंधान तथा प्राकृतिक शक्तियों के विभाग के एक मुख्य अधिकारी द्वारा विज्ञान को निश्शुल्क प्रति मास भेज देने की अभ्यर्थना हमें पढ़ने को मिली तो हम स्तब्ध रह गए। किन्तु हम तो लगभग ४० वर्षों से ही कठिनाइयों का सामना करते आ रहे हैं। कार्यकर्ताओं के अभाव तथा कठिनाइयों के वार्धक्य से कभी साल भर तक हमारे मासिक विज्ञान का प्रकाशन नहीं हो सका फिर भी हमारे कृपालु पाठकों तथा उदार सभ्यों ने हमारा साथ नहीं छोड़ा। अतएव हम अब तो प्रति मास विज्ञान को किसी भी रूप में निकालते जाने की सफलता देखकर अपना साहस बढ़ाते ही जायँगे।

इन परिस्थितियों में हम आत्मावलम्बन की शिक्षा देने का स्वांग नहीं रचना चाहते, बल्कि यथार्थतः अपने पैरों खड़े होने का उद्योग कर रहे हैं। जो विज्ञान के प्रेमी हैं, जिनमें थोड़ा भी उत्साह हमें दिखाई पड़ता है उनके पास बिना मांगे ही, दस पांच प्रतियां विज्ञान की भेजेंगे। उनके बताए पतों तथा एजेंटों के पास भेजेंगे, विक्रेताओं को मुफ्त भेजेंगे। जो हमारे उद्देश्यों से सहमत हों, हमारे उद्योगों की दुर्बलता पर विश्वास न रखते हों वे सज्जन ग्राहकों में अपने मित्रों, परिचितों आदि का नाम लिखावें। जो सज्जन दान-धर्म के अभ्यस्त हों वे १००, ५० ग्राहकों का शुल्क भेज कर हमारा हाथ बटाएँ। हम तो नमूने जितना छापकर भेज सकने की शक्ति रखते हैं, उतना प्रति मास भेजेंगे, इसलिए आप शुल्क में रियायत का कोई प्रश्न उठाने का उद्योग न करें, आप जो द्रव्य भेज सकते हों, भेजें। जितना अधिक प्रचार उस द्रव्य से आप कराना चाहें, लिखें, अपने चुने पते दें, हमें ही पते ढूँढ़ने या मुफ्त विज्ञान लेने वालों की होड़ कराने दें। आप को द्रव्य के सद्व्यय के संबन्ध में कोई भी शिकायत न होगी, इसका आप पूर्ण विश्वास रक्खें। साहित्यिक प्रतिदान करने वाले बंधुओं से हम पहले ही प्रार्थना कर चुके हैं। उनकी कृतियां रूप में दान भी हमारी भारी सहायता है जिसे हम कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करना चाहते हैं। क्या आप से किसी न किसी प्रकार के व्यावहारिक सहयोग का हम पूर्ण भरोसा रख सकते हैं? आप के उत्तरों एवं क्रियात्मक सहयोग की विज्ञप्ति विज्ञान में प्रकाशित कर प्रति मास ही हम अपने इस प्रश्न का उत्तर प्रचारित करते रहेंगे।

हिमानी

[लेखक—श्री पुष्कर सिंह बी० एस-सी० (आनर्स) डी० आई० केम०

प्रकृति के सौन्दर्य-भंडार में हिम नदों या लेखक के शब्दों में हिमानी का कितना उच्च स्थान है, इसका अवलोकन पाश्चात्य जगत में आज के पर्वतारोहियों की असीम संख्या देख कर किया जा सकता है। हमारे देश में भी कुछ हिमनद यात्रियों के तीर्थ बने मिलते हैं। हिमनदों का सुन्दर विवेचन लेखक ने इस लेख में किया है।

पृथ्वी के विस्तृत प्राकृतिक सौंदर्य के निर्माण में जल के तीनों रूप वाष्प, सलिल तथा स्थूल सहायक होते हैं। इस लेख में जल के स्थूल रूप का विवरण दिया गया है।

भूत में लोग हिमानी के बारे में जानने के लिये उतने उत्सुक नहीं दिखते थे और अब जो ग्लेशियर देखे जाते हैं वे सब प्राकृतिक सौंदर्य के प्रेमीजनों के उत्सुकता के परिणाम है। ये प्रेमीजन अठारहवीं शताब्दी के विलियम वर्ड्सवर्थ (William Wordsworth) के प्रकृति के प्रेमी थे। जिनेवा के प्रोफेसर (Horace-Benedict de Saussure) ने १७७६ में अपनी पुस्तक Journeys in the Alps) के द्वारा सबसे प्रथम हिमानी की कहानी दुनिया के शिक्षित समाज के सामने प्रस्तुत की। इसके बाद विद्वानों और पर्वत-प्रेमियों ने इधर उत्सुकता दिखलाई। केप्टिन स्काट की अन्टार्कटिक यात्रा तथा फ्रांस और स्वीटजरलैन्ड के वैज्ञानिकों की हिमालय-यात्रा (१९५२) ने लोगों के ध्यान को हिमानी के बारे में जानने की ओर केन्द्रित किया।

हिमानी किस तरह बनती है? हिमानी किस तरह बहती है? क्या वर्तमान हिमानी प्राति-नूतन-युग Pleistocene Period) के अवशेष हैं? ये सब नीचे लिखे लेख में दर्शाया गया है।

बनावट—दुनिया के स्थल विभाग का करीब ९/१० हिस्सा ६० लाख घन मील, निरन्तर हिम से आच्छादित है। यदि ध्रुव-प्रदेशों के सब बर्फ को पिघला दिया जाय तो समुद्र-सतह में १५० मील की वृद्धि हो सकती है।

तुषारपात की क्रिया जलवायु पर आश्रित है। बर्फ के निरन्तर वर्षा होने से बर्फ वृहत् रूप में इकट्ठा हो जाता है। जिन स्थानों में तुषारपात की मात्रा बहुत अधिक और थोड़े काल के अन्तर से होती है तथा गर्मी में उसके पिघलने की मात्रा कम होती है, वहां के क्षेत्रों में तुषार की मोटी तहें जम जाती हैं। तुषार का प्रत्येक तह घना होकर हिम का छोटा सा पिन्ड बना लेता है। इस समय वायु मिश्रित होने से बर्फ का रूप रवेदार तथा नीले रंग का होता है। हिम की इस दशा को कण-शीन (Nevo) कहते हैं। हिमपिण्ड की अधिकता के कारण हिमानी की उत्पत्ति होती है। केन्द्राकर्षण के कारण बहते हुए हिमपिण्ड का नाम ही ग्लेशियर है। बर्फ से निरन्तर आच्छादित ऐसे प्रदेशों को हिमक्षेत्र (Snow Fields कहते हैं। आस्ट्रेलिया के सिवाय हर एक देश में स्थायी हिमक्षेत्र पाये जाते हैं। भारत में ऐसे पाये जानेवाले हिमानी के नाम गंगोत्री, जमनोत्री, पिन्डारी, मिलम, जेमू, हिस्पर, बटूरा तथा बोल्टोरो हैं। ये हिमानी किसी भी अक्षांश में अधिक ऊँचाई पर और किसी भी ऊँचाई पर अधिक अक्षांश में पाये जाते हैं। किसी स्थल की सबसे कम ऊँचाई, जहाँ पर निरन्तर हिमक्षेत्र बना रहता है, हिमरेखा (Snow line) कहलाती है।

दुनिया के कुछ हिमरेखा की समुद्र-सतह से ऊँचाई

ग्रीनलैण्ड	२२०० फुट
लापलैन्ड	३००० फुट
नार्वे	५००० फुट
आल्पस	६००० फुट
हिमालय (दक्षिण वर्त्त)	१३००० फुट
(उत्तर वर्त्त)	१६००० फुट
मेक्सिको	१४००० फुट
एन्डीज (बोलिविया)	१६००० फुट

हिमानी की चाल :—हिमानी इतनी धीरे बहती है कि एक मामूली आदमी को उसकी चाल स्थायी प्रतीत होती है। हिमानी की चाल पांच शर्तों पर निर्भर है—(१) घाटी की ढाल (२) हिम की मोटाई (३) हिम का ताप (४) हिम में जल की मात्रा तथा (५) हिम में शैल-चूर्ण की मात्रा।

हिम की सबसे तेज चाल ६० फुट प्रतिदिन है। औसत ग्लेशियर की चाल ३ से ५ फुट प्रतिदिन तक होती है। हिमानी में पड़े इर्द-गिर्द धूल काकपद के आकार में बहते हैं जिसकी नोक मध्य में होती है। हिमानी की चाल जानने के लिये हिमानी के एक छोर से दूसरे छोर तक, एक निश्चित स्थान पर खूंटियाँ लगा दी जाती हैं। इस विधि से यह मालूम होता है कि ग्लेशियर की चाल मध्यस्थ में अधिक तथा पार्श्व में कम होती है। ग्रीनलैंड के अधिकांश हिमानी की तेज चाल का कारण उसका समुद्र में विलीन होना है। ये हिमपिण्ड समुद्र में हृदय-द्रावक आवाज के साथ विलग होते हैं और साथ ही एक धुँआधार के समान जल के छींटे उड़ाते हैं जो जुदाई का परिचय देते हैं। ये हिमखंड हिमप्लवा (Ice bergs) कहलाते हैं। ये हिमखंड पानी में ९।१० हिस्से तक डूबे रहते हैं। वे हिमघाटियाँ जो समुद्र के किनारे में विलीन हो जाती हैं (Fjord) फियोर्ड कहलाती हैं। इस प्रकार की घाटियां नार्वे में बहुतायत में पाई जाती हैं। हिमानी की गति-विधि के बारे में वैज्ञानिकों में मतभेद है—(१) हिमानी, नदी के समान, एक गाढ़ी हिम नदी है जो अपने भार के कारण बहती है।

(२) दूसरे मताधिकारों का कथन है कि ताप के कारण बर्फ के टुकड़े पिघल जाते हैं। असमान दबाव के कारण भी जल-कण बनते हैं। ये जलकण तेल के समान, हिमानी की चाल में सहायक होते हैं। (Hess) हेस ने पानी मिश्रित हिमानी की चाल को १६ गुना बढ़ते देखा है।

(३) तीसरे मत वाले हिम के कण की दरारों को उसकी चाल में सहायक समझते हैं।

(४) अगासिज (Agassiz) और फोर्ब्स (Forbes) ने फैराडे (Faraday) के पुनःश्यान (Regelation) के अनुसार हिमानी की चाल का कारण अनुमोदन किया है।

(५) हिमानी की चाल उसके रेंगने की क्षमता के ऊपर निर्भर है। हिमानी की चाल की विभिन्नता एकत्रित चॉप के कारण, उसके आकृति-परिवर्त्तन से महसूस होती है। इस प्रकार की विकृति को धातुविद्या में रेंगना कहते हैं। इसकी भौतिक प्रक्रिया अति क्लिष्ट है। प्रधानतः रवों के परमाणु की पुनः रचना के कारण रवों में फिसलने की क्षमता आ जाती है। तापजनक शक्ति के कारण परमाणु में पुनः रचना के गुण आते हैं।

रेंगने का मूल नियम :—(अ) यदि बर्फ का ताप स्थिर रखा जाय और उसके बल को अस्थिर रखा जाय तो उसके रेंगने की क्षमता लम्ब कार्य के बजाय शक्तिवृद्धि एक्सपोनेनशियल कार्य के अनुसार बदलती है।

(आ) एक निश्चित चॉप के नीचे रेंगने की क्रिया नहीं होती है और विकृति बाह्य बल के अनुसार होती है जो एक प्रत्यास्थ है। इस कम से कम चॉप को चॉप-प्रदान (Yielding Stress) कहते हैं।

(इ) एक निश्चित चॉप पर, बर्फ के रेंगने की क्षमता उसके ताप के ऊपर निर्भर है। ताप की मात्रा, द्रवणांक के जितनी पास आती है, उतनी उसकी रेंगने की क्षमता -२०°c से १°c पर लाने से १००० गुना बढ़ जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि कम ताप पर बर्फ ठोस होती जाती है।

ये उपरोक्त रेंगने के तीनों मूल-नियम हिमानी की चाल के कारण को सिद्ध करते हैं।

हिमानी के प्रकार—वृहत रूप से हिमानी के दो भाग किये जा सकते हैं—(१) हिम नदी और (२) हिमाँश टोपियाँ।

परन्तु आकार और विस्तार के विचार से हिमानी के तीन प्रकार हो सकते हैं—(१) पर्वतीय या घाटीय हिमानी (२) गीरि-पाट हिमानी और (३) हिमावरण तथा हिम टोप।

पर्वतीय या घाटीय हिमानी—अधिकांश हिमानी नदी से बनाई हुई घाटियों में बहते हैं। हिमानी की उत्पत्ति वाला स्थान सदैव हिमाच्छादित रहता है। ये उत्पत्ति के स्थान में चोड़े होते है क्योंकि उसका आरम्भ विस्तृत हिमक्षेत्र से होता है जो बहुधा पर्वतों की ऊँची खुली चौड़ी चोटियों पर बहता है। हिमानी की लम्बाई एक आध मील से लेकर सैकड़ों मील तक होती है। हिमानी की गहराई भी पांच दस फुट से लेकर हजारों फुट तक होती है। हिमानी की गहराई उसके जृम्भण में पत्थर डालकर पता लगाया जाता है। जृम्भण में पत्थर डालने से कोई आवाज नहीं होती है तो उसकी अगाध गहराई का परिचय देता है।

हिमानी, घाटियों के सर्पिण रास्तों में से होकर बहती है। शिखर से उतर कर जब हिमानी नीचे आती है तब उसको पर्वतों की संकीर्ण घाटियों में होकर आगे बढ़ना पड़ता है इसलिये हिमानी ऊपरी भाग में अधिक चौड़ी होती है परन्तु ज्यों ज्यों आगे बढ़ती जाती है त्यों त्यों संकीर्ण होती जाती है।

ये हिमानी शैल-बाहुओं से कंकड़ पत्थर तथा रोड़ेण इकट्ठाकर अपने साथ लाती है। ये अपने अपघर्षण क्रिया के कारण शैल पुंजों में आरामकुर्सी की तरह गोल शक्ल बना लेती है इसे सर्क (Cirque) कहते हैं। सर्क की उत्पत्ति के बारे में वैज्ञानिकों में मतभेद है :—(१) गारवुड (Gar wood) का कथन है कि हिमकाल के पूर्व और पश्चात तुषारपात द्वारा मौसमी क्षति से सर्क बनता है। (२) डबलू० डी० जोहानसन (W. D. Johanson) का मत है कि जब हिमानी हिमखंड से बाहर निकलता है उस समय हिम फट सा जाता है और हिमानी और हिमखंड के बीच चौड़ी दरार दिखाई देने लगती है इसे Bergschrund कहते हैं। इसी तरह के कई Bergschrund मिलकर सर्क बनाते हैं। (३) डबलू० एच० हाब्स० (W. H. Hobbs) ने सर्क की बनावट मनुष्य की जीवन-सीढ़ियों के समान कहा है।

गीरि-पाट हिमानी—ये हिमानी समध्रुव प्रदेशों में पाये जाते हैं। गर्मी के कारण किनारे की बर्फ पिघल जाती है और उसके बदले कंकड़ पत्थर तथा शैल-चूर्ण किनारे किनारे जम जाते हैं।

हिमावरण और हिम-टोप—हिमागार में चारों तरफ हिम ही हिम दिखलाई पड़ता है, इसे हिमावरण कहते कुल ६० लाख घन मील हिमक्षेत्र में से करीब ५० लाख घन मील हिम टोप से आच्छादित है। क्षीणकाय हिमानी, हिमागार में छितरे हुए हिमांश के रूप में जमा दिखाई देता है। ये हिमांश हिम-टोप कहलाते हैं। जर्मनी के एक वैज्ञानिक शाला के विशेषज्ञ वेजनर (Wegener) की ग्रीनलैंड की यात्रा हिम-टोप के बारे में उल्लेखनीय है। हिमावरण और हिमानी में आकार और विस्तार का अंतर है साथ ही एक अंतर यह भी है कि हिमावरण हिमानी की भाँति घाटियों में ही सीमित रहने वाला नहीं है वरन पर्वत और घाटियों के ऊपर तह की भाँति समान रूप से चढ़ा रहता है जिससे कहीं कहीं ऊँचे पहाड़ों की चोटियाँ भी छिप जाती हैं।

हिमानी के कार्यः—हिमानी की प्रक्रिया-प्रणाली दो प्रकार की होती है—(१) क्षयात्मक क्रिया (२) रचनात्मक क्रिया।

क्षयात्मक क्रियाः—हिमानी की क्षयात्मक क्रिया अपघर्षण (Abrasion) खुदाई (Corrosion) (Quarrying) क्रिया द्वारा होती है। ये हिमानी शिलाखंडों और शैल-पुंजों को रगड़कर उखाड़ फेंकते हैं। ये विघर्षण तथा दारण (wear and tear) क्रिया से शैल बाहुओं को खोखला बना देते हैं। ये अकसर भेड़ की शक्ल के होते हैं। इन खोखले शैल-बाहुओं को अवि-पृष्ठ (Roches mountonnee's) कहते हैं। इस प्रकार के अवि-पृष्ठ हिमानी-युग का शोषण करते हैं।

जिस तरह नदी की क्षयात्मक क्रिया उसके जल-प्रवाह में अनुमान की जाती है उसी तरह हिमानी की क्षयात्मक क्रिया हिम की मोटाई से पता लगती है।

नदी की खुदाई प्रक्रिया उसके समुद्र सतह तक ही सीमित रहती है परन्तु हिम की खुदाई प्रक्रिया समुद्र सतह से भी नीचे होती है।

जिस तरह नदी का अपघर्षण तत्व स्वयं ही घिस जाता है उसी तरह हिमानी युक्त तत्व नोकदार, चिकने तथा सुघर दीखते हैं।

जिस तरह नदी की घाटियाँ काकपद (V shaped) वी आकार की तरह होती है उसी तरह हिमानी निर्मित नदी यू (U) आकार की होती है।

जब शैल-चूर्ण हिमानी की तली में फँस जाते हैं तो वे रगड़ खाते, करवट बदलते, त्रिपुंड के आकार के हो जाते हैं। इस प्रकार के पत्थर के टुकड़े साल्टरेंज (Salt-Range) तालचिर स्टेज तथा काश्मीर में पाये जाते हैं। शैल-चूर्ण यह बतलाते हैं कि गीरि-युग (Permian Period) और प्राति-नूतन-युग (Pleistocene) हिम से आच्छादित थे।

कभी कभी एक मुख्य हिमानी में सहायक हिमानी मिलती है। मुख्य हिमानी में हिम की अधिकता के कारण उत्खनन क्रिया अधिक होती है। सहायक हिमानी में बर्फ कम होने के कारण टंगी रह जाती है जो निलम्बि-हिम नदी (Hanging glacier) कहलाती है।

रचनात्मक कार्य:—हिमानी अपने साथ शैल-बाहुओं से छीनकर कंकड़ पत्थर और रोड़े जमा करके लाती है। इसे हम हिमानी ऊढ़ (Glacial Drift) कहते हैं। इसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) वह जमाव जो सिर्फ हिमानी के द्वारा होता है हिमानी-अवसाद (Glacial deposit) कहलाता है और (२) वह अवसाद जो पानी मिश्रित हिम के द्वारा होता है हिमानी-जल-अवसाद (Glacio-fluviatile-deposit) कहते हैं। इस हिमानी-ऊढ़ को हम उसके पर्त बनाने की प्रणाली से भी दो हिस्सों में बाँट सकते हैं-(अ) वह अवसाद जो तह के रूप में इकट्ठा होती है उसे स्तर मय अवसाद और (आ) जो पर्त नहीं बनाती उसे स्तर-रहित अवसाद कहते हैं। हिमानी-अवसाद और हिमानी-जल-अवसाद दोनों में स्तरमय तथा स्तर रहित अवसाद होते हैं।

ग्लेशियर-स्थित शैलचूर्ण के ढेर को हिमोढ़ (Moraine) कहते हैं। हिमोढ़ हिमानी के दोनों छोर में पाये जाते हैं उन्हें पार्श्वस्थ हिमोढ़ कहते हैं। जब दो हिमानी मिलते हैं तो उसे हिमानी-संगम कहते हैं। दोनों हिमानी के पार्श्वस्थ हिमोढ़ संगम केन्द्र से मध्य में एक लम्बे अवसाद के रूप में जमा होते हैं उसे मध्यस्थ हिमोढ़ कहते हैं। उस हिमोढ़ के दोनों बाजू शैल-चूर्ण एक पैने चाकू के धार के समान एकत्रित होते हैं जिन्हें सकोण शैल (Knife Edge) कहते हैं। अंत में कंकड़ और पत्थर के ढेर अर्थात् हिमोढ़, हिमानी के अंतिम छोर पर पहुँचता है यहाँ पर हिम गलकर पानी बन जाता है। यह जल शैल-चूर्ण को अपने साथ ले जाने में असमर्थ रहता है और शैल-चूर्ण वहाँ पर अवसाद के रूप में छूट जाते हैं जिसे अंतिम हिमोढ़ कहते हैं। यह दूज के चन्द्रमा के आकार का होता है ऐसे स्थानीय भौगोलिक विवरण को Hummocky Topography कहते हैं। आधार हिमोढ़ उन्हें कहते हैं जब अवसाद, हिमानी की तली में दबे रहते हैं। तहरहित आधार-हिमोढ़ को बोल्डर्स और स्तरमय आधार हिमोढ़ को ड्रमलिन्स (Drumlins कहते हैं। यह एक पहाड़ी-नुमा, उलटे हुए नाव के आकार का होता है जिसके दोनों छोर नोकदार होते हैं। इसकी ऊँचाई ५० फुट से ३०० फुट तक होती है। इस प्रकार के अवसाद जहाँ पर पाये जाते हैं वहाँ हिमानी का प्रकोप प्रतीत होता है।

शैल पुंजों से छीनकर लाये गये बड़े बड़े ढोके हिमानी पर सवारी करते अंतिम छोर तक पहुँच जाते हैं। ये ढोके स्तररहित होते हैं। ये ढोके बहुधा टील (Till) कहलाते हैं। जो ढोके ऐसे स्थान में पाये जाते हैं जो अपने प्रारंभिक जगह पर नहीं पाये जाते हैं इसे अपोढ़ (Erratics) कहते हैं। कभी कभी ग्लेशियर स्थित रोड़े बर्फ के धीरे धीरे पिघलने के कारण एक ही किनारे पर टिक जाते हैं और दरवाजे के कब्जे के अनुसार एक ही किनारे पर वर्षों खड़े रहते है। यह हाथ में आगे या पीछे सरकाये जा सकते हैं इसे बोझील शिला (Iogging Stone) कहते हैं।

हिमानी-जल-अवसाद

हिम और जल की सहायता से समन्वित अवसाद को हिमानी-जल-अवसाद कहते हैं। ये अवसाद दरी के

लम्ब छोरों पर पाये जाते हैं। ये सीढ़ी के समान स्तर रहित अवसाद घाटीय-टेरेन (Terrain) कहलाते हैं।
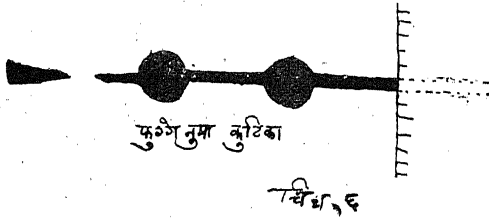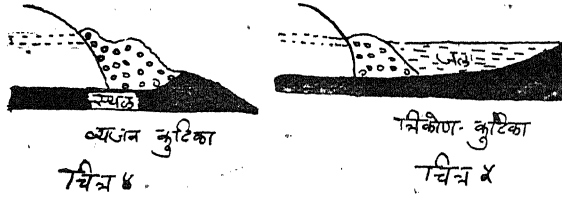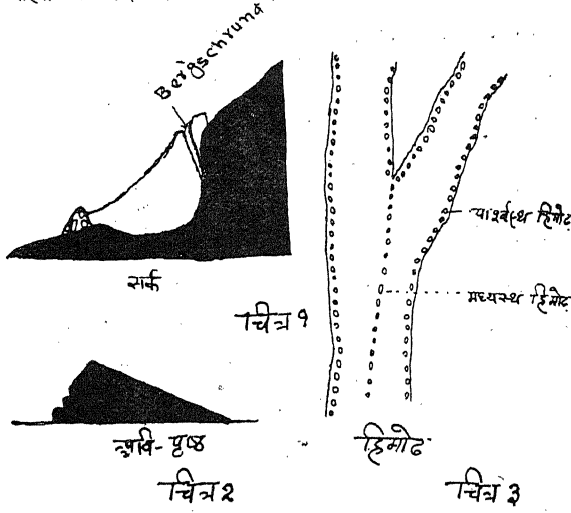
हिमावरण के किनारे से बहती हुई नदियाँ व्यजन (Fans) बनाती हैं इन्हें हिम-व्यजन कहते हैं। ऐसे बहुत से व्यजन मिलकर प्लेन (Plain) बनाते हैं। ये प्लेन्स अंतिम हिमोढ़ के परे रहते हैं। इसे आउटवाश प्लेन्स (Out wash Plains) कहते हैं। हिम-निवर्तन के समय ऐसे प्लेन्स पर ओखली के आकार के बहुत से गड्ढे बन जाते हैं। उस समय इसे गर्त्तीय-प्लेन्स (Pitted Plains) कहते हैं।

कुटिका (Eskers) :—सर्पिणी की तरह सकोण-शैलचूर्ण के अवसाद को कुटिका कहते हैं। ये कुटिका उस समय बनती हैं जब हिमानी ऊँचे खाई वाली घाटियों से बाहर निकलती हैं। ये अवसाद स्तर रहित होती हैं। हिम-निवर्तन के समय हिमानी की हरएक रुकावट फुग्गे के निशान से अंकित रहती हैं। अकसर कुटिका व्यजन, त्रिकोण या फुग्गे बनाती हैं।

जब ये कुटिका नोकदार होती हैं तब उसे कंकतगीरि (Kames) कहते हैं। कंकतगीरि और कुटिका में इतना अन्तर है कि कुटिका हिमानी की तली पर, ऊपर या नीचे जमा होती हैं और कंकतगीरि हिमानी के किनारे जमा होता है।

हिमानी जृम्भण को विदार (Crevasses कहते हैं। जब शैल चूर्ण की मात्रा इतनी अधिक होती है और मध्यस्थ भाग की चाल तेज होती है उस समय हिमानी में दरारें पड़ जाती हैं। ये दरारें कभी लम्बाकार कभी आड़ी और चौड़ाई को पार करती हैं।

गर्भस्थ शिशु की कहानी

मूल लेखक— मारग्रेट गिल्बर्ट   अनु०—प्राध्यापक नरेन्द्र सिंह

[अँग्रेजी की पुस्तक 'बायाग्राफी आफ दी अनबार्न' 'Biography of the Unborn" का हिन्दी रूपान्तर प्राध्यापक नरेन्द्र सिंह जी ने बड़ी रोचक तथा प्राँजल भाषा में किया है। अमेरिका के मूल प्रकाशक विलियम विल्किंस को अनुवाद के अधिकार के लिए पचास डालर (२४० रुपए) देकर विज्ञान परिषद सरल तथा मनोरंजक ढङ्ग से लिखी ऐसी उपादेय पुस्तक का इस मास प्रकाशन कर रही है। पुस्तक के कुछ अंश के नमूने हम इस अंक में दे रहे हैं। आशा है पाठक इसकी शैली तथा पाठ्य सामग्री अत्यंत ही मनोरंजक पाएँगे।]

मानव जाति के विकास को हमारा इतिहास सामाजिक प्राणि-रूप में क्रमबद्ध करता है और मनुष्य के मानसिक, बौद्धिक तथा सामाजिक प्रगति की विविध अवस्थाओं का दर्शन हमको महापुरुषों की जीवनियों में मिल जाता है, परन्तु हमको अपने शरीर के गहन तथा पेचीले भौतिक विकास और आकार-वृद्धि के विवरण बहुत ही कम पुस्तकों में मिल पाते हैं। एक उत्सुक तथा बुद्धिमान जिज्ञासु, सरल भाषा के वैज्ञानिक लेखों और पुस्तिकाओं की सहायता से, इस विशाल संसार का इतिहास तथा सूक्ष्मतम परमाणु का संयोजन समझ सकता है और वनस्पति तथा प्राणियों के, पृथ्वी-इतिहास के अगणित युगों में घटित हुए, श्रेणीबद्ध जीव-विकास का ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है; परन्तु उस जिज्ञासु को, स्वयं अपने ही शरीर के विकास-विवरण, सरल भाषा में लिखे हुए, कम उपलब्ध हैं।

मनुष्य ने अपनी उत्पत्ति तथा माता के शरीर में घटनेवाली उन कार्य-विधियों तथा परिवर्त्तनों के सम्बन्ध में, जिनके द्वारा शिशु अपना आकार प्राप्त करता है, अनुमान लगाए हैं तथा गवेषणाएँ भी की हैं। इस सम्बन्ध में उसने पुरातन काल से ही तर्क-वितर्क भी प्रारम्भ कर दिये थे, परन्तु आरम्भ के यूनानी दार्शनिकों को कदाचित इतना ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त था कि शिशु-निर्माण से पूर्व संभोग अर्थात् स्त्री पुरुष-सम्मिलन आवश्यक है। इसी थोड़े से ज्ञान पर आरम्भ का यह यूनानी सिद्धान्त आधारित था कि स्त्री केवल ग्रहण करने वाली भूमि है जिसमें पुरुष अपना बीज डालता है; इस प्रकार स्त्री द्वारा दिये गए एक निष्क्रिय पदार्थ को (जो कि उस समय प्रति मास स्रवित रक्त समझा जाता था) एक नये व्यक्ति का रूप और उसकी गतिशीलता तथा आत्मा की प्राप्ति होती थी। सत्रहवीं सदी के अन्त के समीप एक हालैण्ड निवासी चिकित्सक, दि-ग्राफ़ ने सबसे पहले यह सुझाया कि स्त्री भी, पक्षी के अण्डे की उत्पत्ति-विधि के समान ही, नूतन मानव के आधार स्वरूप, निश्चित आकार का एक सुनिर्मित अण्डा प्रदान करती है। इसके अनेक वर्षों के उपरान्त लीउवेन होइक नाम के हालैण्ड-निवासी, एक चश्मे बनाने वाले ने सर्वप्रथम पुरुष-वीर्य में अति सूक्ष्म जीवों अथवा शुक्रकीटों की उपस्थिति की गवेषणा की तथा यह सिद्ध किया कि मानव जाति के निर्माण में यही पुरुष की देन है। इन दो खोजों ने तत्कालीन वैज्ञानिक समाज में मतभेदों तथा तर्क-वितर्कों का एक तूफान खड़ा कर दिया था और यह परिस्थिति लगभग एक सदी तक बनी रही। जीव-विशेषज्ञों में दो विचारधाराओं के समर्थक बन गए थे—एक रजाण्डवादी अथवा डिम्बवादी तथा दूसरे शुक्रकीटवादी। रजाण्डवादियों के अनुसार नवमानव की उत्पत्ति रजाण्ड से होती थी, पर शुक्रकीटवादी इस विचार के

विपरीत, नये जीव के निर्माण के लिये शुक्रकीट को उत्तरदायी ठहराते थे। केवल कल्पना के आधार पर कुछ
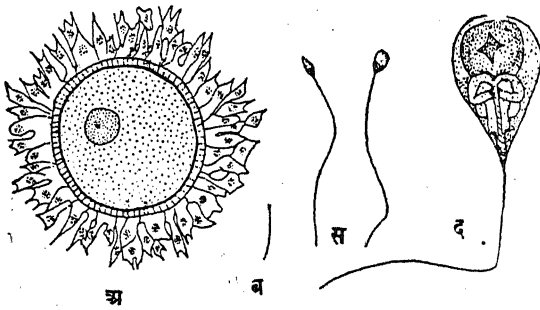
(चित्र १) अ—परिचारक कोष्ठों से घिरा हुआ, लगभग पूरा परिपक्व एक मानवीय रजाण्ड (आकार मूल से १५० गुना बड़ा)।

ब—एक मानवीय शुक्रकीट (आकार मूल से १५० गुना बड़ा)।

स—दो मानवीय शुक्रकीट, एक को बगल से तथा दूसरे को पट करके दिखलाया गया है (आकार मूल से ५२५ गुना बड़ा)।

द—मानवीय शुक्रकीट का एक चित्र जैसा १७वीं सदी के वैज्ञानिकों का अनुमान था, इसमें शुक्रकीट के मस्तक में एक परिपक्व भ्रूण को मुड़ी हुई दशा में दिखलाया गया है।

विचारकों ने तो यह धारणा बना ली थी कि शुक्रकीट में एक लघु आकार के, परन्तु पूर्णनिर्मित, भ्रूण को उन्होंने मुड़ी हुई तथा बल दी हुई अवस्था में दे लिया है (चित्र—१)। पिछली सदी के अन्त समय तक मनुष्य ठीक प्रकार यह नहीं समझ पाया था कि शुक्रकीट का रजाण्ड से संयोजन ही नव मानव की उत्पत्ति करता है। यह मौलिक ज्ञान एक बार सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया, तब फिर जीवन के इस प्रारम्भिक विकास का अध्ययन—गर्भपिण्ड-विज्ञान—बिना किसी रुकावट के उचित रूप से विकसित हो निकला।

प्रारम्भ में मानवीय गर्भपिण्ड-विज्ञान पेचीला तथा विवादास्पद विषय था। मनुष्य के गर्भपिण्डों के अध्ययन में बड़ी असुविधाएँ तथा अड़चनें थीं, क्योंकि यह गर्भपिण्ड बड़ी कठिनाई से प्राप्त होते थे, और यदि मिल भी गए तो अधिकतर बिगड़ी हुई और बुरी दशा में मिलते थे। दूसरी बड़ी अड़चन इस अध्ययन में यह थी कि अल्पावस्था के इन मानवीय गर्भपिण्डों के भीतर होनेवाले पेचीले और वेगशील रूप-परिवर्त्तनों को समझने के लिये विकासक्रम की निम्न जाति के जीवों के शरीर के विकास का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक था, और यह ज्ञान तत्कालीन गर्भपिण्ड विशेषज्ञ को भी पूरी तरह प्राप्त नहीं था। सत्रहवीं तथा अट्ठारहवीं सदी में मेडिकल कालेजों के उत्सुक तथा परिश्रमी डाक्टरों को कभी कभी ऐसे अवसर अवश्य मिल जाते थे जब कि वह लगभग छः या सात मास के गर्भपतित भ्रूण की चीर फाड़ करके उनका अध्ययन कर सकें। इसी परिश्रम के फलस्वरूप उन्हें भ्रूण के आन्तरिक अंगों का एक अच्छा खासा ज्ञान प्राप्त हो गया था। मानव-शरीर के प्रारम्भिक विकास को विस्तृत रूप से समझने का कोई उचित प्रयास, उन्नीसवीं सदी के अन्तिम बीस वर्ष के प्रारम्भ तक नहीं किया गया। मनुष्य शरीर के प्रारम्भिक विकास का व्यापक तथा विस्तृत विवरण, सबसे पहले १८८२ ई० में मानवीय गर्भपिण्ड-विज्ञान के एक गुटके में प्रकाशित हुआ था, यह उस सहयोगी अध्ययन का परिणाम था जो कि एक विद्वान गर्भपिण्ड-विशेषज्ञ, विल्हेम हिस् ने आरम्भ किया था, और फिर जिसको उसके विद्यार्थियों और अन्य विशेषज्ञों ने आगे बढ़ाया था। इस संकलित अध्ययन के प्रकाशन के उपरान्त तो, विविध आयु के गर्भपिण्डों के अनेक अध्ययन लिखे जा चुके हैं, और अब वर्त्तमान काल में मनुष्य के शरीर के प्रारम्भिक विकास की मुख्य घटनाओं तथा परिवर्त्तनों के सम्बन्ध में विशेषज्ञों को लगभग पूरा ज्ञान प्राप्त हो चुका है।

जन-साधारण में से उत्सुक व्यक्तियों के लिये मानव-शरीर के प्रारम्भिक विकास का मौलिक ज्ञान प्राप्त करना सदा द्विमुखी समस्या बना रहा है—पहली अड़चन तो यह है कि इस विषय के वैज्ञानिक लेखों तथा पुस्तकों में एक ऐसी शब्दावली प्रयुक्त की जाती है जो कि गर्भपिण्ड-विशेषज्ञ के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को पूरी तरह समझ में नहीं आ पाती, और दूसरे—मनुष्य के शारीरिक विकास के यह विवरण क्रमानुसार व्यवस्थित रूप में नहीं मिल पाते। इस पुस्तक के

लिखने में इन दोनों त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है; यही ध्यान में रखकर मनुष्य के शरीर के प्रारम्भिक विकास को नौ मास के क्रमानुसार एक सुव्यवस्थित रूप में, सरल तथा सुबोध भाषा में लिपिबद्ध करने का प्रयास किया गया है (यह नौ मास शिशु-जन्म से पूर्व, गर्भाधान के उपरान्त मनुष्य की गर्भस्थिति साधारण तथा नियमित जीवन-अवधि हैं)।

मानव शरीर के विकास के इस अध्ययन में विशेषज्ञ तथा जिज्ञासु दोनों ही को ऐसा आकर्षण मिलता है जो कि विकास-क्रम की निम्न जाति के पशुओं के विकास-अध्ययन में उनको नहीं मिल पाता है। मानवीय गर्भपिण्ड-विज्ञान में जीव विशेषज्ञ को मनुष्य तथा अन्य पशुओं के पारस्परिक निकट सम्बन्धों का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। मानव-शरीर के विकासकालीन अध्ययन की सहायता से, डाक्टरों को मनुष्य की अनेक विशेषताओं, अस्वाभाविक और अनियमित अवस्थाओं तथा आनुवंशिक गुणों आदि के प्रगट होने के कारण स्पष्ट हो जाते हैं। मानवीय गर्भपिण्ड-विज्ञान के द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही जीवन की रहस्य-मयी गर्भकालीन अवस्था का महत्वपूर्व ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

प्रथम मास
अज्ञात से ज्ञात की ओर

गर्भाधान के बाद प्रथम मास में गर्भित रजाण्ड के भीतर घटने वाले अद्भुत परिवर्त्तनों द्वारा ही, एक अज्ञात तथा अन्धकार पूर्ण अवस्था में से मनुष्याकार का प्रादुर्भाव होता है। गर्भित रजाण्ड इस मास के भीतर ही, एक अति सूक्ष्म अण्डे के आकार से (जो कि लगभग ०.१३ मिलीमीटर लम्बा होता है) रूपान्तरित होकर छः मिलीमीटर लम्बे एक मानवीय गर्भपिण्ड का आकार ग्रहण कर लेता है। इस परिवर्त्तन काल के अन्तर्गत, यह रजाण्ड अपने आकार से अपेक्षाकृत पचास गुना तथा शरीर-भार में लगभग हजार गुना बढ़ जाता है; प्रारम्भ का गोल तथा छोटे आकार का रजाण्ड एक ऐसा रूप प्राप्त कर लेता है जिसमें मस्तक, धड़ तथा पूँछ के भाग स्पष्ट होते हैं। इसके साथ ही इस शरीर में स्पन्दन कार्य करते हुए हृदय के आकार और उससे सम्बन्धित रक्त-संस्थान की उपस्थिति प्रकट हो जाती है तथा हाथ, पैर, आंख, कान, उदर और मस्तिष्क के प्राथमिक आकारों की नींव भी पड़ चुकती है। वास्तव में माता के गर्भ में, इन आरम्भ के तीस दिनों के भीतर ही लगभग उन सभी अंगों का प्रस्थापन कार्य तथा निर्माण प्रारम्भ हो जाता है, जो अंग मनुष्य के आजीवन काम में आते हैं और साथ ही कुछ ऐसे अंगों की रचना का आरम्भ भी इसी समय हो जाता है जो कि प्रसव से पूर्व लुप्त हो जायगे। अपनी उत्पत्ति तथा विकास-सम्बन्धी इन अद्भुत परिवर्त्तनों के साथ ही गर्भपिण्ड को इसी मास में अपनी भोजन-प्राप्ति के प्रयास भी आरम्भ कर देने पड़ते हैं। इस पोषण-कार्य के संचालन के लिए ऐसे विशेष आकारों की रचना की जाती है जिनकी सहायता से गर्भपिण्ड अपनी माता के शरीर से भोजन ग्रहण कर सकने में समर्थ हो सके; इस प्रकार गर्भाशय के कोष्ठ-समूहों के भीतर ही परान्न-भोजी जीवों, अथवा 'पैरासाइट्स', के समान अपना जीवन बिताने तथा आकार-वृद्धि करने की स्वतन्त्रता और सुविधा इस गर्भपिण्ड को प्राप्त हो जाती है।

शुक्रकीट द्वारा गर्भित हो जाने के बाद भी रजाण्ड डिम्बप्रणालियों में अपनी यात्रा गर्भाशय की ओर बराबर करता रहता है। यद्यपि इसका कोई वास्तविक प्रमाण नहीं है तथापि अनुमानतः गर्भित रजाण्ड गर्भाशय में तीन दिन के भीतर पहुँच जाता है। इस यात्रा-काल में भी रजाण्ड का विकास-कार्य तथा आकार-वृद्धि का कार्य बराबर होता रहता है—शुक्रकीट द्वारा गर्भित हो जाने पर, रजाण्ड में अन्तर्निहित सब शक्तियाँ निर्बन्ध होकर तुरन्त ही रजाण्ड का कोष्ठ-विभाजन वेग से आरम्भ कर देती हैं; सबसे पहले एक-कोष्ठक रजाण्ड स्वयं विभक्त होकर दो कोष्ठों को जन्म

देता है, फिर यह दो कोष्ठ चार कोष्ठों में विभक्त हो जाते हैं, और फिर वे चारों कोष्ठ आठ में, आठों कोष्ठ सोलह में और इस प्रकार इन कोष्ठों का स्वयंविभाजन कार्य निरन्तर इसी क्रम से चलता रहता है जब तक कि मानव शरीर के लाखों, करोड़ों व अगणित कोष्ठों की रचना पूरी नहीं हो जाती।

एक कोष्ठ से, इस प्रकार एक नियमित और अनवरत स्वयं-विभाजन की क्रिया-विधि द्वारा अनेक कोष्ठों के निर्माणकारी विधान को वैज्ञानिक शब्दावली में 'स्वयं कोष्ठ-विभाजन' अथवा 'क्लीवेज' कहते हैं। सब जीव इसी महत्वपूर्ण विधान के अन्तर्गत अपनी रचना तथा आकार- वृद्धि करते हैं। इस विधान का महत्व केवल इन अगणित कोष्ठों की रचना तक ही सीमित नहीं है, वरन् शरीर के विविध कार्यों में प्रयुक्त विभिन्न अंगों को जन्म देने वाले विशेष प्रकार के कोष्ठों का निर्माण तथा स्थापन-कार्य भी इसी विधान के प्रभाव के अन्तर्गत सम्पन्न होता है। मानवीय अण्डा शीघ्र ही, इस विधान के अन्तर्गत, एक छोटी और ठोस गेंद का आकार ग्रहण कर लेता है जिसको 'मोर्युला' कहते हैं। यह माना जाता है कि गर्भाशय के भीतर गर्भित रजाण्ड का प्रवेश इसी विकसित रूप में होता है।

यह स्पष्ट कर दिया जाय कि मानवीय अण्डे के इस अल्पावस्था वाले आकार को अभी तक देखा नहीं जा सका है; सबसे कम आयु का गर्भपिण्ड जो अभी तक देखा जा चुका है, अनुमान से ग्यारह दिन की आयु का माना गया है। ग्यारह दिन की आयु से पूर्व का विकास-विवरण, बन्दर तथा उनके निकट सम्बन्धी पशुओं के विकास और उनकी आकार-वृद्धि के अध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान के ऊपर आधारित है। क्योंकि मनुष्य तथा बन्दर के शरीर-विकास के सापेक्षिक अध्ययन से, जीव-विशेषज्ञों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि गर्भ की अल्पावस्था में दोनों जीवों का विकास और उनकी आकार-वृद्धि समान रूप से ही होती होगी और यह निष्कर्ष तथ्यपूर्ण ही प्रतीत होता है।

गर्भाशय के भीतर छः सात दिन तक यह अण्डा स्वतंत्र रूप से आकार-वृद्धि करता रहता है। इस प्रकार गर्भाधान के उपरान्त गर्भाशय की भीतरी दीवाल में अपना प्रतिष्ठान-कार्य आरम्भ करने में इसको नौ दस दिन लग जाते हैं (गर्भप्रणाली में तीन दिन तथा गर्भाशय में स्वतंत्र रूप से बिताए गए लगभग सात दिन)। अब प्रारम्भ की उस छोटी गेंद 'मौर्युला' के शरीर में एक ओर थोड़ा गहरा एक रिक्त स्थान बन जाता है, फिर इस रिक्त स्थान को भरने के लिये इसी स्थान के भीतरी कोष्ठों के समुदाय द्वारा विशेष कोष्ठों का एक आच्छादन निर्मित किया जाता है जो कि उस गहराई के ऊपर स्थापित कर दिया जाता है—विशेष कोष्ठों के नवनिर्मित इस आच्छादन को 'ट्रोफोब्लास्ट'
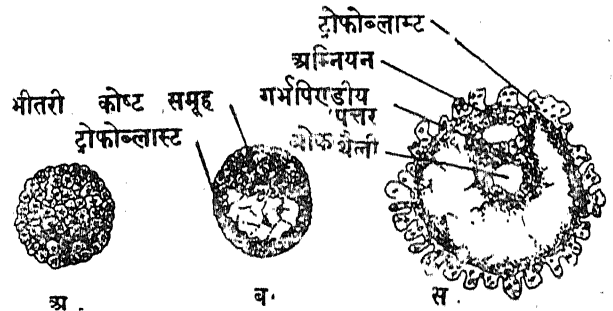
(चित्र ४) गर्भाधान के उपरान्त प्रथम सप्ताह में मानवीय रजाण्ड के विकास को प्रदर्शित करते हुए चित्र—

अ—मोर्युला अथवा कोष्ठों की एक ठोस गेंद जिसमें थोड़े से रिक्त स्थान का बनना बस प्रारम्भ ही हुआ है।

ब—ब्लास्टोसिस्ट अथवा खोखला आकार जिसमें कोष्ठों की बाहरी सतह, ट्रोफोब्लास्ट को भीतरी कोष्ठ समूहसे अलग विशिष्ट कर लिया गया है।

स—भीतरी कोष्ठसमूह के भीतर अम्नियातिक तथा योक थैलियों के लिये छोटे छोटे रिक्त स्थान बन रहे हैं तथा ट्रोफोब्लास्ट से अनेक 'पोषक बाह्याकार' निरूपित होते जा रहे हैं।

अथवा भोजनदायी कोष्ठाच्छादन कहते हैं। 'ट्रोफोब्लास्ट' का निर्माण करने वाले यह कोष्ठ-विशेष मानव-शरीर के किसी भाग की रचना करने में अब स्वयं प्रयुक्त नहीं हो सकते हैं, वरन् अब इनका कार्य गर्भ के पोषण के लिये यही

रह जाता है कि गर्भावस्था के पूरे नौ मास तक यह अपने आपको गर्भस्थ शिशु के भोजन-रूप में प्रस्तुत करते रहें— इस प्रकार 'ट्रोफोब्लास्ट' के यह कोष्ठ गर्भ की आकार-वृद्धि तथा उसके निर्वाह के लिये पोषक पदार्थ हैं। यह ट्रोफोब्लास्टीय' कोष्ठ तथा इनके वंशज, प्रसव के समय अपना उपयोग समाप्त हो जाने पर शरीर के बाहर फेंक दिये जायंगे। 'मौर्युला' के 'ट्रोफोब्लास्ट'-निर्मायक कोष्ठों को छोड़कर, उसका भीतरी कोष्ठ-समुदाय ही नूतन मानव के रूप और आकार की स्थापना तथा उसकी रचना करेगा।

गर्भाधान के लगभग दसवें दिन गर्भाशय की भीतरी दीवाल में यह मानवीय रजाण्ड अपना रास्ता बनाना प्रारम्भ कर देता है जिससे कि गर्भस्थित नौ मास के जीवन के लिये एक घर बना ले। गृह-निर्माण के अन्तर्गत ही उसको ऐसे वातावरण की सुविधाऐं भी प्राप्त करनी होती हैं जिनके द्वारा गर्भ में अपने विकास, आकार-वृद्धि तथा निर्वाह योग्य सब साधन तथा पदार्थ (भोजन, जल, ताप तथा सुरक्षा आदि) उसको उपलब्ध होते रहें। इस गृह-प्रतिष्ठान की विधि के लिये समय तथा स्थान का चुनाव यह अण्डा किस प्रकार करता है इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला जा सकता है और अभी यह एक पहेली ही है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही सप्रमाण ज्ञात है और यह देखा भी जा चुका है कि सबसे कम आयु का गर्भपिण्ड (जो अभीतक देखा गया है) गर्भाशय की दीवाल के एक छोटे से क्षेत्र में इस प्रकार घुसा हुआ तथा चारों ओर के कोष्ठ-समूहों से घिरा हुआ प्रतीत होता है जैसे कि गर्भपिण्ड गर्भाशय के उस क्षेत्र के कोष्ठ-समूहों को पिघला कर तथा पचाकर दीवाल में घुसा हो। यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि गर्भाशय की दीवाल के प्राथमिक कोष्ठ-समूहों का भक्षण करके 'ट्रोफोब्लास्टीय' कोष्ठ- समुदाय ने अण्डे के लिये मार्ग बनाया हो।

इस प्रकार गर्भाशय की दीवाल में प्रतिष्ठित हो जाने के उपरान्त, यह गर्भपिण्ड अपने सहकारी आकारों को चारों ओर छाए हुए कोष्ठ- समूहों में फैला कर, उन कोष्ठ-समूहों को इतना अधिक तोड़ फोड़ देता है कि उस क्षेत्र में स्थित गर्भाशय की रक्तवाहिनी नलिकाऐं भी टूट फूट जाती हैं तथा उनका रक्त विमुक्त होकर गर्भपिण्ड के चारों ओर भर जाता है। इस कार्य को पूरा करने में 'ट्रोफोब्लास्ट' को लगभग दो सप्ताह का समय लग जाता है; इस काल के अन्तर्गत, 'ट्रोफोब्लास्ट' के द्वारा पचाए गए गर्भाशय के कोष्ठ-समूहों पर निर्वाह तथा अपना पोषण करता हुआ गर्भपिण्ड अपनी आकार-वृद्धि और विकास बराबर करता रहता है।

'ट्रोफोब्लास्ट' के इस विध्वंसकारी-कार्य को माता के शरीर के कोष्ठ- समूह निर्विरोध नहीं सह लेते हैं। माता के शरीर के कोष्ठ-समूहों में इस आक्रमण की आशंका में पहले से ही तय्यारियाँ आरम्भ हो चुकती हैं और गर्भाशय में गर्भित रजाण्ड के पहुँचने के समय तक यह सब कोष्ठ-समूह एक अत्यधिक उत्तेजित तथा क्रियाशील अवस्था में होते हैं—अर्थात गर्भाशय के सब भाग अधिक रक्त से भरे हुए होते हैं, आवश्यक ग्रन्थियाँ अपना रस-स्रावण आरम्भ करने को प्रस्तुत होती हैं तथा दूसरे सब अंग भी अपने अपने विशेष कार्य के अनुरूप इस रजाण्ड के स्वागत के लिये प्रस्तुत होते हैं—गर्भित रजाण्ड के आगमन की आशा में यह सब तय्यार अंग उसी प्रकार प्रस्तुत पाए जाते हैं जैसे एक अच्छी तरह जुती हुई भूमि बीज की प्रतीक्षा में प्रस्तुत होती है। प्रत्येक मास में डिम्बग्रन्थि के द्वारा एक परिपक्व रजाण्ड को स्वतंत्र कर देने के उपरान्त ही माता के शरीर के भीतर यह सब तय्यारियाँ इस आशा में प्रारम्भ कर दी जाती हैं कि सम्भवतः यह रजाण्ड शुक्रकीट के द्वारा गर्भित हो जावे, यदि ऐसा हो गया तो निश्चय ही गर्भाशय में पहुँचकर यह अपने आपको प्रतिष्ठित करेगा। इसका अर्थ यह है कि वह परिपक्व रजाण्ड गर्भित हो या न हो गर्भाशय की यह सब तय्यारियां स्त्री के मासिक चक्र में एक बार अवश्य होती हैं। गर्भाधान न होने की दशा में गर्भाशय द्वारा नवनिर्मित सब अतिरिक्त कोष्ठ-समूह तथा अतिरिक्त रक्त स्त्री के मासिक-स्राव के रूप में स्त्री-शरीर के बाहर कर दिये जाते हैं। प्रत्येक मासिक चक्र में स्त्री शरीर में एक परिपक्व रजाण्ड के स्वतन्त्र हो जाने पर यह सब तय्यारियां इसी आशा में फिर प्रारम्भ कर दी जाती हैं कि कदाचित इस बार गर्भाधान हो जाय।

गर्भित रजाण्ड के इस प्रकार प्रतिष्ठान करते ही गर्भाशय के कोष्ठ- समूह में प्रारम्भ में ऐसी प्रतिक्रिया होती है जैसी कि किसी बाहिरी शत्रु के आक्रमण के समय

एक जीव के शरीर में होना स्वाभाविक है— सबसे पहले बाह्य आक्रमण से शरीर की रक्षा करने वाले कोष्ठ, इस गर्भित रजाण्ड को एक संक्रमण समझ कर, आक्रमण किये गए स्थान की ओर भेजे जाते हैं, फिर गर्भाशय की रक्त-

(चित्र ५ गर्भाशय की दीवाल में रजाण्ड-प्रतिष्ठानको प्रदर्शित करने वाले चित्र। गर्भाशय को समानान्तर रेखाओं से अंकित किया गया है। अ, ब तथा स अनुमानित स्थितियां हैं; द, क—वे अल्पतम आयु के गर्भपिण्ड हैं जिनको पहचाना जा चुका है।

अ—रजाण्ड गर्भाशय प्रदेश में प्रतिष्ठित होता है।

ब—रजाण्ड गर्भाशय की दीवाल में एक छोटे गड्ढे में प्रतिष्ठित होता है।

स - गर्भाशय-दीवाल में एक छोटे से रिक्त स्थान के भीतर घिरा हुआ रजाण्ड।

द—रजाण्ड का ट्रोफोब्लास्ट गर्भाशयी कोष्ठ समूह का विनाश करता है। गर्भपिण्ड अब 8 के आकार का है।

क—ट्राफोब्लास्ट के बाह्याकार गर्भाशयी कोष्ठसमूह पर आक्रमण करके गर्भाशय की रक्त-नलियों को और अधिक ढकेल देते हैं।

वाहिनी नलिका में वेग से अधिक रक्त-संचार तथा ग्रन्थियों द्वारा वेग से उत्तेजक रसस्रावण होने लगता है और रजाण्ड द्वारा आक्रमित स्थान के चारों ओर के कोष्ठ विकसित होकर दीर्घ आकार प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु जब 'ट्रोफोब्लास्टीय' कोष्ठों द्वारा गर्भाशय के कोष्ठसमूहों का भक्षण तथा पचन-कार्य निरन्तर होता रहता है तथा गर्भाशय की रक्तवाहिनी नलिकाएँ और अधिक विस्तृत रूप से खोल दी जाती हैं, तो गर्भाशय इस आक्रमण के विरुद्ध अपने आपको रक्षा में अयोग्य तथा असमर्थ जानकर इस प्रतिष्ठित गर्भपिण्ड के चारों ओर पुष्ट कोष्ठ समूहों की एक रक्षक दीवाल बना लेता है और अन्त में अपने भीतर प्रतिष्ठित इस गर्भपिण्ड के पालन-पोषण तथा उसकी नियमित आकार-वृद्धि के उपयुक्त सुविधाएँ प्रस्तुत करने और साधन जुटाने के के लिये एक उपयोगी तथा 'ट्रोफोब्लास्ट' के कार्य के अनुकूल सहकारी अंग की रचना प्रारम्भ कर देता है।

यह नवनिर्मित सहकारी अंग ही गर्भझिल्ली है— गर्भाशय तथा गर्भपिण्ड दोनों के कोष्ठसमूहों से बना हुआ यह चकती के आकार का एक अंग होता है जो कि एक ओर गर्भाशय की दीवाल में धँसा हुआ होता है तथा दूसरी ओर मोटी रस्सी के रूप वाली एक नलिका द्वारा गर्भपिण्ड से सम्बद्ध होता है। यह नलिका ही गर्भनाल कहलाती है। गर्भनाल के भीतर ही माता के रक्त-संचारी संस्थान से सम्बन्धित नलिकाएँ स्थित होती हैं, गर्भ-झिल्ली तथा गर्भपिण्ड के बीच आवश्यक पदार्थों के आदान-प्रदान के लिये यही नलिकाएँ माध्यम हैं। गर्भपिण्ड के पालन-पोषण तथा विकास के लिये आवश्यक भोजनांश, आक्सीजन और जल जैसे पदार्थ माता के रक्त में होकर गर्भ-झिल्ली तक पहुँचते हैं, इस स्थान पर 'ट्रोफोब्लास्ट' इन पदार्थों को सोख लेता है और अन्त में गर्भनाल में स्थित नलिकाओं के अन्दर प्रवाहित होकर यह पदार्थ गर्भपिण्ड को उपलब्ध हो जाते हैं (आक्सीजन वायु का वह आवश्यक भाग है जिसकी प्राप्ति के लिये ही जीवों का श्वास-निश्वासन कार्य सम्पादित होता है; यह शरीर के प्रत्येक कार्य-संचालन के लिये आवश्यक पदार्थ

है)। दूसरी ओर से इन्हीं नलिकाओं द्वारा गर्भपिण्ड के अनुपयोगी तथा व्यर्थ पदार्थ गर्भझिल्ली तक वापस पहुँचा दिये जाते हैं और वहाँ पर अशुद्ध रक्त में मिलकर माता के रक्तसंचारी संस्थान के अन्तर्गत फेफड़ों तथा गुर्दों में पहुँचकर शरीर के बाहर कर दिये जाते हैं। प्रमाणित अध्ययनों के आधार पर पुरातन काल की यह धारणा, कि माता का रक्त गर्भपिण्ड में संचरित होता है, असत्य सिद्ध कर दी गई है।

गर्भपिण्ड के विकास के साथ साथ ही गर्भझिल्ली की आकार-वृद्धि भी होती रहती है। गर्भपिण्ड की तीन सप्ताह की आयु होने तक यह अंग-गर्भझिल्ली, गर्भाशय की भीतरी सतह का पांचवां भाग घेर लेता है, दो मास की आयु तक उस प्रदेश का तीसरा भाग तथा पांच मास की गर्भावस्था हो जाने तक गर्भाशय का आधा भाग इस विकसित तथा फैले हुए अंग से आच्छादित हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के बाद गर्भझिल्ली की
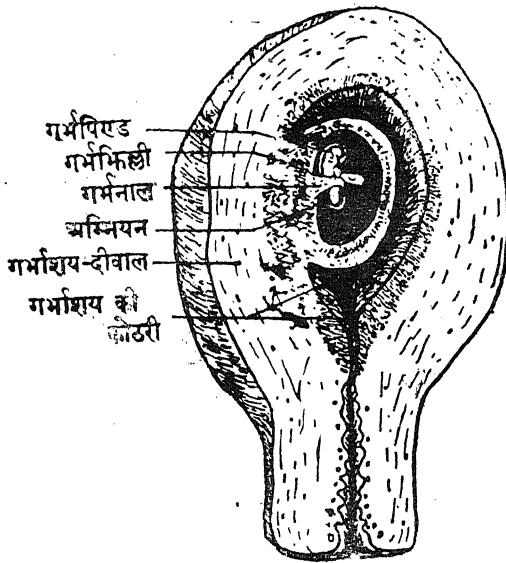
(चित्र ६) एक मास का गर्भ धारण किये हुए एक गर्भाशय का खड़ा कटा हुआ चित्र जिसमें अम्नियन से घिरे हुए तथा गर्भझिल्ली व गर्भनाल द्वारा गर्भाशय की दीवाल से सम्बद्ध गर्भपिण्ड को दिखलाया गया है।

आकार-वृद्धि केवल उसके मुटापे में ही होती है। प्रसव के उपरान्त गर्भझिल्ली, अनुपयोगी हो जाने के कारण, माता के शरीर के बाहर फेंक दी जाती है।

इस विकासकाल के अन्तर्गत गर्भपिण्डीय शरीर के प्रत्येक भाग में होने वाले पेचीले किन्तु उपयोगी परिवर्त्तन, अपनी प्रकृति के अनुसार स्वयं तो बड़े अद्भुत अवश्य होते ही हैं, परन्तु गर्भपिण्ड के अस्तित्व की रक्षा के प्रथम प्रयास भी बड़े अद्भुत होते हैं, जो गर्भझिल्ली में ही प्रारम्भ होते हैं। इस नूतन मानव को जिन आनुवंशिक गुणों तथा शक्तियों की प्राप्ति गर्भाधान के समय हुई थीं, उनकी सहायता से तथा उनके प्रभाव के अन्तर्गत गर्भपिण्डीय शरीर में केवल ऐसे ही आकारों की रचना तथा विकास हो सकता है है जिनका पालन-पोषण तथा जिनकी रक्षा गर्भझिल्ली द्वारा उचित रूप से हो सके। यद्यपि नूतन जीव के मानवीय आकार तथा रूप का निर्धारण रजाण्ड तथा शुक्रकीट के सम्मिलन के क्षण पर ही हो जाता जाता है, तब भी इस आकार और रूप का सम्पूरित होना, न होना गर्भझिल्ली के सहयोग तथा उसके सफल कार्य-सम्पादन पर ही निर्भर होता है। इस तथ्य के आधार पर जीवविशेषज्ञ गर्भझिल्ली से सम्बन्धित बाधा तथा विरोधों को अत्यधिक महत्व देते हैं—जीवन-विशेषज्ञों का कहना है कि गर्भझिल्ली से सम्बन्धित एक विशेष शक्ति, जिसका रहस्य अभी नहीं खुल पाया है, यह निश्चित करती है कि कौन सा पदार्थ गर्भपिण्ड तक पहुँचने दिया जाय और कौन सा नहीं। गर्भझिल्ली के द्वारा प्रस्तुत की गई इन्हीं विघ्नबाधाओं को जीतने के लिए गर्भपिण्ड के प्रथम प्रयास प्रारम्भ होते हैं।

गर्भझिल्ली में किये गए इन प्रयासों के समकाल ही, 'मौर्युला' में (कोष्ठों की लघु आकार की गेंद) भी उन रूप-परिवर्त्तनों का घटना-प्रवाह होता रहता है जो गर्भपिण्ड को मानव-रूप देंगे और इसी घटना प्रवाह के प्रभाव से उसकी आकार-वृद्धि होती है। गर्भाधान की दीवाल में 'ट्रोफोब्लास्ट' द्वारा गृह-प्रतिष्ठान कार्य सम्पादित करते रहने के समय ही गर्भित रजाण्ड के आन्तरिक कोष्ठ समूह ठोस 'मौर्युला' को खोखले, दो छेद वाले एक छोटे आकार में रूपान्तरित कर देते हैं, इस शरीर में आन्तरिक प्रकोष्ठों

का विभाजन दो स्तर वाली एक चद्दर द्वारा कर दिया जाता है, जिससे दो प्रकोष्ठ बन जाते हैं। अब तक जो सबसे कम आयु के मानवीय गर्भपिण्ड प्राप्त हुए हैं तथा जिनका अध्ययन उचित प्रकार से किया जा चुका है, वह विकास की इसी ऊपर लिखी स्थिति में तथा इसी आकार के पाए गए हैं (अनुमान से विकास की यह अवस्था गर्भाधान के लगभग ग्यारह अथवा बारह दिनों के उपरान्त होती है)।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि इस नये आकार की यह दो स्तर वाली चद्दर ही पूर्ण विकसित मनुष्य के शरीर की उद्गम है, पूर्ण विकसित मानव-शरीर की रचना केवल इसी भाग से सम्पादित की जायगी। दो छेद वाले इस आकार की ऊपरी तथा निचली दीवालों से गर्भावस्था के उपयुक्त आकारों की ही रचना होती है। केवल गर्भावस्था के समय काम में आने वाले, यह आकार प्रसव के समय बाहर कर दिये जाते हैं। उस दो स्तरवाली चद्दर का भी एक बहुत ही छोटा भाग मनुष्य-शरीर निर्मायक है; क्योंकि प्राथमिक कोष्ठसमूहों का यह समुदाय, अर्थात् दो स्तर वाली चद्दर, विकास-काल के अन्तर्गत, बार बार कोष्ठों के छोटे छोटे खण्डों को अलग करती रहती है जिनसे केवल गर्भावस्था में काम में आने वाले आकारों की रचना होती है और इस प्रकार इस मौलिक वस्तुमान का एक बहुत ही छोटा अंश विकसित होकर मानव-शरीर के आकार को प्राप्त करता है। यह सब आकार जो कि केवल गर्भावस्था के समय काम में आते हैं, 'अतिरिक्त गर्भपिण्डीय आकार' कहलाते हैं तथा इनकी रचना का प्रयोजन केवल यही है कि विकास-काल के अन्तर्गत गर्भस्थ शिशु का पालन-पोषण तथा उसकी रक्षा करते रहें।

अभी तक दिये गए विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि अतिरिक्त गर्भपिण्डीय आकार तीन हैं :—

(१) ट्रोफोब्लास्ट—जैसा बताया जा चुका है कि यह गर्भझिल्ली की रचना करके उसके कार्य-सम्पादन में सहायता करता है; (२) अम्नियातिक थैली—उपर्युक्त दो छेद वाले आकार का ऊपरी प्रकोष्ठ—इसमें एक विशेष प्रकार का घोल भरा हुआ होता है और इस कारण इसका कार्य एक जल-थैली के अनुरूप हो जाता है—गर्भस्थ शिशु इसमें तैरता रहता है। घोल अथवा द्रव पदार्थ 'अम्नियन' और प्रकोष्ठ अम्नियातिक थैली कहलाता है; (३) योक-थैली—गर्भ पिण्ड के उदर वाले पार्श्व से चिपका हुआ, दो छेद वाले आकार का निचला प्रकोष्ठ—यह थैलीअन्य पशुओं की योक-थैली के समरूप तथा उसी स्थिति में होने के कारण ही मानवीय-गर्भपिण्ड में भी योक-थैली ही कहलाती है, यथार्थ में मानवीय गर्भपिण्ड की योक-थैली के भीतर 'योक' अर्थात अण्डे का पीला पदार्थ नहीं भरा होता है, वरन् वह लगभग रिक्त होती है। प्रारम्भ में ऊपरी थैली रिक्त होती है, परन्तु शीघ्र ही एक द्रव पदार्थ से भर जाती है। अम्नियातिक थैली के इस द्रव पदार्थ की मात्रा धीरे- धीरे स्थायी गति से बढ़ती रहती है और अन्त में मोटी गर्भनाल के अतिरिक्त गर्भपिण्ड को यह द्रव पदार्थ इस प्रकार चारों ओर से घेर लेता है कि गर्भपिण्ड वास्तविक रूप से उसमें तैर निकलता है और इसी प्रकार की जलमग्न अवस्था प्रसव तक स्थायी बनी रहती है। माता के शरीर की अस्थिरता से पैदा हुए धक्कों आदि से कोमल तथा निर्बल शिशु की रक्षा यही जलनिमग्न अवस्था करती है; यही जल-प्रकोष्ठ धक्कों व उत्पादित अस्थिरता को प्रभावहीन करता है जिससे कि गर्भस्थ शिशु को उन बाह्य प्रहारों तथा धक्कों से कोई आघात न पहुँचे। प्रसवकाल के प्रारम्भ में यह अम्नियातिक थैली फट जाती है और इसके भीतर भरा हुआ सब द्रव पदार्थ शिशु-जन्म के पूर्व ही गर्भाशय के बाहर योनि-मार्ग के द्वारा निकल जाता है तथा इस झिल्ली के अवशेष शिशुजन्म के उपरान्त गर्भझिल्ली के साथ ही शरीर के बाहर निकाल दिये जाते हैं।

योक-थैली, (दो स्तर वाली चद्दर के नीचे की ओर की थैली), गर्भ के प्रथम मास में आकार-वृद्धि करके गर्भपिण्ड के उदरपार्श्व से लटकी हुई विशाल थैली का रूप ग्रहण कर लेती है। गर्भ-विकास के दूसरे मास में योक-थैली को गर्भपिण्ड से सम्बद्ध करने वाली संयोजक नलिका, धीरे धीरे संकुचित होकर अन्त में टूट जाती है और योक थैली को गर्भपिण्डीय शरीर से बिल्कुल अलग कर देती है। इस प्रकार अलग होकर यह थैली अव्यवस्थित तथा बिखरे हुए अनुपयोगी कोष्ठसमूहों के रूप में गर्भझिल्ली से जुड़ रहती है तथा प्रसव के उपरान्त गर्भझिल्ली के साथ ही अन्य

आकारों की तरह यह भी माता के शरीर के बाहर कर दी जाती है।
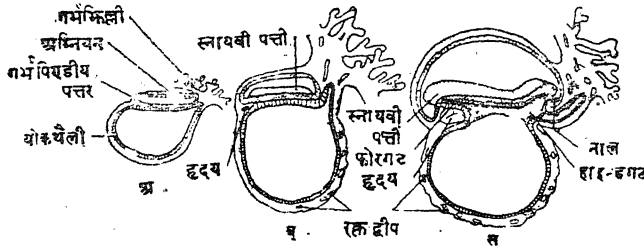
(चित्र ७) तीसरे सप्ताह में गर्भपिण्ड के विकास को प्रदर्शित करते हुए चित्र। गर्भपिण्ड तथा उससे सम्बद्ध झिल्लियों को खड़ा काटा गया है और केवल अधो गर्भपिण्ड ही दिखलाई पड़ता है। एक्टोडर्म को बड़े बड़े बिन्दुओं तथा मेजोडर्म को छोटे बिन्दुओं से अंकित किया गया है।

अ - एक चपटे, गर्भपिण्डीय पत्तर से बना गर्भपिण्ड ऊपर की ओर एक छोटे अम्नियन से तथा नीचे एक बड़ी योक थैली से ढँका; यह गर्भझिल्ली के द्वारा गर्भाशय से सम्बद्ध है।

ब—योकथैली में रक्त-द्वीप प्रगट हो चुके हैं, एक छोटी हृदय-नली का निर्माण हो गया है, पत्तर की ऊपर सतह स्नायवी पत्ती बनाने के लिए मोटी हो गयी है।

स — गर्भपिण्ड के मस्तक तथा उसकी पूंछ बनाने के लिए स्नायवी पत्ती झोंप खा चुकी है, जिसके भीतर गट छेद स्थित हैं, हृदय-नली पूरी बन चुकी तथा अम्नियन बड़ा हो गया है।

अपने पालन-पोषण तथा धक्के आदि से बचाव की सुव्यवस्था हो जाने के उपरान्त, गर्भित रजाण्ड का मानव-निर्मायक मौलिक भाग, जो कि अम्नियातिक थैली तथा जल-थैली के मध्य स्थित होता है, (अर्थात् दो स्तर वाली चद्दर) पूरे उत्साह से मनुष्य-शरीर के आकार की रचना में जुट जाता है। इस वास्तविकता पर विस्मय अवश्य होता है कि गर्भपिण्ड का मौलिक भाग हृदय तथा मस्तिष्क की ओर आकर्षित होकर सबसे पहले इन्हीं अंगों के प्राथमिक और सरलतम गर्भपिण्डीय आकारों की रचना करता है। आगे कुछ लिखने से पूर्व एक बात यहीं समझा देना उचित होगा कि इस पुस्तक में जहाँ कहीं भी ऐसे वाक्य हों जैसे—गर्भपिण्ड का आकर्षित होना, उसकी इच्छा करना, तथा उसका योजना बनाना आदि आदि जिनसे शब्दार्थ में गर्भपिण्ड अथवा भ्रूण का कारक रूप इंगित होता है, उन वाक्यों से यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि गर्भपिण्ड अथवा भ्रूण स्वयं ही कर्त्ता है। अध्ययन तथा अन्वेषण द्वारा प्राप्त किये गये ज्ञान के आधार पर अभी तक यही कहा जा सकता है कि इस नये जीव को अपनी उत्पत्ति, रचना तथा अपने विकास-कालीन परिवर्त्तनों के घटना-प्रवाह को चुनने का कोई अधिकार नहीं है। वह स्वयं परिवर्त्तनों के घटना-प्रवाह को निर्देशित अथवा उसमें हस्तक्षेप कर सकता है।

अल्पावस्था के गर्भपिण्ड के थोड़े से यह प्राथमिक मुख्य कोष्ठ रचना-कार्य के अनुसार अलग अलग विभाजित नहीं होते हैं—तात्पर्य यह है कि इन कोष्ठों में 'डिवीजन आफ लेबर' अर्थात् कार्य-विभाजन के अनुसार विशिष्टीकरण नहीं होता है। इस प्राथमिक कोष्ठसमुदाय का कोई भी मुख्य कोष्ठ शरीर के किसी भी अंग अथवा भाग की रचना में प्रयुक्त हो सकता है। कोष्ठों के इस समुदाय में घटने वाले एक परिवर्त्तन के फलस्वरूप दूसरे परिवर्त्तन की उत्पत्ति हो जाती है, दूसरे से तीसरे परिवर्त्तन की उत्पत्ति और इसी क्रम से घटना-प्रवाह के अन्तगत अनेक परिवर्त्तनों की उत्पत्ति होती जाती है और यह घटना-प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। हाँ! अब इन उत्पादित परिवर्त्तनों के घटना-प्रवाह के अन्तर्गत प्रत्येक परिवर्त्तन के प्रतिफल-स्वरूप भिन्न-भिन्न कोष्ठ भिन्न-भिन्न आकारों की रचना के लिये विशिष्ट होते जाते हैं—इन सब का अन्तिम फल सम्मिलित रूप में पूर्ण विकसित मानव-शरीर की सम्पन्न रचना होता है। गर्भ के भीतर यह रचना-कार्य समाप्त हो चुकने पर भी परिवर्त्तनों का यह घटना-प्रवाह टूटता नहीं है, वरन् मनुष्य के शैशवकाल, किशोरावस्था, वयस्क आयु में ही नहीं है, पर वृद्धावस्था और अन्त में मृत्यु-पर्यन्त निरन्तर चलता रहता है। मानव

जीवन में निरन्तर होने वाले परिवर्त्तनों का घटना-प्रवाह गर्भ-पिण्ड के मौलिक रूप-गर्भित रजाण्ड में प्रारम्भ तो अवश्य होता है, पर जैसे बरगद का दैत्याकारी वृक्ष अपने अत्यधिक छोटे बीज में चिन्हित नहीं किया जा सकता, वैसे ही भविष्य के मानव रूप की उपस्थिति भी इस गर्भित रजाण्ड में इंगित तथा चिन्हित नहीं की जा सकती है।

गर्भित रजाण्ड की उपर्युक्त दो स्तर वाली चद्दर, जो कि गर्भपिण्ड का प्रारम्भिक मूल आकार है, गर्भपिण्डीय-मण्डल अथवा गर्भपिण्डीय चकती कहलाती है क्योंकि इसका रूप एक चकती के समान होता है—बीच में उभरी तथा किनारों पर दबी हुई (चित्र ८)। अब गर्भपिण्डीय मण्डल अथवा चकती की दोनों सतहों अथवा स्तरों को
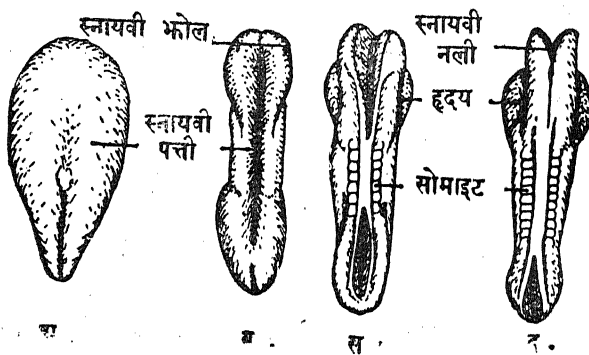
(चित्र ८) तीन तथा चार सप्ताह के गर्भपिण्डों के चित्र, जिनमें विशेषरूप से स्नायु संस्थान के निर्माण को दिखलाया गया है। सब गर्भपिण्डों का अवलोकन चोटी की तरफ से किया गया है।

अ—गर्भपिण्डीय चकती, अण्डाकार स्नायवी पत्ती को दिखलाता है।

ब—मोटी हुई स्नायवी पत्ती झूल खाकर एक नली में बदलती जा रही है।

स—एक बन्द स्नायवी नली बनने के लिए स्नायवी झूलें शरीर से मध्यभाग के ऊपर एक दूसरे से जुड़ गई हैं। भावी मांसपेशी पदार्थ (सोमाइट्स) के खण्ड स्नायवी-नली के सहारे बन चुके हैं; हृदय अच्छी तरह बन गया है।

द—मस्तक(ऊपरी) तथा पूँछ (निचले) सिरों को छोड़ कर स्नायवी नली पूरी तरह बन चुकी है।

अलग अलग नामों के पुकारा जाता है जिससे कि समझने में सरलता तथा सुगमता हो। ऊपर की ओर बाहिरी सतह 'ऐक्टोडर्म' अर्थात बाह्य स्तर और भीतरी सतह जो योक-थैली के निकट होती है 'ऐण्डोडर्म' अर्थात आन्तरिक स्तर कहलाती है। विकास के इसी काल में इन दोनों सतहों के मध्य एक तीसरी सतह भी स्थापित हो जाती है जो अपनी स्थिति के अनुरूप 'मेजोडर्म' अर्थात मध्यवर्ती स्तर के नाम से पुकारी जाती है।

जीवों के विकास-क्रम में यह ध्यान देने योग्य बात है कि केंचुए से लेकर मनुष्य तक, प्रत्येक जीव अपनी प्राथमिक और प्रारम्भिक सतहों का कार्य-संचालन एक समान होता है। दृष्टान्त रूप बाह्यस्तर गर्भपिण्डीय शरीर में सर्वदा त्वचा की रचना में प्रयुक्त होता है, यह गर्भपिण्ड चाहे किसी भी जीव का हो, रेंगने वाले सर्प, उड़ने वाले पक्षी अथवा मनुष्य का।

मध्यवर्ती स्तर अर्थात 'मेजोडर्म' बाह्य तथा आन्तरिक स्तरों के मध्य ही सीमित नहीं रहता है, वरन् गर्भपिण्ड के बाहिरी क्षेत्रों में भी यह इस प्रकार फैल जाता है कि 'ट्रोफोब्लास्टीय' कोष्ठ समुदाय भीतर की ओर से तथा 'ऐम्नियन' अर्थात जल-थैली और योक-थैली बाहर से ढक जाय। इस स्तर के यह आच्छादन-कार्य समाप्त करने के बाद तत्काल ही, योक-थैली को आच्छादित करने वाले भाग के अतिरिक्त, मध्यवर्ती स्तर के बाकी सब भाग में विशेष प्रकार के प्राथमिक कोष्ठ धब्बों के रूप में प्रकट हो जाते हैं। इन विशेष कोष्ठों का अगला काम अभी निश्चित रूप से इंगित किया जा सकता है। समूह में पाए जाने वाले ये कोष्ठ गर्भपिण्ड के प्राथमिक रक्त-कोष्ठ हैं, इनके एकत्रित समूह को रक्त-द्वीप कहते हैं। गर्भावस्था के इस तीसरे सप्ताह में, इस प्रकार रक्त-संचारी संस्थान का प्रारम्भ भी हो जाता है। कुछ दिनो के भीतर ही और अधिक संख्या में रक्त-द्वीप प्रगट हो जाएँगे तथा इन द्वीपों के मध्य स्थित रक्त-कोष्ठ, मध्यवर्त्ती स्तर के आच्छादन की अति सूक्ष्म और नवनिर्मित रक्त-नलिकाओं में स्वतंत्र होकर एक धीमी, पर स्थायी धारा के रूप में बह निकलेंगे।

इस प्रकार रक्त-संचारी संस्थान के प्रारम्भिक विकास के

समय ही, गर्भपिण्डीय शरीर के एक विशेष भाग में (जो थोड़े समय बाद ही मस्तक की ओर वाले सिरे के रूप में विशिष्ट होगा) यह नवनिर्मित और सूक्ष्म रक्त-नलिकाऐं परस्पर सम्बद्ध तथा संयुक्त होकर एक मोटी रक्त-नली अर्थात हृदय-नली की रचना कर लेती हैं (चित्र—७)। मानव शरीर के पूर्ण विकसित हृदय के आकार का यह सरलतम प्राथमिक रूप है, और यह हृदय-नली ही रूप-परिवर्त्तनों के पेचीले घटना-प्रवाह में बहकर अनेक दिनों के उपरान्त पूर्ण विकसित हृदय का रूप ग्रहण कर लेगी। हृदय का यह प्राथमिक आकार, पूर्ण विकसित हृदय-आकार के सम्पूरित होने की प्रतीक्षा न करके, अपनी रचना के बाद शीघ्र ही शरीर में रक्त-संचार के लिये अपना स्पन्दन कार्य प्रारम्भ कर देता है। सबसे पहले इस हृदय-नली में एक धीमी सिहरन अथवा कम्पन उठता है, इसके बाद दूसरी, फिर तीसरी और इसी क्रम से इस नली का स्थायी स्पन्दन-कार्य (क्रमानुसार संकोचन तथा फैलाव) प्रारम्भ हो जाता है और इसी स्पन्दन कार्य के प्रभाव के अन्तर्गत गर्भपिण्डीय शरीर तथा गर्भझिल्ली में फैली हुई रक्त-नलिकाओं में रक्त-संचरित हो निकलता है।

इस गर्भपिण्डीय शरीर में यह रक्त-संचार, गर्भाधान के लगभग इक्कीसवें दिन सबसे पहले प्रारम्भ होता है, तदनन्तर गर्भ के बाकी आठ मास और जन्म के उपरान्त आजीवन हृदय का यह स्पन्दन कार्य मानवशरीर में होते रहना आवश्यक है क्योंकि हृदय-स्पन्दन के प्रभाव के अन्तर्गत संचरित रक्त के माध्यम से ही शरीर के विविध अंगों को आवश्यक तथा पोषक भोजनांश मिलते हैं; रक्त में घुलकर ही यह सब भोजनांश शरीर के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को जा सकते हैं। गर्भ पिण्डीय शरीर में हृदय-नलिका के इस स्पन्दन-कार्य को देखकर पुरातन जीव-विशेषज्ञ विस्मय में पड़ गए थे और उस समय उनका विश्वास यह हो गया था कि मानव शरीर के विकास काल में प्राथमिक हृदय-नलिका के स्पन्दन-कार्य के प्रारम्भ का चमत्कारी क्षण ही जीवन का प्रारम्भ है, जब कि मानव शरीर में आत्मा का प्रवेश होता है।

गर्भपिण्ड में रक्त-संचारक संस्थान के विकास के समकालही स्नायु संस्थान का प्रतिष्ठान भी प्रारम्भ हो जाता है। स्नायु-संस्थान के विकास के अन्तर्गत, सबसे पहले गर्भपिण्डीय-मण्डल के बाह्य स्तर अथवा त्वचा में एक मोटे अण्डाकारी भाग की रचना होती है—यह प्राथमिक आकार स्नायु-मण्डल अथवा स्नायु-चकती के नाम से पुकारा जाता है। यह प्राथमिक आकार शरीर के पूरे स्नायु-संस्थान का उद्गम और प्रारम्भिक रूप है (चित्र ७ और ८)। इस स्नायु-मण्डल के किनारे, थोड़े समय के उपरान्त, मध्य के चपटे भाग के दोनों तरफ उभड़ कर परस्पर संयुक्त हो जाते हैं और इस प्रकार एक गोल नली के आकार को जन्म दे देते हैं—यही प्राथमिक स्नायु-नलिका है (स्नायु-संस्थान से सम्बन्धित यह रूप-परिवर्त्तन गर्भ की २२ से २६ दिन की आयु के भीतर घटते हैं) गर्भपिण्डीय शरीर के पृष्ठ भाग के ठीक मध्य में यह स्नायु-नलिका प्रतिष्ठित होती है, (यह ध्यान में रखना चाहिये कि गर्भपिण्डीय शरीर विकास की इस आयु तक विविध भागों में—पृष्ठ भाग और अग्रभाग आदि में विभक्त हो चुकता है)। अपनी आकार-वृद्धि कर के यह स्नायु-नलिका ही मनुष्य के मस्तिष्क और मेरु-सुषुम्ना के आकारों में परिवर्त्तित हो जायगी। गर्भावस्था में, मानव शरीर के विकास तथा उसके विविध रूपान्तरों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि इस स्नायु-नलिका का ऊपरी अग्रिम भाग फैल कर मस्तिष्क की रचना करता है तथा नीचे की ओर का पृष्ठभाग लम्बा होकर सुषुम्ना के भागों को जन्म देता है। स्नायु-संस्थान पूर्ण विकसित पेचीले आकार मस्तिष्क तथा मेरु सुषुम्ना के प्राथमिक चिन्हों के अभाव में, अल्पायु के इस गर्भपिण्डीय शरीर में (गर्भाधान के लगभग चौथे सप्ताह में) यह स्नायु-नलिका स्नायु-संस्थान के मुख्य लक्षणों का प्रतिनिधित्व करती है—तात्पर्य यह है कि यह स्नायु-नलिका ही वयस्क मानव की अमूल्य सम्पत्ति-मस्तिष्क तथा सुषुम्ना के प्रादुर्भाव का प्रदर्शन करती है।

रक्त-संचारक संस्थान तथा स्नायु-संस्थान की नींव पड़ जाने के उपरान्त, गर्भपिण्ड का ध्यान भोजन-नली की रचना में लगता है, क्योंकि पाचन-संस्थान भी मनुष्य के लिये अत्यावश्यक है। तथा महत्त्वपूर्ण साधारण प्रचलित भाषा में भोजन-नली को पेट कहा जाता है, वैज्ञानिक इसको पाचक-नली अथवा पाचन-नली कहते हैं, परन्तु गर्भविशेषज्ञ भोजन-नली के प्राथमिक आकार को, जिसकी स्थापना गर्भपिण्ड में

होती है, 'गट' अर्थात प्रारम्भिक अँतड़ी के नाम से पुकारते हैं। गर्भ-पिण्डीय शरीर में सबसे पहले दरारवाली एक उभड़न पैदा हो जाती है और इसके फल स्वरूप उसके शरीर के मध्यप्रदेश में एक कुब्ज उत्पन्न हो जाता है। कुब्ज के योक-थैली की ओर वाले पार्श्व में पड़ी हुई दरार, गर्भपिण्ड के शरीर के दोनों सिरों तक न फैल कर, मध्य में ही
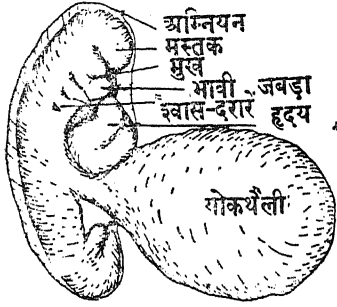
(चित्र ६) चार सप्ताह का मानवीय गर्भपिण्ड (२-६ मिलीमीटर) । उदर से लटकती बड़ी योक-थैली तथा बड़े गोलाकार हृदय को देखिये। चेहरा, कण्ठ तथा उदर-दीवाल का अभाव है। (आकार मूल का ३० गुना)।

सीमित रहती है। गर्भपिण्डीय मण्डल में इस कुब्ज की उत्पत्ति के द्वारा ही यथार्थ में मानव-शरीर की रूपरेखा की स्थापना का प्रारम्भ होता है, क्योंकि गर्भ-विकास की इस अवस्था में ही गर्भपिण्डीय शरीर का एक भाग मस्तक की ओर वाले सिरे तथा दूसरा भाग पूंछ की ओर वाले सिरे के रूप में विशिष्ट होता है।

प्रारम्भ में दो स्तर वाला रूप होने के कारण, गर्भ-पिण्डीय मण्डल का यह नवप्रतिष्ठित आकार भी दो स्तर वाला होता है, जिसमें बाहर की ओर 'ऐक्टोडर्म' अर्थात बाह्यस्तर तथा भीतर की ओर 'ऐण्डोडर्म' अर्थात आन्तरिक स्तर होता है। कुब्जवाले इस विशिष्ट आकार के आन्तरिक स्तर में पड़ी हुई दरार का मस्तक की ओर वाला भाग 'फोर्गट' अर्थात अग्र-अँतड़ी और पूंछ की ओर वाला भाग 'हाइन्डगट' अर्थात पृष्ठ-अँतड़ी कहलाता है (चित्र—७)। इस प्रकार मुख्य अँतड़ी के यह दोनों भाग योक-थैली के ऊपर पड़े हुए इस अँतड़ी के मध्य भाग के सहयोग में भोजन-नली और उसके विविध सहकारी अंगों की रचना प्रारम्भ कर देते हैं। थोड़े समय के उपरान्त, गर्भ-शरीर के मस्तक की ओर वाले भाग की निचली सतह में अग्र-अँतड़ी एक छिद्र के द्वारा गर्भपिण्डीय शरीर के बाहर की ओर खुल जाती है—यह छिद्र ही मनुष्य के मुख-द्वार का सबसे प्राथमिक रूप है। पृष्ठ-अँतड़ी भी इसी प्रकार एक छिद्र की सहायता से गर्भपिण्डीय शरीर के बाहर की ओर द्वार बना लेती है जो भविष्य के गुदा-द्वार को इंगित करता है, परन्तु इस आयु में यह द्वार अभी एक पतली झिल्ली से ढँका हुआ होता है।

गर्भ-शरीर के विकास के अभी तक दिये गए विवरण पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर यही निष्कर्ष निकलेगा कि परिपक्व रजाण्ड शुक्रकीट के द्वारा गर्भित हो जाने के उपरान्त, पचीस दिन के भीतर ही छोटे शरीर वाले ऐसे जीव का आकार ग्रहण कर लेता है, जिसके शरीर में मस्तक और पूंछ की ओर वाले सिरे स्पष्ट हो चुकते हैं तथा उदर और पृष्ठ की ओर वाले पार्श्व इंगित किये जा सकते हैं। इस शरीर की लम्बाई लगभग दो से छः मिलीमीटर होती है यद्यपि इस शरीर की रूपरेखा मानव शरीर की बनावट के समान नहीं होती है, तथापि इस गर्भपिण्डीय शरीर में अपने प्राथमिक रूप में एक मानवीय हृदय अब स्पन्दन करता है, रक्त-नलिकाओं में मनुष्य का रक्त प्रवाहित होता है और इस शरीर के मस्तक के अन्दर मानवीय मस्तिष्क के प्राथमिक आकार की स्थापना हो चुकी है। इस आयु में मुखाकृति तथा कण्ठ प्रदेश के अभाव के कारण, हृदय का प्राथमिक आकार नवप्रतिष्ठित मस्तिष्क से सटा हुआ होता है; हाथ पैर जैसे अवयवों का कोई चिन्ह इस समय नहीं पाया जाता है और किसी खोल से ढँका न होने के कारण गर्भपिण्डीय शरीर का उदर-प्रदेश योक-थैली के ऊपर फैला हुआ पड़ा रहता है (इस समय योक-थैली, कुब्जवाले शरीर के हृदय तथा पूंछ की ओर वाले भागों के बीच में लटकी हुई होती है)। हां ! अमानुषिक रूपरेखा वाले इस शरीर के भीतर, मनुष्य के फेंफड़ों का प्राथमिक आकार अग्र-अँतड़ी की सतह पर एक कम गहरी नाली के रूप

में प्रगट हो चुकता है; हृदय के ठीक पीछे अग्र-अँतड़ी की दीवाल में, मनुष्य के यकृत के प्राथमिक आकार का निरूपण भी एक मुटाई रूप में हो चुकता है और गर्भपिण्डीय शरीर में इसी समय एक पेचीले और दीर्घ परिवर्त्तन-चक्र का प्रारम्भ भी हो जाता है जिसके फल स्वरूप अन्त में मनुष्य के प्राथमिक गुर्दे के आकार की रचना पूरी होगी।

मनुष्य के गुर्दों की रचना, शरीर के भीतर घटने वाले रूप-परिवर्त्तनों की एक ऐसी पहेली है जिसको 'ऐवोल्यूशनरी हैंग-ओवर' कहकर ही समझाया जा सकता है, वैज्ञानिक इस घटनाचक्र को 'रिकैपिन्युलेशन' अर्थात पुनरुद्धरण भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि गुर्दा आदि, कुछ विशेष अंग मनुष्य के शरीर में प्रारम्भ से ही ऐसी कार्य-विधियों और रूप-परिवर्त्तनों के अन्तर्गत नहीं रचे जाते हैं जिनसे उन अंगों का, मनुष्य में पाया जाने वाला आकार एक बार में ही प्राप्त हो जाय, परन्तु उन अंगों की रचना एक विशेष परिवर्त्तन-विधान के अन्तर्गत सम्पादित की जाती है—सबसे पहले उन अंगों की रचना इस प्रकार की जाती है कि विकास क्रम की एक निम्न जाति के पशु में पाए जाने वाले अंगों के समरूपी आकार की प्राप्ति हो जाय (जैसे मछली में पाया जाने वाला उस अंग के समान आकार)। इसके उपरान्त इस आकार को मिटा दिया जाता है और उस जीव जाति से अधिक विकासप्राप्त जीव जाति के पशु में पाए जाने वाले अंग के आकार के समरूप रचना की जाती है। और अन्त में इस दूसरे अल्पकालीन आकार को भी मिटा कर, इस प्राथमिक तथा मध्यकालीन आकारों के अवशिष्ट भागों की सहायता से उस अंग के ऐसे आकार की रचना की जाती है जो कि वयस्क मनुष्य में पाया जाता है। रूपपरिवर्त्तनों के इस विशेष विधान को वैज्ञानिकों ने इस प्रकार समझने का प्रयास किया है कि गर्भपिण्ड के शरीर में इन अंगों की रचना उस विकासवाद की पूर्ण पुनरावृत्ति है जिसके अन्तर्गत पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति के उपरान्त अगणित वर्षों में हुए रूप-परिवर्त्तनों के घटना-प्रवाह के द्वारा, विकास-क्रम के अनुसार, विविध जातियों की उत्पत्ति के अन्त में मनुष्य के रूप की उत्पत्ति होती है। इस विधान को दूसरे शब्दों में विकासवाद सम्बन्धी आकार-पुनरावृत्ति भी कहा जा सकता है।

प्रथम मास के अन्तिम दस दिनों की अवधि में, गुर्दे का वह आकार गर्भपिण्ड में सबसे पहले प्रगट होता है जो
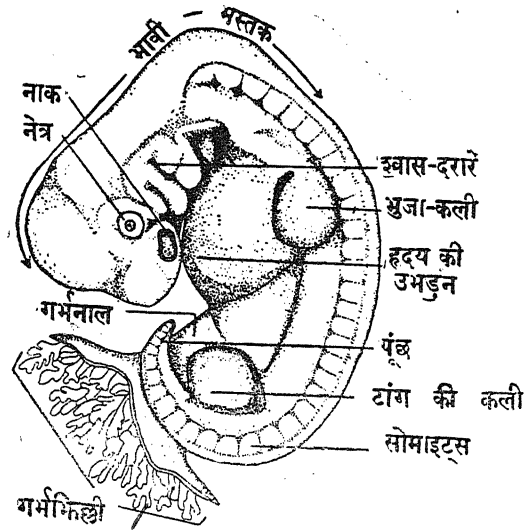
(चित्र १०) पहले मास के अन्त पर मानवीय गर्भपिण्ड (७ मिलीमीटर)। पूरे गर्भ-पिण्ड का लगभग तिहाई भाग भावी मस्तक प्रदेश का है। (आकार मूल से १५ गुना बड़ा)।

कि अत्यन्त पुरातन युग की 'ईल' मछली में पाया जाता था। 'मेजोडर्म' अर्थात् मध्य-स्तर के ऊपर सूक्ष्म-नलिकाओं के रूप में यह प्राथमिक गुर्दा भविष्य के कण्ठ-प्रदेश के निकट प्रतिष्ठित होता है। यह प्राथमिक आकार दूसरे मास के प्रारम्भ तक लुप्त हो जाता है और गर्भपिण्डीय शरीर में मध्यकालीन गुर्दे के आकार को जन्म देने वाले परिवर्त्तनों का दूसरा प्रयास आरम्भ हो जाता है।

गर्भावस्था के प्रथम मास के अन्त के समीप मानवीय गर्भपिण्ड चौथाई इंच लम्बा और छोटे आकार का एक कोमल जीव होता है, इसका मस्तक थोड़ा अधिक आगे की ओर झुका हुआ होता है, इसकी नुकीली छोटी पूंछ उदर-प्रदेश के नीचे की ओर मुड़ी होती है तथा इसके शरीर-पार्श्वों में अब छोटी छोटी घुण्डियाँ दिखलाई देती हैं जो इस शरीर के अवयव अर्थात् भुजा और पैरों के चिन्ह मात्र हैं। अभी इसकी मुखाकृति की रूपरेखा स्पष्ट नहीं होती है, मस्तक में मुख-द्वार के स्थान पर चौड़ा और गहरा केवल एक छिद्र है

और उसी के नीचे निचले जबड़े के प्रतिनिधि स्वरूप धनुषाकार एक छोटा दण्ड होता है। इस अवस्था को प्राप्त गर्भ-शरीर के मोटे और छोटे कण्ठ प्रदेश के पार्श्वों में दरारें या दरारों के अनुरूप चार गड्ढे दृष्टिगोचर होते हैं—यह आकार एक और विकासवाद सम्बन्धी आकार-पुनरावृत्ति के दृष्टान्त प्रतीत होते हैं। इन दरारों की तुलना, स्थिति तथा आकार के आधार पर, मछली के मस्तक के पार्श्वों में स्थित श्वास-छिद्रों से की जा सकती है। इस आकार के विकास में उसी कथन का अनुमोदन प्राप्त होता है जिसके अनुसार मानवीय गर्भपिण्ड, किसी विधान के प्रभाव में, विकासवाद के अनुगत जीव-जातियों के विकास की पुनरावृत्ति करता है।

लगभग एक मास की आयु के गर्भपिण्ड के शरीर का हृदय-आकार सापेक्षिक रूप से इतना विशाल होता है कि गर्भपिण्डीय शरीर की दीवाल में उसके कारण एक उभड़न पैदा हो जाती है और गर्भपिण्डीय मस्तक इस उभड़न के ऊपर सहारा लिये हुए आगे की ओर झुका रहता है। इस गर्भपिण्डीय शरीर का सम्बन्ध गर्भझिल्ली से, उदर प्रदेश की दीवाल से सम्बद्ध गर्भनाल द्वारा होता है। इस समय शरीर के पृष्ठ भाग की पतली त्वचा में, कोष्ठ समूह के परस्पर निकट स्थित अड़तीस गुच्छे चमकते दिखलाई पड़ते हैं। कोष्ठ-समूहों के यह गुच्छे ही, जिनको 'सोमाइट्स' कहा जाता है, अन्त में मांसपेशियों के जाल की स्थापना करेंगे।

इस अवस्था के अमानुषिक शरीर में मनुष्य के लगभग सभी अंगों की रचना का कार्य प्रारम्भ हो चुका है। मस्तक-प्रदेश में, नवनिर्मित स्नायु-नली के द्वारा आगे की ओर निकाल दी गई दो छोटी उभड़नों के रूप में नेत्र-रचना का प्रारम्भ हो जाता है। यह उभड़नें थोड़े समय में शराब की प्याली के रूप के समान आकार ग्रहण कर लेती हैं (चौड़ी, कम गहरी और पतले दण्ड वाली प्याली)। यह प्यालियाँ ही अन्त में नेत्रों का चेतनशील भाग बनेंगी—नेत्र-पुतली की गहराई में 'रैटिना' अर्थात् नेत्र-चित्रपट तथा 'आइरिस' अर्थात् नेत्र-तारा, यह भाग ही नेत्रों के चेतनशील भाग हैं। इन प्यालियों के सामने वाले भाग के ऊपर एक 'लैन्स' अर्थात् ताल भी दृष्टिगोचर होने लगता है जो कि त्वचा द्वारा निर्मित हुआ है। यह अविकसित नेत्र अभी प्रकाश-सचेतन नहीं हैं, वरन् अस्थिर हैं और प्रकाश को ग्रहण कर के मस्तिष्क से उसका सम्बन्ध स्थापित करने के अयोग्य हैं।

मस्तक प्रदेश की दो और इन्द्रियाँ भी इसी काल में प्रगट हो जाती हैं। मस्तक के सामने की त्वचा में खुदे हुए दो अण्डाकार गड्ढे प्रगट हो जाते हैं। ये छोटे छोटे गड्ढे, मुखाकृति के ऊपर बाहर की ओर उभड़ी हुई नाक के छिद्रों के भीतर स्थित गन्ध-सचेतन त्वचा अथवा वास्तविक गन्धेन्द्रिय के प्रारम्भ हैं। श्रवणेन्द्रियों की स्थापना भी प्रत्येक नेत्र के कुछ पीछे की ओर प्रारम्भ हो जाती है—इस में भी मस्तक के दोनों पार्श्वों में बाहर की ओर उभड़े हुए, पंखेनुमा कानों के भीतर स्थित उस चेतनशील कोष्ठ-समूह की रचना का ही प्रारम्भ इस समय होता है जो कि इस नूतन जीव को भावी जीवन में ध्वनि को सुनने तथा अपना सन्तुलन बनाए रखने के योग्य बना देगा।

मस्तक के भीतर प्रतिष्ठित अंगों के समान ही, गर्भपिण्डीय शरीर के धड़ वाले भाग के भीतर भी उन सभी अंगों की रचना का प्रारम्भ प्रथम मास के अन्त तक हो जाता है, जो कि वयस्क मनुष्य में पाए जाते हैं। हृदय के आकार के निकट फेंफड़े छोटी छोटी दो थैलियों के रूप में प्रगट हो जाते हैं और ये लम्बी और पतली 'ट्रेन्चिया' अर्थात् श्वास-नली के द्वारा भावी कण्ठनाल से सम्बद्ध होते हैं। गर्भपिण्ड की तीन सप्ताह वाली सरल, प्राथमिक अँतड़ी का विशिष्टीकरण इस समय तक भोजन-नली के विविध भागों में हो चुकता है—भोजन-नली का कण्ठ प्रदेश वाला भाग 'ईसोफेगस', जो कि मुख का सम्बन्ध आमाशय से, एक पतली और लम्बी नली के रूप में, करता है; इसके बाद बेलन के आकार वाला चौड़ा और फैला हुआ भाग, आमाशय, जो कि अन्त में आँतों की पतली नली में रूपान्तरित हो जाता है। भोजन-नली के यह सब भाग इस समय अप्रयोजनीय होते हैं क्योंकि यह नली अभी मुख से लेकर गुदा तक पूरी तरह खुली हुई एकमार्गवत् नहीं है—आँतों की नली इतनी कम चौड़ी होती है कि उसकी दीवालें परस्पर मिल गई हैं। गर्भ की इस अवस्था में योक-थैली अभी तक आँतों के मध्य भाग से लटकी हुई होती है।

गर्भपिण्ड, प्रथम मास के समाप्त होने तक, गुर्दे की रचना सम्बन्धी प्रथम प्रयास त्याग देता है और वह अविकसित प्राथमिक आकार प्रायः लुप्त हो जाता है।

(चित्र ११) पहले मास के अन्त पर मानवीय गर्भपिण्ड का भीतरी खाका।

मध्यकालीन गुर्दे के आकार की रचना का आयोजन इस समय तक हो चुकता है। और यह आकार प्राथमिक आकार से अधिक पेचीला होता है। नलिकाओं के दीर्घ समूह के रूप में आँतों के पीछे की ओर इस आकार की स्थापना होती है; परन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस प्रयास की भावी विफलता का आभास अभी से गर्भपिण्ड को हो गया है क्योंकि तीसरे अन्तिम स्थायी गुर्दे के आकार की रचना का आयोजन भी इसी काल में हो जाता है—यह अन्तिम स्थायी आकार ही मनुष्य के वास्तविक गुर्दे का नया अविकसित रूप होगा। भविष्य के स्थायी गुर्दे का प्रतिरूप, गर्भ की इस अवस्था में वह छोटी सी थैली मात्र है जो कि शरीर के पूंछ वाले सिरे की तरफ मध्य-कालीन गुर्दे के आकार की प्रणाली में से बाहर निकली हुई है। इस समय महत्त्वहीन व निरर्थक प्रतीत होने वाला यह अविकसित आकार ही, अन्त में समय पाकर, सच्चे स्थायी गुर्दे का निर्माण करेगा।

इस प्रकार मानवी गर्भपिण्ड अपने जीवन के प्रथम मास को समाप्त करता है। उसके सरल व प्रारम्भिक अंगों में मनुष्य के आकार की समता का प्रादुर्भाव झलकता है। गर्भझिल्ली की सहायता से भोजन-प्राप्ति की सुव्यवस्था हो चुकने के साथ ही गर्भपिण्डीय शरीर में वेगवती क्रिया-शीलता की लहर दौड़ जाती है और एक सप्ताह से कुछ अधिक समय के भीतर ही उन सभी अंगों की रचना का कार्य गर्भपिण्डीय शरीर में प्रारम्भ हो जाता है, जो वयस्क मनुष्य में पाए जाते हैं। सरल आकार वाले रजाण्ड तथा शुक्रकीट के रूप से, गर्भाधान के उपरान्त तीस दिनों के भीतर ही, यह नूतन जीव मानवता के प्रवेश द्वार पर आ जाता है।

ज्वार भाटे की भविष्यवाणी करने वाला यंत्र

क्या कलकत्ता डूब रहा है ? निर्माण कार्य में लगे हुए इंजीनियर इसी चिंता में व्यग्र हैं। उनके हृदय में यह संशय विद्यमान रहता है कि भूमि पर नालियों आदि के निर्माण का जो कार्य किया जा रहा है वह उनके निश्चय के अनुसार पूर्ण होगा अथवा उसमें कोई परिवर्तन हो जायगा। उन्हें यह भी शंका है कि पृथ्वी के ऊपरी स्तर तथा समुद्र के स्तर में जो अन्तर था वह कम तो नहीं हो रहा है ?

अंडमान, कोचीन तथा काठियावाड़ के तटों की स्थिरता के सम्बन्ध में भी इधर कुछ वर्षों से भूगर्भवेत्ता चिंतित हैं। इन संशयों का विश्लेषण करने तथा उनकी यथार्थता की छानबीन करने का कार्य अन्य लोगों के अतिरिक्त भारतीय पर्यवेक्षण विभाग की ज्वारभाटा शाखा करती है।

भारत में तट की स्थिरता सम्बन्धी प्रथम विवाद १८७० में आरम्भ हुआ था, जब यह शंका हुई थी कि काठियावाड़ का तट डूब रहा है। भारत के उस समय के शासक अत्यंत व्यग्र हो उठे थे कि क्या करना चाहिए। अंत में यह निश्चय किया गया कि इसकी वैज्ञानिक छानबीन के लिए ब्रिटिश एसोसिएशन से अनुरोध किया जाय।

यह एसोसिएशन भी तत्काल ही इसका कोई उत्तर न दे सका, किन्तु दीर्घकाल तक अध्ययन करने के बाद उसने यह सुझाव रखा कि एक ऐसा यंत्र बनाना संभव है जो ज्वारभाटों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सके तथा जिसके द्वारा समुद्र के ऊँचे तथा नीचे ज्वारभाटों का समुचित अध्ययन किया जा सके। उन्होंने कहा कि यदि एक निश्चित अवधि में समुद्र स्तर में कोई परिवर्तन दिखाई न दिया तो यह निश्चय है कि तट स्थिर रहेगा।

इन परिस्थितियों में इंगलैंड में भारत सरकार के आर्डर पर १८७८ में ज्वारभाटे की भविष्यवाणी करने वाला पहला यन्त्र बनाया गया। भारत सरकार की ओर से ४० वर्ष से अधिक समय तक इस यंत्र द्वारा इंगलैंड में न केवल भारतीय क्षेत्र की वरन् सम्पूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य में आने वाले ज्वार भाटे की भविष्यवाणियां प्राप्त की जाती रहीं। १९२० में यह यंत्र भारत लाया गया और तब से देहरादून में इसका उपयोग किया जाता रहा है, जहाँ भारतीय पर्यवेक्षण विभाग की ज्वारभाटा शाखा विद्यमान है।

यह यन्त्र ज्वारभाटा सम्बन्धी घोषणा करने वाला संसार का सबसे पुराना तथा प्रथम यन्त्र है। यह बड़ा पेचीदा है और इसकी कार्य-प्रणाली बहुत नाजुक है। इस यन्त्र से सैकड़ों वर्ष पहले ज्वारभाटों के सम्बन्ध में घोषणा की जाती है।

उदाहरण के रूप में यदि आप ७ अप्रैल, २००० को आने वाले ज्वारभाटे की स्थिति जानना चाहते हैं, तो उसका ढंग बहुत सरल है। सर्वप्रथम उस तिथि को सूर्य तथा चन्द्रमा की स्थिति का हिसाब लगा लिया जाता है और उसी के अनुसार यंत्र में व्यवस्था कर दी जाती है। तब यन्त्र चालू कर दिया जाता है।

यन्त्र में दो ढोल तथा दोनों के साथ कागज का एक-एक गोल बंडल तथा एक-एक पेंसिल लगी रहती है। इनमें से एक पर ७ अप्रैल २००० को होने वाली ज्वार-भाटे की उच्चतम से न्यूनतम स्थिति और दूसरे पर उच्च ज्वार तथा नीचे भाटे का समय अंकित हो जायगा।

आज, भारतीय पर्यवेक्षण विभाग की ज्वारभाटा शाखा १९५५ के लिए भविष्यवाणियां कर रही है। ये सब भविष्यवाणियां संचित करके बन्दरगाह तथा जहाजों के लाभ के लिए पुस्तक रूप में प्रकाशित कर दी जाती हैं। नौ-चालकों के लिए वह पुस्तक बहुत लाभदायक होती है।

प्रति चौबीस घंटे में दो ज्वार तथा दो भाटे आते हैं। कोचीन तथा मद्रास में ज्वार का चढ़ाव तथा भाटे का उतार लगभग तीन-चार फुट होता है जब कि खम्भात की खाड़ी में लगभग ३० फुट और बम्बई में १५ फुट होता है। बन्दरगाह में जहाजों के प्रवेश अथवा निकासी के नियन्त्रण तथा निर्देश के लिये ये भविष्यवाणियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

आशा है भारतीय पर्यवेक्षण विभाग के पास अब आधुनिकतम किस्म का यंत्र आ जायगा जो वर्तमान यंत्र से बड़ा होगा। संसार में इस समय ज्वार भाटे की भविष्यवाणी करने वाले स्वयं चलने वाले केवल लगभग २० यंत्र हैं।

खिदरपुर में रखी गयी भविष्यवाणियों से ज्ञात हुआ कि १८८० से १९३० तक जल की अपेक्षा भूमि प्रति दस वर्ष में लगभग दो इंच के हिसाब से ऊँची होती रही। १९३० के बाद भूमि कुछ नीची होने लगी, किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक जारी नहीं रही और समुद्र-स्तर में घटाबढ़ी होनी रही।

तट से दूर ज्वार भाटे के सम्बन्ध में अध्ययन करने का कार्य भारतीय नौ सेना के अधीन एक शाखा द्वारा किया जाता है। दोनों शाखाओं में निकट सम्पर्क विद्यमान रहता है।

नकली सोना

लेखक— प्रिंसिपल दया स्वरूप, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

कांचन अर्थात सोने में सभी गुण माने गये हैं, परन्तु असली सोने के वाह्य रूप रंग से ही नकली सोना कितना सर्वप्रिय हो गया है। उस नकली सोने के वैज्ञानिक विवेचन को लेखक ने इस लेख में वर्णित किया है। इस की उपादेयता स्वतः सिद्ध है।

आकर्षक रंग, विविध गुणों तथा अमूल्यता के कारण सोना मानव समाज का अत्यन्त प्रिय पदार्थ बनता आ रहा है। प्राचीन काल से लोग इसे विविध रूपों में उपयोग करते आ रहे हैं। निर्धन मनुष्य भी सोने के आभूषण पहिनने की अभिलाषा रखते हैं। पर सोना तो अमीरों की शोभा है, गरीबों से उसे प्रीति नहीं है। असली सोना खरीदना दीनों के सामर्थ्य के बाहर है अतः उनकी इच्छा-पूर्ति के लिये धातुविज्ञों ने सस्ता 'नकली' सोना प्रस्तुत किया है।

सोने का महत्व अनुपम गुणों के कारण है, उसको पीट कर बहुत पतले पत्र, वरक आदि बनाये जा सकते हैं। उसके अत्यन्त बारीक तार खींचे जा सकते हैं। वह नरम होता है और सरलतापूर्वक गढ़ा और जोड़ा जा सकता है। रखने पर यह चमकहीन नहीं होता और न उसमें रखे खाद्य पदार्थ ही खराब होते हैं, इसका रंग चमकदार और चित्ताकर्षक होता है। धातुविज्ञों ने बहुतेरे प्रयोग कर के ऐसी धातु बनाने का प्रयत्न किया है जिसमें सोने के अधिकांश गुण आ जाएँ। इन कृत्रिम धातुओं को 'नकली' सोना कह सकते हैं। अंग्रेजी में इनके कई नाम हैं: यथा 'इमिटेशन गोल्ड', 'फ्रेंच गोल्ड', 'तांबक', 'मेनहीम गोल्ड', 'ताल्मी गोल्ड' इत्यादि। भारत में बाजारों में कुछ विक्रेता इसे 'अमेरिकन गोल्ड' के नाम से भी पुकारते हैं।

नकली सोना वास्तव में तांबा तथा कुछ अन्य धातुओं के मिश्रण से बनाया जाता है। मुख्य धातु तांबा है। अन्य धातुयें ये हैं: जस्ता, रांगा, एंटीमनी, लोहा, सीसा आदि। इन धातुओं में से एक, दो या अधिक धातुएँ विभिन्न अनुपातों में तांबे के साथ मिश्रित की जाती है। इस प्रकार निर्मित धातुसंकर (alloy) रंग और गुणों में न्यूनाधिक रूप में सोने के समान होती है।

'तांबक' (Tombac)

यह तांबा और जस्ते का धातुसंकर है। इसमें १८ प्रतिशत तक जस्ता तथा शेष तांबा रहता है। इसका रंग किंचित लालिमा लिये हुए सुनहला होता है, यह धातु सत्रहवीं शताब्दी में स्याम में निर्मित हुई। मलाया में इसे 'तांबूगा' (संस्कृत ताम्र) कहते हैं। तांबक इसी का अपभ्रन्श है।

शुद्ध तांबक में, अर्थात् जिसमें सीसा, रांगा आदि अशुद्धियां नहीं रहतीं, कम तापमान पर पर्याप्त तांतवता (तार खींचने की शक्ति) रहती है। इस धातुसंकर से ठप्पों द्वारा आभूषण बनाये जाते हैं। बटन, सुनहले वरक आदि भी इससे बनाये जाते हैं। समय पाकर इस के रंग में कुछ फर्क आ जाता है इसलिये बहुधा इसके बने पदार्थों पर सोने का पानी या हलका मुलम्मा चढ़ा दिया जाता है जिससे इसकी सुनहली चमक बनी रहती है।

इसमें जस्ता १० प्र० श० से कम या १८ प्र० श० से अधिक नहीं होता। तांबक के कुछ प्रचलित धातुसंकरों का रासायनिक विश्लेषण इस प्रकार है:—

नाम	ताँबा	जस्ता
	प्र० श०	प्र० श०
१. जर्मन तांबक	८५	१५
२. " "	८५.३	१४.७
३. " "	८२.३	१७.७

"मेनहीम सोना" (Manheim Gold)

इसमें ताँबा, जस्ता और राँगा का मिश्रण रहता है, इसका रंग सुनहला होता है, इसकी बनावट विविध प्रकार की होती है, जैसेः

	१	२	
ताँबा	८३.७	८६.८	प्र० श०
जस्ता	६.३	६.६	" "
राँगा	७.०	.४	" "

बटन आदि वस्तुएँ बनाने में पहिले इसका बहुत उपयोग होता था पर अब इसका स्थान अधिक आकर्षक रंग वाले धातुसंकरों ने ले लिया है, ।

'ताल्मी' या ताल्मी सोना (Talmi Gold)

यह पेरिए से आता था, सस्ते गहने, कर्णफूल, ब्रेसलेट आदि इस नकली सोने से बनते हैं, इन गहनों में काम की बारीकी, कम मूल्य, सुनहला रंग और अत्यधिक टिकाऊपन होता है।

बहुधा ताल्मी पर सोने का पतला पत्र चढ़ा कर पूरे टुकड़े को बेल दिया जाता है। इस प्रकार ताल्मी की सतह पर सोने की पतली तह चढ़ जाती है। इसे 'रोल्ड गोल्ड' कहते हैं। यह नरम और तांतव होता है। इसका सुनहला रंग बहुत टिकाऊ होता है।

आज कल सोने का पानी चढ़ाया हुआ (Gold plated) ताल्मी बाजारों में बिकता है। इसमें सोने की पर्त इतनी पतली होती है कि कभी कभी मोटे कपड़े से रगड़ देने पर सोना गायब हो जाता है।

ताल्मी सोना बनाने में जिन धातुसंकरों का उपयोग होता है उनमें से कुछ ये हैं :—

	१	२	३	४	५	६
तांबा	८६-८	६०-३	६०	६०-७	८७-५	६३-४
जस्ता	६-१	८-३	..	८-६	१२-४	६-५
सोना	१-१०	.६	.६	.०५	.०५	.०५

उपर्युक्त बनावटों के अवलोकन से ज्ञात होगा कि इनमें सोने की मात्रा बहुत घट बढ़ होती है। जिनमें सोना अधिक होता है वे अधिक टिकाऊ होते हैं। प्रथम तीन बनावटें असली पेरिस के ताल्मी की है। शेष में सोने का पानी चढ़ा हुआ है।

सोने के समान धातु-संकर।

यह तांबा और एन्टीमिनी का धातु-संकर होता है। उसमें ९६ प्रतिशत तांबा और ४ प्रतिशत एन्टीमिनी होता है। वह भी फ्रांस से आता है और इसका रंग सोने के समान होता है। इसमें तांतवता और घनवर्धनीयता पतली (चद्दर बेलने का गुण) कम होती है। बहुधा इसे ढाल कर कलापूर्ण वस्तुयें बनाई जाती हैं।

अलुमीनियम ब्रोंज़ (Aluminium Bronze)

इसमें ४ से ले कर ८ प्रतिशत तक अलुमीनियम और शेष तांबा होता है। ८ प्रतिशत अलुमीनियम वाले धातु-संकर का रंग पीला सुनहला होता है और अधिक लोकप्रिय है। यह घनवर्धनीय और तांतव होता है तथा इसका संक्षारणावरोध[1] अधिक होता है। इस धातुसंकर से मेडल, ट्रे, सिगरेट केस, चद्दर आदि बनाई जाती है। मंदिरों के सुनहले दरवाजे, मंडप आदि भी बहुधा इसी के बने होते हैं।

भारत में नकली सोने की बहुत उपयोगिता है। धनहीन लोग सोना नहीं खरीद सकते। उनकी साध इस सस्ते, नकली, सोने से पूर्ण होती है। विविध धातु-संकरों में सोने के गुण निम्नाधिक रूप में पाये जाते हैं पर उन सब में सोने का आपेक्षिक घनत्व (भारीपन) नहीं होता। इस एक दुर्गुण के कारण नकली और असली का भेद बड़ी सरलता से मालूम हो जाता है।

---

१. संक्षारणावरोध Corrosion Resistance, इस गुण के कारण वायु, खाद्यपदार्थ, हल्के अम्ल और क्षार आदि के सम्पर्क में धातु की सतह खराब नहीं होती।

उत्पत्ति शास्त्र और लायसेंको के विचार

लेखक—श्री० कृष्ण चन्द्र दूबे एम० एस-सी०

श्री दुबे 'विज्ञान' के परिचित लेखक हैं। उन्होंने लायसेंको के विचारों पर प्रकाश डाल कर इस लेख में उत्पत्ति शास्त्र की चर्चा की है। लेख में वंश-परम्परा का वैज्ञानिक विवेचन पठनीय है।

उत्पत्ति शास्त्र प्राणिशास्त्र का वह भाग है जो वंश-परम्परा और प्राणियों में भेद के अध्ययन से सम्बन्ध रखता है! यह एक सामान्य अवलोकन का विषय है कि संतान अपने माता-पिता से समानता रखती है! साँप का बचा सदैव साँप ही होता है और घोड़े का बच्चा घोड़े से तथा आम के वृक्ष आम की गुठली से ही होते हैं। घोड़े की सन्तान कभी साँप नहीं होती और न आम की गुठली से बरगद का वृक्ष उत्पन्न होता है! संतान की इस परंपरा को अपनाने की प्रवृत्ति को वंश-परंपरा कहते हैं। पर साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि निकट समानता रखते हुए भी संतान अपने माता-पिता सरीखी नहीं होती! प्रत्येक प्राणी दूसरे से भिन्न है! कोई भी दो मनुष्य एक समान नहीं होते; यद्यपि हर एक के वही नाक, कान, आंख और मुख है! हममें से प्रत्येक घटक मनुष्य है पर हर एक का एक स्थान है, दूसरे से भिन्न है।

प्रत्येक जीव जीवनरस 'प्रोटोप्लाज्म' (Protoplasm) नामक पदार्थ की छोटी छोटी ईकाइयों का बना रहता है जो कोष 'सेल्स' (Cells) कहलाती हैं। प्रत्येक सेल में 'क्रोमोसोम' (Chromosome) नामक छोटे छोटे कण होते हैं ये कण वास्तव में अत्यन्त सूक्ष्म मोतियाकार कणों के समूह हैं और ये मोतियाकार कण 'जीन' (Gene) कहलाते हैं। प्रत्येक क्रोमोसोम में सैकड़ों-हजारों जीन रहते हैं! माता-पिता के योग से संतानोत्पत्ति होती है और ये जीन माता-पिता से संतान तक पहुँचकर, गर्भ में उन क्रियाओं को उत्तेजित करते हैं जो शरीर की रूप-रेखा और भिन्न अवयवों की रचना में सहयोग देते हैं। प्रत्येक प्राणी का वाह्य-रूप इन्हीं पर निर्भर रहता है और इस प्रकार परम्परा चलती है! मनुष्य की मानसिक-शक्ति और वाह्य-आकार-रूप इन्हीं पर निर्भर हैं यद्यपि वाह्य-रूप वातावरण का भी प्रभाव हो सकता है।

लायसेंको के अग्रगामी—

उत्पत्ति शास्त्र के विषय में लायसेंको से पूर्व ग्रेगर जोहन मेंडेल और वीज़मैन अपने विचार प्रगट कर चुके थे। लेमर्क (१८२९) और चार्ल्स डारविन (१८८२) इस दिशा में प्रथम विचारक थे। पर उनका ध्येय उत्पत्ति शास्त्र मूल को समझना न था वरन् विकास का मूलाधार ढूँढ़ना था! लेमार्क के अनुसार वातावरण में परिवर्त्तन के फलस्वरूप प्राणी में भेद या अंतर उत्पन्न होता है! यह भेद वातावरण से स्वतंत्र भी हो सकता है; जैसे किसी अवयव के अधिक कार्यशील या अकार्यशील रहने से! लेमार्क ने इस विचार की पुष्टि के लिए जिर्रफ का उदाहरण दिया था जिसकी गरदन झाड़ों के पत्ते खा-खाकर हुई! वातावरण में परिवर्त्तन के कारण घास और पौधे नष्ट हुए और तब जिर्रफ को ऊँचे वृक्षों पर ही निर्भर रहना पड़ा! इस प्रकार उस भाग के अधिक कार्यशील रहने से गरदन ने यह रूप लिया। हाथों के पैरों की अपेक्षा अधिक कार्यशील रहने से लोहार के हाथ की माँस-पेशियाँ बहुत गठित रहती हैं पर पैर अपेक्षाकृत कमजोर! लेमार्क के अनुसार यह परिवर्त्तन या भेद परंपरागत होता है और इस प्रकार एक नया प्राणि-विशेष उत्पन्न होता है। डारविन के अनुसार प्राणियों में यह परिवर्त्तन, भेद या अंतर सार्वलौकिक रूप से होता है।

अधिक उत्पत्ति हो जाने से प्राणियों में जीवनास्तित्व-युद्ध होता है और इसके फलस्वरूप अयोग्य-जीवों का विनाश होकर योग्य प्राणी ही रह जाते हैं। परंपरा उत्तरजीवियों की दिशा में बढ़ती है। यह दोनों ही विचार यह मानते हैं कि वातावरण के प्रभाव के कारण जो परिवर्त्तन जीव में होते हैं, वे परंपरागत होते हैं।

आस्ट्रियन साधु ग्रेगर मेंडेल अपने आश्रम के बाग में लगभग आठ वर्षों तक मटर के पौधों पर अन्वेषण और अवलोकन करते रहे और इस अन्वेषण का विवरण सन् १८६५ में एक साधारण सी वैज्ञानिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। एक तो लोगों की उस दिशा में अज्ञानता और अरुचि और दूसरे वह पत्रिका अधिक प्रचलित नहीं थी—इन कारणों से मेंडेल की खोज १९०० तक अंधकार में ही रही पर इसी काल के लगभग बेटसन ने मेंडेल-सिद्धान्तों की पुष्टि अपनी नयी खोजों से की। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में वैज्ञानिक वीजमैन ने उत्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्तों में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। उनके अनुसार प्राणी के अपनाये गये गुण परम्परागत नहीं होते। शरीर को उन्होंने दो भागों में विभाजित माना—'मूल' (Germ) और 'देह' (Soma)। 'देह' मरणशील है, मूल नहीं और यह 'मूल' दूसरी पीढ़ी के 'देह' और 'मूल' को जन्म देता है! इस प्रकार यह 'मूल' परम्परागत है, देह नहीं। और यदि प्राणी के जीवन काल में 'देह' किसी अन्तर या भेद को अपनाता है—वह परम्परागत न होगा। मूल में यदि भेद हो, और जिसकी संभावना वीजमैन के अनुसार बहुत कम है, तो वह अवश्य परंपरागत होगा। और इस 'मूल' पदार्थ की स्थिति क्रोमोसोम (Chromosome) में है! तो प्रश्न यह है कि यदि किसी कारण से उस मूल में परिवर्त्तन लाया जावे तो वीजमैन के अनुसार उसे दूसरी पीढ़ी में परम्परागत होना चाहिये। इस विचार को लेकर मोरगन ने 'ड्रासोफीलिया' (Drosophyllia) पर अन्वेषण कार्य किया! 'मूल' में इस प्रकार परिवर्त्तन एक्स-किरणों (X-ray) या अल्ट्रा-वॉयलेट-पराकासनी किरणों (ultra-violet-ray) से लाया जा सकता है!

इस प्रकार लायसेंको के अग्रगामी विचारकों ने उत्पत्तिशास्त्र के जिन सिद्धान्तों की रचना की, उनके अनुसार—

१—प्राणी में किसी भी कारण से अपनाए गये गुण परंपरागत नहीं होते हैं।

२—वे ही गुण परम्परागत होते हैं जो प्राणी के 'मूल' में अन्तर लाते हैं।

३—आकस्मिक परिवर्त्तन से नये प्राणि-विशेष की उत्पत्ति सम्भव है।

लायसेंको की नई धारा :—

रूसी वैज्ञानिक लायसेंको ने उत्पत्ति शास्त्र के क्षेत्र में एक नयी क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। लायसेंको के अनुसार हस्तगत किये हुए गुण परम्परागत होते हैं। परम्परा पूर्ण रूप से वातावरण से स्वतन्त्र नहीं हो सकती। प्राणी में परम्परागत 'मूल' की स्थिति को ये मान्यता नहीं देते। प्राणि-शरीर में परिवर्त्तन परम्परा में परिवर्त्तन कर सकता है; या दूसरे शब्दों में 'देह' में उत्पन्न अन्तर परम्परागत है, यद्यपि यह सदैव आवश्यक नहीं कि यह परिवर्त्तन मौरूसी हो। किसी भी जीव-विशेष की परम्परा में एक निश्चित काल में आवश्यक परिवर्त्तन उत्पन्न करके उसे एक निश्चित दिशा की ओर गति दी जा सकती है अथवा वैज्ञानिक रूप से मनुष्य पौधों और पशुओं की नई जाति और नस्ल पैदा कर सकता है।

लायसेंको के विचार बहुत कुछ लैमार्क के विचारों के समीप आ जाते हैं और इन विचारों को "लैमार्क सिद्धान्तों की नयी धारा" कहा जाने लगा है।

लायसेंको डारविन के उस सिद्धांत को नहीं मानते जो एक प्राणि विशेष समाज के अन्तर्गत जीवनास्तित्व-युद्ध का दर्शन करता है। उनके विचार से यह युद्ध प्राणी-प्राणी के बीच ऐसे युद्ध को देखते हुए महत्वहीन है। लायसेंको वीजमैन के 'मूल' और 'देह' सिद्धान्त को वहाँ नहीं मानते जहाँ वीजमैन 'मूल' को 'देह' से स्वाधीन मानते हैं और मूल में ही परम्परागत गुणों की उपस्थिति देखते हैं। लायसेंको के अनुसार ये गुण केवल मूल में ही नहीं, देह में भी रहते हैं।

अपने इन सिद्धांतों की पुष्टि लायसेंको ने नाना प्रयोगों से की है। उन्होंने ठंड ऋतु की गेहूँ की फसल को वसंत ऋतु की फसल में परिवर्तित किया है। इस प्रयोग को

'वरनलाइजेशन (Vernalisation) कहा गया है। 'वरनलाइजेशन' या 'फसल-ऋतु-परिवर्तन' वह क्रिया है जिससे एक पौधे के जीवन को कम समय में पूरा किया जा सकता है। लायसेंको ने २८ क्रोमोसोम-गेहूँ-जाति से ४२ क्रोमोसोम जाति गेहूँ पैदा किया है। टमाटर व अन्य वनस्पतियों के नये पौधे इस प्रकार उन्होंने दो भिन्न-पौधे-विशेष के योग से प्राप्त किये हैं। उनके प्रयोगों के फल-स्वरूप दक्षिण रूस में गर्मी में आलू की पैदावार सम्भव हो गई है। उत्तर-पूर्वी साइबेरिया की बर्फीली भूमि में भी गेहूँ की पैदावार हो रही है। भेड़, मुर्गी और गाय इत्यादि की अच्छी वर्णसंकर नस्लें उत्पन्न की गई हैं। इस प्रकार उसने सिद्ध कर दिया है कि मूल से स्वाधीन भी परंपरा की दिशा में फेर लाया जा सकता है।

लायसेंको के सिद्धान्तों की राजनैतिक पृष्ठभूमि

लायसेंकों के सिद्धान्तों को रूस में जो अभूतपूर्व मान्यता मिली है, उसका कारण वैज्ञानिक तो है ही पर साथ ही साथ राजनैतिक भावनाओं और सिद्धान्तों का प्रधान सहयोग है। रूस में तर्कीय भौतिकवाद (Dialectical materialism) की मान्यता है और लायसेंकों का उत्पत्तिशास्त्र इस भौतिकवाद के सिद्धान्तों की पुष्टि करता है। इस दर्शन के अनुसार विश्व में कुछ भी शाश्वत नहीं है; शाश्वत और सत्य केवल परिवर्तन है। केवल परिवर्तन ही संसार का अचल नियम है। प्रत्येक प्राणी परिवर्तनशील है और परिवर्तन की अवस्था में है। लायसेंको जाति-जाति और वर्ग-वर्ग के भेद को केवल वातावरण का भेद मानते हैं। वातावरण में परिवर्तन और समानता लाने से, लायसेंकों के अनुसार, एक समान, महान जाति की रचना सम्भव हो जो जाति और वर्गहीन होगी। उनकी 'थीसिस' का यह भाग उन्हें रूस की सरकार का सहयोग दिला रहा है।

पर यह कहना कि लायसेंकों के विचार केवल राजनैतिक सहायता के बल पर ही मान्य हो सके, गलत होगा। लायसेंको एक महान वैज्ञानिक हैं। उन्होंने अपने विचारों को पुस्तकालयों की पुस्तकों और प्रयोगशालाओं की परखनलियों तक ही सीमित नहीं रखा है, वरन् साधारण जन तक पहुँचाया है। उनके प्रयोगों का अभूतपूर्व लाभ सोवियत रूस की जनता प्रतिदिन उठा रही है। उनके विचारों को सोवियत सरकार की सहायता मिली अवश्य, पर बिना उसके भी वे इतना ही आगे आ सकते थे। हो सकता है समय कुछ अधिक लगता।

यमुनोत्री के उष्ण कुण्ड

[लेखक—श्री मकरन्द ढौंडियाल]

गत नवम्बर में जब मैं खड़साली जो यमुनोत्री की ओर भारत का अन्तिम ग्राम है, पहुंचा तो ज्ञात हुआ कि यमुनोत्री के उष्णकुण्ड यहाँ से केवल चार मील दूर हैं; इस हेतु मैंने दूसरे प्रातःकाल वहाँ जाने का विचार किया। दूसरे दिन तीन और साथियों को लेकर मैं लगभग ४ बजे प्रातः उस शीत वातावरण में चल पड़ा। भैरव घाटी के उस ऊँचे पर्वत पर लगभग ३ घण्टे चलने के पश्चात् जब हम सीधे पथ पर अग्रसर हुए तो ज्ञात हुआ कि तनिक भी पैर के फिसल जाने पर पुनः किसी प्रकार की खोज करने की आवश्यकता ही न पड़ेगी। भैरव घाटी से हम लोग लगभग एक घण्टा इस प्रकार के पथ पर चलकर उस मनोहर और आश्चर्यमय स्थान पर पहुँचे।

ऊपर एक ऊँचा पर्वत हरित आभा लिये हिमचादर को ओढ़े हुए स्थिर और शान्तभाव से ध्यानावस्थित हुए दृश्यमान होता है। उस हिमराशि से एक प्राकृतिक लकीर सी चलती एक धारा दीखती है जो अविवाहित सूर्यपुत्री का उद्गम कहा जाता है। वहाँ से वह एक ऐसे खड्ड में जा पहुँचती है जहाँ जीवन को सहसा भयसंचार हो जाता है। कुछ आगे आकर तब लजालु यमुना अपना मुखाञ्चल खोलकर निरन्तर बही चली जा रही है।

इस खड्ड से लगभग तीन फर्लाङ्ग नीचे यमुनोत्री के उष्ण कुण्ड और धारायें स्थित हैं जहाँ से कि उस मग्न हिमाच्छादित पर्वत का कठोर प्रस्तरीय भाग यथेष्ट दूरी तक भूर्ण-रक्त वर्ण रूप में बिलकुल नग्न चला गया है। इसी नग्न पर्वत के मूल में यमुना के ये उष्ण कुण्ड और धारायें निरन्तर अपने ऊष्णता के संग 'भक-भक' करते हुए एक मनोहर दृश्य बनाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें से सूर्यकुण्ड सबसे अधिक उष्ण है जिसका तापमान लगभग २०० डिग्री फा० के है। सूर्य-कुण्ड का आकार चौकोन लगभग ३ फीट भुजाओं से युक्त है। गहराई लगभग डेढ़ दो फीट है। इसके दक्षिण ओर कुछ ही अन्तर पर उस कठोर प्रस्तर को फोड़कर कई तीव्र और उष्ण धारायें निकल रही हैं। इनके मुख गले हुए लौह-चून भिन्न-भिन्न स्वरूपों के बने हुए हैं और इन्हीं ऊर्द्ध मुखी धाराओं को "श्री यमुना मुख" नाम से लोग पुकारा करते हैं। इन धाराओं का तापमान एकदम मुख पर लगभग वही २०० के है परन्तु ऊपर उठ कर गिरते हुए इनका तापमान इतना नहीं रह जाता है। इन यमुना-मुखों में दक्षिण ओर कई गज तक लगातार उस नग्न प्रस्तर के पर्वत से कई उष्ण स्रोत बह रहे हैं।

सूर्यकुण्ड के पास एक छोटा सा मन्दिर बना हुआ है और उससे कुछ तल पर एक धर्मशाला, जो टूटी अवस्था में है। इस धर्मशाला के नीचे डेढ़ दो गज दूरी पर गोरख डिबिया कुण्ड' और "गौमुखी कुण्ड" हैं। ये कुण्ड भी अति उष्ण हैं जिनका तापमान लगभग १८५° फा० के है। इन दोनों कुण्डों के मुख एक प्रकार के रासायनिक पदार्थों के सम्मिश्रण से प्राकृतिक ही डिबिया और गौमुख के समान बने हुए हैं। इस पदार्थ-परीक्षण से ज्ञात होता है कि लोह और चूने का इसमें अधिक मिश्रण है जिससे कि ये सरलता पूर्वक टूटने वाली वस्तु नहीं हैं और यदि कहीं टूट भी जाँय तो इस उष्ण जल के साथ आई हुई रासायनिक पदार्थों के द्वारा प्रकृति उन्हें पुनः मरम्मत कर देती है।

इन उष्ण कुण्डों से १५-२० गज की दूरी पर यमुना-सरिता की तीव्र शीत धारा सम्पूर्ण स्थान को परिवेष्टित करती हुई आगे आगे चली जा रही है। यमुना सरिता तक सम्पूर्ण उष्ण जल अपने गीले आवरण के नीचे बहते चले आते हैं और उसी को रोक कर सूर्यकुण्ड से नीचे दो तप्त-कुण्ड यात्रियों के स्नान के लिये बनाये गये हैं परन्तु यहाँ आकर जल का तापमान ८०° से ९०° तक रह जाता है। यमुना सरिता पार जाकर जब यात्री सूर्यकुण्ड की ओर जाता है तो नग्न पैर गर्म के मारे जलने से लग जाते हैं। सम्पूर्ण जल के ऊपर जो आवरण लगा है वह नीले रंग का अथवा भूरे लाल रंग का है। लौह और ताम्र का इसलिए यहाँ निस्सन्देह आविर्भाव है।

सूर्यकुण्ड के उत्तर ओर नग्न पर्वत के मूल में उष्ण जल जिस रासायनिक पदार्थ को उगल रहा है वह भूरा लाल है

इसलिये वह लौह-सिन्दूर है। इसी को यात्री यमुना चन्दन के नाम से ले जाते हैं।

हिमप्रपात के समय सम्पूर्ण घाटी श्वेत बन जाती है सरिता जल जमकर कांषरी [१] का रूप धारण कर लेता है। केवल वह अग्नि धारायें अछूती रहती हैं जहाँ से वाष्प के घोर से घोर बादल निरन्तर उठकर घाटी को आच्छादित किये रहते हैं। एक योगी ने जो कई साल पहिले वहाँ तपस्या-कुटीर में जाड़ों के दिनों में रहे थे इस प्रकार का वर्णन किया है। वे कहते थे कि ऊपर से जब हिम पर्वत टूट कर घाटी में गिरते हैं तो सहस्त्रों तोपों के समान भयानक शब्द होते रहते हैं। हम लोग भी शीत काल में गये थे परन्तु उन दिनों नभ स्वच्छ था इसलिये घाटी में हिम प्रपात तो न हुआ था परन्तु दो प्रहर से पहिले तक सम्पूर्ण घाटी हरित आभा लिये हुए कुहरे से आच्छादित रही थी।

प्रकृति का कितना 'आनन्द और सुन्दर कारीगरी का वह दृश्य था जब यमुना सरिता जल अथवा सूर्य कुण्ड या यमुना धारा या गोरख डिबिया या गोमुखी कुण्ड में जब ही हाथ डालो तो तीव्र अग्नि के समान जल उठता था और वह एक ओर तो था अति शीत जल से और दूसरी ओर अति उष्ण ताप से; परन्तु फफोले किसी से भी नहीं पड़ते थे। यमुना जल काँषरियों से आच्छादित था जिनके नीचे बहता जल बड़ा ही मनोहर दिखलाई देता था। काँषरियों को तनिक अगुलियों से छू दिया कि मानों अंगुलियों को पकड़ कर खींच लिया हो। काँषरियों के सिवाय काँषरी के गोल-गोल लोह छड़ से समीप के प्रस्तरों पर लटक रहे थे। और उधर सूर्यकुण्ड के तापमान में समस्त खाद्य पदार्थ यथ चित रीति से पक जाते हैं। एक शुद्ध रूमाल में आलू अथवा चावल ढीले से बाँध दीजिये और सूर्यकुण्ड में छोड़ दीजिये। आप स्नान करने के लिये नीचे कुण्ड में चले आइयेगा। बस स्नान करके ऊपर कुण्ड के पास जाइये तो आलू अथवा चावल यथोचित ढंग से पक कर ऊपर तैरते हुए रूमाल के अन्दर मिलेंगे। अथवा आटे की रोटियाँ बना कर कुण्ड में डालते रहिये बस फूल फूल कर ऊपर तैरते हुए निकाल लीजिये। सब ऐसे पकने वाले पदार्थ ठीक यथोचित रीति से पक कर आते हैं। लेकर गोमुखी या गोरख डिबिया के पास ले जाकर नमक अथवा चीनी से खा लीजिये कोई हस [२] नहीं। चाय बना लीजिये, सुन्दर बनती है। इन किसी भी उष्ण जलों में गन्धक, फास्फोरस का नहीं नाम तक नहीं है। यदि किसी पदार्थ का कुछ आभास मिलता है तो वे हैं शुद्ध लोह और चूना (Calcium)। ताम्र का भी कुछ अंश ज्ञात होता है।

अन्य उष्ण जल—श्री बद्रीनाथ और तपोवन गढ़वाल में भी उष्ण जल कुण्ड हैं परन्तु यहाँ का जल अधिक से अधिक ८०°—६७° फा० तक होगा। जल में गन्धक की 'हस' तीव्रतर पाई जाती है। तपोवन के इस उष्ण जल में यदि साबुन से कपड़े धोइये तो सारा सफेद कपड़ा काला पड़ जाता है और कभी भी साफ नहीं होता है—सदैव लींजी [३] सी लगी प्रतीत होती है। परन्तु यमुनोत्री के उष्ण जल में इससे नितान्त भिन्नता है। उससे कपड़े साफ और शुद्ध धुल जाते हैं। किसी प्रकार की लींजी या कड़कड़ाहटपन नहीं आता है।

तपोवन के आस पास के उष्ण कुण्डों के चारों ओर एक प्रकार का श्वेत लावा जमा होता रहता है जिसमें गंधक की अधिक मात्रा पाई जाती है, परन्तु यमुनोत्री के उष्ण जल में यह बात नहीं पाई जाती।

उपयोग—मुझे विश्वास है कि यमुनोत्री का यह जल अक्षय रोग के लिये उपयोगी सिद्ध होगा। संसार के कितने ही जल आज रोगों के निवारण के लिये प्रयुक्त हो रहे हैं। क्या हमारा देश यमुना के इस उष्ण जल की अब भी उपेक्षा करेगा ?

१—**काँषरी**=जल के जम जाने से (शीत से) कांच की सी प्लेट सी बन जाती हैं। यह छड़ों के रूप में भी पाये जाते हैं। यह सदैव पारदर्शक होता है।

पाला, हिम और कांषरी में अन्तर होता है।

पाला=अति शीत के पड़ने से वायुमण्डल की उष्णता न्यूनतम होकर उसका वाष्प जम जाता है। यह पृथ्वी पर श्वेत रूप में दिखलाई पड़ता है।

हिम (वर्फ)=नभ के बादलों के टुकड़े टूट टूट कर फुनगी की तरह गिरने वाले हिम को हिम या बर्फ कहते हैं। ये दोनों पारदर्शक नहीं होते हैं।

२—**हस**=किसी प्रकार की गन्ध का अनुभव।

३—**लींजी**=तेल की सी वह चिप-चिपी जो धोने से छूटती नहीं। यह किसी भी रासायनिक पदार्थों के मेल से बन जाती है।

विज्ञान-चर्चा

'विज्ञान' में प्रकाशित विज्ञप्तियों तथा सम्पादकीय के उत्तर में कुछ महानुभावों ने विज्ञान प्रचारार्थ जो उद्गार प्रकट किए हैं उन्हें हम प्रति मास देते रहने का उद्योग करेंगे। नीचे कुछ पत्रों के उद्धरण हैं :—

श्री छोटू भाई बी० एस-सी०, (सभ्य) तारक मंडल, आणंद (गुजरात) लिखते हैं :—

विज्ञान मई ५२ का अंक मिला। 'हम क्यों लिखें?' पढ़ा। आपने विद्वानों को ख्याल में रखकर दो शब्द लिखे हैं। उसमें पुरस्कार की जो बात है उससे शायद सभी सहमत न हों। मगर एक बात अवश्य कहने योग्य है कि हमारे अँग्रेजी पढ़े लिखे बहुत से विद्वान मातृभाषा में लिख नहीं सकते हैं। अगर लिखते हैं तो ढंग अच्छा नहीं जमता। फिर भी लिखा तो जाना ही चाहिये। शब्दावली अपने आप ठीक हो जायगी। जरूरत है सरल भाषा में वैज्ञानिक विषयों को प्रकट करने की।

मैं हिन्दी-भाषी नहीं हूँ। कुछ साल पहले मेरे दो चार लेख विज्ञान में प्रकट हुये हैं। उस वक्त श्री डॉ० गोरख प्रसादजी विज्ञान का सम्पादन करते थे। बाद में मैंने गुजरात में तारक-मण्डल की स्थापना करके उसके जरिये गुजरात में खगोल साहित्य का प्रचार किया। इस सिलसिले में कुछ किताबें भी लिखीं। मेरी और मेरे विद्वान गुरुमित्र श्री हरिहर भट्टजी की लिखित 'भूमंडलीय सूर्यग्रहण' किताब आपने देखी होगी। मगर वह गणित की किताब है। आम जनता के लिये लिखी गई मेरी नयी किताब 'अवकाश नु रहस्य' १६५१ में प्रकट हुई थी। आज वह खतम हो गयी है। गुजराती के अखबारों ने अच्छी प्रशंसा की है। मैं मानता हूँ कि यह किताब मैंने विज्ञान परिषद को भेजी भी है—श्री डॉ० जी० के पास तो है ही।

अगर आप चाहें तो उसके अलग २ अध्यायों को विज्ञान में प्रकाशित कर सकते हैं। और उसके द्वारा हिन्दी के विद्वानों को दिखा सकते हैं कि लेख में बहुत ही कम अँग्रेजी शब्द इस्तेमाल करके हम अपनी बात सरल भाषा में प्रकट कर सकते हैं।

मैं आपके कुछ काम आऊँ ऐसा स्पन्दन कर वह लिखा है।

आपकी मूल पुस्तक गुजराती में है। अनुवाद कराना तो हमारे लिए एक समस्या होगी। यदि आप उसे भाषान्तरित करा सकें तो हम विज्ञान में उसका प्रकाशन करने का अवश्य उद्योग करेंगे।

—*सम्पादक*

श्री पुष्कर सिंह बी० एस-सी० (आनर्स) डी० आई० केमि० द्रुग लिखते हैं:—

आपका जून अंक विज्ञान हस्तगत हुआ। इस अंक का लेख "विज्ञान प्रचार की नई योजनाएँ" शीर्षक मुझे अत्यंत प्रिय मालूम हुआ। इस शीर्षक में आपने लिखा है—"एक विशेष निवेदन हमें अपने नवयुवक उत्साही लेखकों से करना है। यदि छोटी-मोटी पुस्तक रूप में किसी विषय पर अपनी रचनाएँ दे सकें जो सुपाठ्य तथा मनोरंजक हों और विज्ञान के एक या दो अंकों में पूर्ण हो सकती हो तो हम उसे विज्ञान के साथ ही पुस्तक का भी रूप देकर अपने पुस्तक भंडार की वृद्धि कर सकते हैं।" इस शीर्षक ने मुझे खुशी के मारे उछाल दिया। मेरे पास एक लेख Abrasives (अपघ्रष) के ऊपर है। यदि आपकी सम्मति मिले तो मैं उसे आपकी सेवा में प्रस्तुत करूँ।

आपके हर्षोद्गार के प्रति हम आभारी हैं। लेख अवश्य भेजें। हम विज्ञान की प्रतियाँ प्रचारार्थ भेज रहे हैं।

[शेष आवरण पृष्ठ ३ पर देखें]

—*सम्पादक*

[पृष्ठ १२८ के आगे]

व्यवस्थापक, कला प्रकाशन मंदिर, ११५५ लार्डस गंज, जबलपुर लिखते हैं:—

इस माह के विज्ञान में परिषद् की विज्ञान प्रचार की योजनाएँ पढ़कर खुशी हुई ! हिन्दी भाषा में विज्ञान तथा इंजीनियरिंग की पुस्तकें प्रकाशित करने के उद्देश्य से दो तीन हिन्दी प्रेमियों के सहयोग से हमने एक छोटी संस्था "कला प्रकाशन मन्दिर" प्रारम्भ की। दिसम्बर १९५० में हमने प्रथम पुस्तक "प्रारम्भिक यान्त्रिक विज्ञान" प्रकाशित की जिसमें लगभग ३०००) व्यय हुआ। पुस्तक के विषय में Institution of Engineers (India) (Chartered Institute) ने अपने Journal में लिखा है "Publication under review is an excellent Text book in Mechanical Engineering for First year classes" इंजीनियरिंग कालेज जबलपुर के प्रिंसिपल ने भी पुस्तक की अत्यन्त प्रशंसा की है। मध्यप्रदेश में यह प्रथम पाठ्य पुस्तक इस विषय की प्रकाशित हुई है। परन्तु इस प्रदेश के शिक्षा विभाग से सहायता प्राप्त न होने के कारण (पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत न करना) पुस्तक का विक्रय अत्यन्त असंतोषप्रद है। आशा है आप उचित सलाह देकर अनुग्रहीत करेंगे।

परामर्श हम वैज्ञानिक पुस्तकों की अपने साधनों द्वारा बिक्री करने तथा एक विज्ञान पुस्तकालय बनाने की योजना सोच रहे हैं। इस समय आप चाहें तो अपनी पुस्तक हमें विज्ञान में विज्ञापन छपा कर बेचने के लिए दें तथा परिषद की पुस्तकें अपनी रुचि के अनुसार मँगा कर अपने साधनों से बेचने का प्रयत्न करें। इस पारस्परिक सहयोग से कुछ अवश्य लाभ होगा।

—सम्पादक

श्री वेंकट लाल ओझा (आजीवन सभ्य) ओझा ऐंड को०, कसरट्टा रोड हैदराबाद २, लिखते हैं:—

'विज्ञान' के जून अंक में विज्ञान-प्रचार की नई योजनाएँ पढ़ी। उसमें यथा शक्ति जैसी भी सहायता आप चाहें मुझसे ले सकते हैं।

मैंने कुछ वर्ष पूर्व रबर की मोहरें बनाने पर एक पुस्तक की पांडुलिपि भेजी थी, परन्तु क्या हुआ अब तक पता नहीं चला।

निवेदन—दक्षिण भारत से ५० ग्राहक या सभ्य आप हमें दें। पहले भी आपने परिषद की बड़ी सहायता की है। लेख के संबंध में पूछ ताछ कर उत्तर दिया जायगा।

—सम्पादक

श्री गोलोक विहारी चौधरी बी० एस-सी०, नाथनगर, भागलपुर लिखते हैं:—

विज्ञान प्रचार की योजना के अन्तर्गत मैं अपने द्वारा लिखे गए निबन्धों तथा प्रकाशित और अप्रकाशित पुस्तकों की एक सूची आपकी सेवा में भेज रहा है। इसे आत्म-परिचय ही समझेंगे। आशा करता हूँ कि भविष्य में मैं आपकी सेवा में विज्ञान सम्बन्धी निबन्ध भेजा करूँगा। यदि आप चाहें तो अप्रकाशित पुस्तकों की पाण्डुलिपि से ही मैं धरावाहिक रूप में लेख भेजा करूँ। मुझसे जो भी सेवा हो सकेगी उसके लिये मैं हमेशा तत्पर रहूँगा।

आशा है आप अपनी सेवा-भावना से परिषद को अनुगृहीत करते रहेंगे। बिहार के हिन्दी-सेवी वैज्ञानिकों का परिचय हमें लिख भेजें। कम से कम कुछ परिचितों तथा मित्रों के पते हमें भेजें जो विज्ञान पढ़ने की रुचि रखते हों। दस प्रति विज्ञान हम प्रचारार्थ दो तीन मास आपके पास भेजते रह सकते हैं। आपके लेखों का हम विज्ञान में सहर्ष प्रकाशन करेंगे। आपके परिचय का हम यथासमय उपयोग करेंगे।

—सम्पादक

Reg. No. 372

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उपसभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मंत्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ५) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश-शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ ७० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, विवरणों इत्यादि बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम

सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद् बैंक रोड, इलाहाबाद

अगस्त, १९५२
सिंह २००९

भाग ७५
संख्या ५

वार्षिक मूल्य
तीन रुपए

प्रति अंक
पाँच आने

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools,
Colleges and Libraries

विज्ञान के नियम

१—वार्षिक मूल्य ३) तथा प्रति अंक का ।-) है

२—प्रतिमास प्रथम सप्ताह में विज्ञान प्रकाशित होता है।

३—ग्राहक किसी भी मास से बनते हैं।

४—वार्षिक मूल्य सदा दो एक मास पूर्व अग्रिम भेजने से ।=) वी. पी. व्यय की बचत हो सकती है।

५—नमूने की प्रति माँगने पर या बिना मांगे भी ज्ञात पतों पर मुफ़्त भेजी जाती है।

लेखकों से निवेदन

१—लेख किसी भी विषय के वैज्ञानिक पक्ष पर होना चाहिए।

२—लेख मनोरंजक और सुबोध होना चाहिए।

३—कागज पर एक ओर ही सुपाठ्य लिखना चाहिए।

४—चित्र सदा काली स्याही से बने होने चाहिए। हल्के या अन्यरंग में बने चित्रों का ब्लाक नहीं बन सकता।

५—लेख भेजने के दो मास पश्चात् भी न छपने पर स्मरण-पत्र अवश्य भेजें।

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य तीन रुपये, एक संख्या का मूल्य पाँच आने।

विज्ञान

विज्ञान परिषद, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५

भाग ७५ | सिंह २००९; अगस्त १९५२ | संख्या ५

वैज्ञानिक बोधि वृक्ष

धन्य है वह विहार प्रदेश जिसने भगवान बुद्ध के हृदय-पटल को अंतर्ज्योति प्रदान कर विश्व-विश्रुत मूर्ति बनाने का श्रेय प्राप्त किया। धन्य है विहार प्रान्त का वह गया नगर जिसने तथागत को अपनी आत्मिक साधना की चरम गति प्राप्त कर अपना जीवन अमर बनानें का अप्रतिम अवसर प्रदान किया। धन्य है वह गया का वट वृक्ष जिसने अपनी शीतल छाया में आसीन सिद्धार्थ के ज्ञान-नेत्र प्रस्फुटित कर उन्हें भगवान बुद्ध नाम से प्रसिद्ध होने का अवसर दिया किन्तु आज सत्यासत्य निर्णायक नीर-क्षीर विवेक से मानवप्राणी सभी प्रश्नों में मीन-मेष निकालने, नाना प्रकार के तर्कों की बौछार से समस्या की तह तक पहुँचने का भगीरथ प्रयत्न करता रहता है। फलतः हमारे हृदय में कभी कभी स्वतः इस प्रश्न के उठने का अवसर आ सकता है कि यथार्थतः भगवान बुद्ध की महान आत्मा ने ही अपने चरम उत्कर्ष को प्रतिभासित कर इस गया के बट वृक्ष को बोधि-वृक्ष की सम्मानित संज्ञा प्रदान की अथवा वह स्थल तथा वृक्ष ही इतना पुण्यशील किंवा पुनीत था कि उसके तले अतिकाल तक आसीन तप-रत किसी आत्मा को उसने साधना के योग्य समझ कर तथागत, भगवान बुद्ध आदि नामों से विख्यात किया। भगवान बुद्ध का शरीर तो धरा के तत्वों में मिलकर सर्वथा लुप्त हो चुका है, किन्तु उनकी आध्यात्मिक प्रशिक्षा हमें महत् उत्प्रेरणा प्रदान करने के लिए आज भी सुलभ है। उधर वटवृक्ष यदि अपनी आत्मा रखता हो तो वह तो हमें अविच्छिन्न रूप से सहस्रों वर्ष पश्चात् भी विद्यमान ही दिखाई पड़ सकती है। परन्तु बोधि वृक्ष ने अपनी चेतनता नहीं, बल्कि जड़ता के प्राधान्य से अपना कलेवर आज भी हमारे सम्मुख उपस्थित ही रखा है। इस उधेड़-बुन में हम किसे अधिक महत्व दें, बोधि वृक्ष तथा तथागत की विश्व-विश्रुत महानताओं में से किसको किसका प्रधान आश्रित या अवलंबित कहें, इन के निर्णय का कोई भी आधार आज हमारे पास सुलभ नहीं है।

परन्तु इन सुदूर पूर्वकाल की घटनावलियों में सहसा हमारा ध्यान सीलोन या अन्य स्थलों में आरोपित बोधिवृक्ष की शाखाओं को आज स्वतः विशाल वट वृक्ष का रूप धारण किए होने की ओर जाता है। बोधि वृक्ष ने विश्ववन्द्य रूप धारण किया सही, परन्तु उसके आवश्यक गुणों में हम

प्रसिद्धि या पवित्रता को ही अन्य स्थलों पर स्वतंत्र वृक्ष रूप में खड़ा होने में अत्यावश्यक नहीं देखते। वह तो वट वृक्ष की साधारण प्रवृत्ति सी ही है कि शाखा के आरोपित करने पर स्वयं ही उसे मूल प्रदान कर स्वतंत्र वृक्ष बना देता है, यहां तक कि उसकी शाखाओं से अवतरित मूलवत् जटाएँ मन्द गति से धरा-उन्मुखी होकर कभी धरातल स्पर्श कर लेने का अवसर प्राप्त कर लेने पर अपने लट को ही वृक्ष के तने रूप में परिवर्तित कर नवीन वट वृक्ष का सृजन कर सकती हैं।

इस प्रकार की विचित्र रचना में हमें किसी अति प्राचीन जरायु वट की प्रदक्षिणा करने की भाँति चहुँधा ऐसी जटाएँ ही अन्यान्य वृक्षों का रूप धारण किए दिखाई पड़ सकती है जहाँ मूल वृक्ष के केन्द्रस्थ तने का आज सर्वथा लोप हो गया हो।

अपनी संतान की वृद्धि कर, उनका क्रम आगे बढ़ाते जाने का आयोजन कर स्वयं अपने कलेवर की इति देखने का आह्लादपूर्ण अवसर नाना जीव-जन्तुओं में अनुभूत होते देखा जा सकता है अतएव जंगम जगत की इस थाती का अनुसरण जड़ जगत की सीमा में वट वृक्ष को कर दिखाते हम आश्चर्य क्यों करें ?

क्या साधारण वट वृक्ष या उस वर्ग के सम्मानित बोधि वृक्ष की तुलना विज्ञान वृक्ष से करने में कुछ आपत्ति हो सकती है ? कलकत्ता नगरी के महान बट वृक्ष को ले लीजिए, अथवा गया. अनुरुद्धपुर (लंका) आदि के बोधि वृक्ष को ले लीजिए, उनकी ही भाँति विज्ञान वृक्ष के प्रसार के आयोजन हमें लक्षशः देखने को मिल सकेंगे। कभी किसी व्यक्ति या संस्था के उद्योग ने विज्ञान-दीप को आलोकित करने का आयोजन किया, मूल दीप आज विद्यमान हो या न हो, हम उसकी शाखा प्रशाखा रूप की संस्थाएँ स्वतंत्र अस्तित्व बनाकर अज्ञान-तम के विलीन-करण में संलग्न देख सकते हैं। विज्ञान की शोधों के विशाल आयोजन की बातें छोड़कर मातृभाषा द्वारा वैज्ञानिक साहित्य-वृद्धि के आयोजनों की चर्चा भी इस स्तर पर करना क्या अनुचित या हास्यास्पद हो सकता है ? हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य की संवृद्धि का हम विज्ञान परिषद नाम से जो आयोजन रख रहे हैं, वह क्या कोई हमारी ही बपौती कही जा सकती है ? अन्य स्थानों के छोटे या बड़े, प्रादेशिक, सार्वदेशिक या संस्थागत किंवा व्यक्तिगत प्रयत्न भी बट शाखावत अपनी स्वतंत्र या अवलंबित सत्ता रख कर विज्ञान सेवा के हिन्दी भाषा के माध्यम को आगे बढ़ा सकते हैं। इस प्रश्न पर हमने कई बार विचार किया है। जो भी प्रदेश, नगर या संस्था चाहें, हमारी सहायता, उत्प्रेरणा किंवा पूर्व साहित्यिक सेवाओं को लेकर या निरवलंब रूप से ही विज्ञान प्रचार का कार्य अग्रसर करें, हम उनके प्रयत्नों का स्वागत करने को प्रस्तुत रहेंगे, अपनी अकिंचन सहायताओं, सम्मतियों एवं सहानुभूतियों के प्रदान करने में कृपणता करने का कुयश अपने कपाल पर कभी न बैठने देंगे। हमारे एक विहार प्रदेशीय लेखक ने किसी समय अपनी प्रादेशिक विज्ञान परिषद बनाने के असफल उद्योग की चर्चा करते हुए हमारी इन भावनाओं को व्यक्त करने का अवसर दिया है। हमे किसी भी रूप के वर्ग या संस्था अथवा प्रदेश के सरकारी, अर्द्ध सरकारी अथवा स्वतंत्र प्रयत्नों की योजना करने वालों से निवेदन है कि प्रारम्भिक प्रयत्न के लिए हमारा इतने समय से निकलते आने वाला 'विज्ञान' एक प्रबल अस्त्र है। इसको और पनपा कर तथा पुष्ट कर आपको अपने किसी भी रूप के वैज्ञानिक साहित्य, प्रचार निर्माण, संवर्द्धन आदि में सहायता ही मिलेगी। इसके लिए कुछ या अधिक समय के लिए विशेष क्षेत्रों या संस्थाओं के प्रचार, उद्योग या लेख आदि के लिए स्थान या पृष्ठ सुरक्षित कर देना हमारे लिए कठिन नहीं हो सकता। इससे आप के पग शृंखलाबद्ध नहीं होते। आप शक्ति आते ही अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर नवीन वैज्ञानिक वट वृक्ष बन सकते हैं। अतएव आइए, हम इस महान वट वृक्ष को फिर अभिवादन करें और उसे उत्प्रेरणा प्राप्त करने का आधार बना कर अपने उद्योग में बढ़ें। प्रत्येक बड़ी विज्ञानशाला, विद्यालय, प्रादेशिक साहित्यिक संस्था अपने वैज्ञानिक साहित्य-पक्ष को बल प्रदान करने का आयोजन करने में आगे बढ़ सकती है। क्या हम आशा करें कि आप वैज्ञानिक वट वृक्ष की वंश-वृद्धि में क्रियात्मक सहयोग की अपनी योजना तथा सहमति हमें प्रदान करेंगे !

प्राचीन भारतीयों की विज्ञान-साधना

श्री० श्यामनारायण कपूर

भारतीयों ने सुदूर पूर्वकाल में वैज्ञानिक क्षेत्र में जैसी अद्भुत सफलता प्राप्त की थी उसका विवरण लेखक ने इस लेख में विशद तथा प्रामाणिक रूप से दिया है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का विश्व में अपना एक विशिष्ट स्थान है। यूनान, मिस्र, रोम तथा यूरोप के दूसरे देशों में इनकी सभ्यता से हमारी सभ्यता का कहीं अधिक पुरातन होना आज संसार द्वारा स्वीकार किया जा चुका है। जिस समय अन्य देश अज्ञानावस्था में थे भारत सभ्यता के शिखर पर था। उन दिनों भारतीयों ने जो उन्नति की थी यह सर्वतोमुखी थी, सर्वाङ्गीण थी। यह उन्नति साहित्य, धर्म, दर्शन अथवा अध्यात्म तक सीमित न होकर शिल्प, स्थापत्य, कला कौशल और ज्ञान विज्ञान के विविध क्षेत्रों में भली भांति विकसित हुई थी।

विज्ञान की परम्परा

पश्चिमी देशों में विज्ञान और आविष्कार की प्रगति १६ वीं और १७ वीं शताब्दी से आरम्भ होती है। इस प्रगति के आधार पर यह समझा जाता है कि आधुनिक विज्ञान केवल पश्चिमी देशों की देन है। पर यह धारणा ठीक नहीं। विज्ञान की उन्नति का बहुत कुछ श्रेय प्राचीन भारतीयों की विज्ञान-साधना को है। वास्तव में पाश्चात्यों द्वारा विज्ञान के श्रेय में अग्रसर होने के बहुत पूर्व प्राचीन भारतीय, विज्ञान के विविध क्षेत्रों में बहुत उन्नति कर चुके थे। गणित, ज्योतिष, रसायन, दर्शन चिकित्सा तथा अन्य विज्ञानों के प्रकाण्ड विद्वान यहाँ उस समय अवतीर्ण हो चुके थे जब कि संसार के दूसरे देशों में उन विषयों के ज्ञान का श्रीगणेश भी न हुआ था। इन वैज्ञानिकों में आर्यभट्ट, बराहमिहिर, भास्कराचार्य, नागार्जुन, रामानुज, पतञ्जलि तथा चरक एवं सुश्रुत प्रभृति के नाम आज भी बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ लिये जाते हैं।

उस प्राचीन जीवनकाल में भारतीयों ने विज्ञान सम्बन्धी जो महत्वपूर्ण कार्य किये थे उनका क्रमबद्ध इतिहास अप्राप्य है। परन्तु इधर पुरातत्व-वेत्ताओं और वैज्ञानिकों ने जो गवेषणायें की हैं उनके आधार पर यह बात भलीभांति सिद्ध हो चुकी है कि प्राचीन भारतीयों को विज्ञान की उन्नति में संसार में अग्रिम स्थान प्राप्त हो चुका था। वास्तव में भारतीयों की विज्ञान-साधना का सूत्रपात अत्यन्त प्राचीन काल से होता है। वैदिक काल से लेकर गुप्त राजाओं के शासनकाल तक भारतीयों ने विज्ञान के विविध क्षेत्रों में विशेष उन्नति की थी। उस अत्यन्त प्राचीन काल में भारतीयों ने जो उत्कृष्ट सफलता प्राप्त की थी उसके जीवित जाग्रत उदाहरणस्वरूप आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति का नाम आज दिन भी अत्यन्त गौरव के साथ लिया जा सकता है। चिकित्सा विज्ञान को वेदों के सदृश उच्च स्थान देना ही भारतीयों के विज्ञान प्रेम और उसे जन-कल्याण के लिए व्यवहार में लाने का यथेष्ट प्रमाण है।

वेदों में विज्ञान

वेदों का अर्थ ज्ञान है और उपनिषदों के अनुसार ज्ञान और विज्ञान में कोई भेद नहीं है।

वास्तव में वैदिक साहित्य में ज्ञान और विज्ञान दोनों ही बातें हैं । ज्ञान केवल शास्त्रीय रहता है और विज्ञान व्यवहारिक तथा कार्य रूप में परिणत होता है। वैदिक काल में ज्ञान और विज्ञान दोनों ही साथ साथ आगे बढ़े। पाश्चात्य देशों में तो आधुनिक विज्ञान के प्रारम्भिक दिनों में धर्म और विज्ञान में बड़ा संघर्ष रहा। धर्म-गुरुओंने विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों को अत्यन्त भीषण एवं कुत्सित यातनायें देने ही में अपना गौरव समझा और वैज्ञानिक सत्यों का प्रतिपादन करने वालों को जीवित जला देने में भी आगापीछा न किया। परन्तु भारत में—आर्य जाति में—धर्म और विज्ञान का कभी कोई झगड़ा नहीं हुआ। यहां धर्म और विज्ञान दोनों साथ साथ पनपते रहे। वास्तव में 'बाइबिल इन इन्डिया' (भारत में बाइबिल) नाम ग्रन्थ के रचयिता पाश्चात्य विद्वान् जकोलिया के शब्दों में 'संसार के समस्त धर्मग्रन्थों में वेद ही एक मात्र ऐसे ग्रन्थ है जिसके विचार विज्ञान से मिलते हैं। वेदों में जगत की रचना का प्रतिपादन विज्ञान के अनुसार ही किया गया है।'

वेदों में वैज्ञानिक विषयों का उल्लेख स्थान स्थान पर पाया जाता है। परन्तु यह उल्लेख मात्र संकेत रूप में हैं। अन्य विषयों का भी उल्लेख संकेत रूप ही में है। स्वामी दयानन्द के मतानुसार तो वेदों में ज्ञान के योग्य हर वस्तु का वर्णन है। इस मत का प्रतिपादन अब आधुनिक पाश्चात्य और प्राच्य विद्वान भी करने लगे हैं। अमेरिकन महिला दानलर विल्लाम्स ने अपने ग्रन्थ Sublimity of Vedas में यह स्वीकार किया है कि वैदिक ऋषियों को विद्युत, रेडियो इलेक्ट्रन, विमान आदि सभी विषयों का ज्ञान था। वेदों के सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान् स्वर्गीय पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने भी अपने 'त्रयी चतुष्टय' नामक ग्रन्थ में यह बतलाया है कि वेदों में सारे विज्ञान सूक्ष्म रूप से विद्यमान हैं।

प्राचीन काल में विज्ञान

कुछ वर्ष पूर्व बड़ौदा के राजकीय पुस्तकालय द्वारा महर्षि भरद्वाजकृत 'यमसर्वस्व' नामक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आया है। इसके 'वैमानिक प्रकरण' नामक अपूर्ण भाग की प्रतिलिपि बोधानन्द वृत्ति (टीका) सहित उक्त पुस्तकालय में अब भी विद्यमान है। इस पुस्तक से प्राचीन भारतीयों के विमान-रचनासम्बन्धी ज्ञान विज्ञान के बारे में अनेक महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक बातों का पता चलता है। उससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि महर्षि भरद्वाज ने अपने यंत्र सर्वस्व नामक ग्रन्थ की रचना वेदों में प्राप्य ज्ञान के आधार पर की थी।

निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधिं भरद्वाजो महामुनिः ।
नवनीतं समुद्धृत्य यंत्रसर्वस्व रूपकम् ॥

अर्थात् महर्षि भरद्वाज ने वेदरूप समुद्र का निर्मन्थन करके 'यंत्र सर्वस्व' नामक ग्रन्थ रूप मक्खन निकाल कर प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ चालीस अधिकारों से युक्त है। भिन्न-भिन्न विमानों की विचित्रता और रचना-क्रम का बोध कराने के लिए महर्षि भरद्वाज ने इस 'यंत्र सर्वस्व' के अन्तर्गत 'वैमानिक प्रकरण' की भी रचना की। 'वैमानिक प्रकरण' में पाँच सौ सूत्र, सौ अधि-करण और आठ अध्याय बतलाने गये हैं। बड़ौदा में जो प्रति मिली है उसमें केवल चार सूत्र बोधानंद पति की वृत्ति सहित उपलब्ध हैं। इन चार सूत्रों एवं उनकी विवेचनात्मक टीका से प्राचीन भारतीय की विमान रचना और संचालन के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण और महान् आश्चर्यजनक बातें ज्ञात होती हैं।

विमान-शास्त्र के आचार्य

भरद्वाज मुनि ने अपने ग्रन्थ में विमान-शास्त्र के पूर्वाचार्यों तथा उनके बनाये ग्रन्थों के नामों का भी उल्लेख किया था जो क्रम से इस प्रकार हैं:—नारायण की विमान-चंद्रिका, शौनक का व्योमयान तंत्र, गर्ग का यंत्र कल्प, वाचस्पति का मान विंदु, चाक्रायण की खेटयान-प्रदीपिका और धुण्डिनाथ का व्योमयानर्क प्रकाश। इन विमान विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त उक्त ग्रन्थ में विज्ञान के विविध विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पच्चीस ग्रन्थों की एक सूची और भी दी गई है। इनमें अगस्त्य कृत शक्ति-सूत्र, ईश्वर कृत सौदामिनी-कला, भरद्वाज कृत अंशुम, यंत्र-तंत्र सर्वस्व, शाकटायन कृत वायुतत्व-प्रकरण, नारद कृत वैश्वानरतंत्र और धूम्र-प्रकरण आदि मुख्य हैं।

विमान-चालक

इस ग्रन्थ में विमान की परिभाषा देकर बतलाया गया है कि जो पृथ्वी, जल और आकाश में पक्षियों के समान वेगपूर्वक चल सके उसका नाम विमान है। विमान के रहस्यों का अधिकारी—रहस्यज्ञोऽधिकारी—ही उसके चलाने का अधिकारी है। विमान चलाने के रहस्य बतलाये गये हैं विमान बनाना, उसे जमीन से आकाश में ले जाना, खड़ा करना, आगे बढ़ना, टेढ़ीमेढ़ी गति से चलाना, विमान के वेग को कम या अधिक करना आदि रहस्यों का ज्ञाता ही कुशल चालक माना गया है। विमान-रहस्यों का उल्लेख करते समय विश्वकर्मा, छाया पुरुष मनु, मय दानव आदि विमान शास्त्रकारों और उनके बनाये शास्त्रों का भी उल्लेख किया गया है। प्रत्येक विमान दूर से देखने (दूरबीन , गतिवक्र करने, दूसरे विमानों से बात करने, उनकी वस्तुएँ देखने, उनकी दिशा जानने, उनके यात्रियों को बेहोश करने और शत्रु विमान को नष्ट करने के भी यंत्र रहते थे।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय, विमान-निर्माण और संचालन में अत्यन्त निपुण थे और आजकल के वैज्ञानिकों की अपेक्षा किसी भी प्रकार पीछे न थे। वायुयान या विमान-संचालन के लिए आजकल जो उपकरण और यंत्र आदि काम में लाये जा रहे हैं, प्राचीन भारतीयों को उनसे कुछ अधिक ही बातों का ज्ञान था। विमान-युद्ध में शत्रु के विमान में रहने वाले व्यक्तियों को स्तब्ध (बेहोश) करने, रूपाकर्षण यंत्र द्वारा दूसरे विमान में स्थित वस्तुओं को देखने तथा यासा, वियासा, प्रयासा, इत्यादि वायु शक्तियों के द्वारा सूर्य किरण में रहने वाली अन्धकार शक्ति का आकर्षण करके उसके द्वारा विमान को अदृश्य बनाने वाली जिन चमत्कारिक बातों का उल्लेख है उन सब के विषय में तो आज के वैज्ञानिक अभी तक शायद सोच भी नहीं सके हैं! वास्तव में प्राचीन भारतीयों ने अपनी ज्ञान-विज्ञान-साधना द्वारा प्राकृतिक शक्तियों पर अत्यन्त आश्चर्यजनक विजय प्राप्त की थी। वे प्रकृति की अत्यन्त सूक्ष्म शक्तियों को भी अपने वश में करके जनकल्याण के लिए काम में लाते थे।

वेदों में विज्ञान

वेदों का अध्ययन करने वाले विद्वज्जनों के अनुसार ऋग्वेद में आकाशगामी विमानों का कई स्थलों पर उल्लेख है। इसके साथ ही यह बात भी सर्वमान्य है कि ऋग्वेद संसार का सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ है. ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध भाष्यकार श्री रामगोविन्द त्रिवेदी ने अपनी "वैदिक साहित्य" नामक पुस्तक में ऋग्वेद के अनेक उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि ऋग्वेद-कालीन ऋषियों को विमानों का समुचित ज्ञान था।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३४ वें सूक्त के दूसरे मंत्र में एक ऐसे रथ का उल्लेख है जो तीन चक्रों और तीन स्तम्भों वाला था, तीन खम्भे अवलम्बन के लिए थे। इसी तरह इसी ३४ वें सूक्त के १२ वें मंत्र में त्रिकोण और त्रिलोक में चलने वाले रथ का उल्लेख है। १, ११२, १२ में अश्विनी कुमारों के 'अनश्वरथ'—अश्व रहित रथ का उल्लेख है। १, ११८, १ में इन्हीं अश्विद्वय के बाज पक्षी की तरह ११ शीघ्रगन्ता, सुखकर और सम्पन्न रथ का उल्लेख है। ४, ३६, १ में तो आकाशगामी रथ का स्पष्ट उल्लेख है। और कहा गया है कि ऋभुओं तुम्हारा कर्म स्तुत्य है। तुम्हारे द्वारा प्रदत्त अश्विनी कुमारों का त्रियकरथ, अश्व के बिना और लगाम के बिना अंतरिक्ष में परिभ्रमण करता है।

अश्विनी कुमार

अश्विनी कुमार और ऋभु लोग ऐसे विमान रखते ही नहीं थे, स्वयं बनाते भी थे। ये लोग वैज्ञानिक ही नहीं, वैद्य भी थे। अश्विनी कुमारों के चिकित्सा सम्बन्धी चमत्कारों का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। उन्होंने खेल नामक राजा की पत्नी विशल्या की टूटी जाँघ को नई और नकली जाँघ लगाकर ठीक किया था। ऋजाश्व राजा के पिता की अंधी आँखें भी इन्होंने अच्छी की थीं। कक्षीवान् ऋषि की ब्रह्मवादिनी घोषा नाम की कन्या का कुष्ट रोग भी इन्होंने दूर कर दिया था। वृद्ध च्यवन ऋषि को अपनी चिकित्सा द्वारा फिर से तरुण बनाने में भी इन्होंने सफलता प्राप्त की थी। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ८२ वें सूक्त के पाँचवें मंत्र। १. १८२-५। से विदित होता है कि

अश्विनी कुमारों ने पंखों वाली एक नाव भी बनाई थी। वास्तव में भारतीय विद्वान ही नहीं वरन् अनेक लब्धप्रतिष्ठ विदेशी विद्वान भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि वेदों में केवल पूर्ण आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिए धार्मिक तत्वों ही का निरूपण नहीं है वरन् उन तत्वों का निर्देश है जिनको आधुनिक विज्ञान ने सत्य प्रमाणित किया है। एक प्रतिष्ठित फ्रेंच विद्वान ने तो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि वर्त्तमान विज्ञान केवल उन्हीं सिद्धान्तों को पुनः प्रस्तुत कर रहा है जो वेदों में वर्णित है।

संक्षेप में वेदों में ज्ञान के योग्य हर वस्तु का वर्णन है, यहाँ तक कि नवीनतम आधुनिक आविष्कारों का भी प्रतिपादन वेदों में किया गया है। कम से कम बीज रूप में तो अवश्य ही यह वर्णन वहां मिलता है। वास्तव में वैदिक काल ही में भारत ने विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। उस समय भूगर्भ विद्या, रसायन और ज्योतिष को आधिदैविक विद्या कहा जाता था और शरीर विद्या, मनोविज्ञान, तथा ब्रह्म विद्या को आध्यात्म विद्या। उस समय के वैज्ञानिक ग्रन्थ यद्यपि इस समय सर्वथा लुप्त होगये हैं तो भी वेदादि जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें इन विज्ञानों के सम्बंध में सर्वथा निर्देश मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वैदिक काल के ऋषियों को विविध विज्ञानों के बारे में समुचित ज्ञान था और उस कालही में यहां विज्ञान का पर्याप्त प्रचार था।

वेदों के काल में विज्ञान

वास्तव में प्राचीन संस्कृत और बौद्ध ग्रन्थो में भारतीयों की सहस्र वर्षों की ज्ञान-विज्ञाना साधना का जो इतिहास भरा पड़ा है वह आज दिन भी भारत के गौरवमय अतीत और प्राचीन भारतीयों की सर्वतोमुखी प्रतिभा के ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करने में समर्थ है। इन ग्रन्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीयों का विविध विषयक ज्ञान केवल शास्त्रीय या शाब्दिक ही न था, उन्होंने आज के वैज्ञानिकों के समान उसे व्यवहारिक रूप देने और कार्य रूप में परिणत करने में भी सफलता प्राप्त की थी। इतना ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान का उचित समन्वय करने में वे आज के वैज्ञानिकों से भी बढ़े-चढ़े थे। वैदिक काल के बाद भी भारतीयों की विज्ञान साधना की परम्परा पूर्ववत बनी रही। सम्राट विक्रमादित्य और महाराज भोज के समय तक कई उच्च कोटि के वैज्ञानिक यहां अवतीर्ण हुए।

आर्य भट्ट

आर्य भट्ट इस काल के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। इन्हों ने बड़ी निर्भीकता से सिद्ध किया कि ग्रहण राहु के कारण नहीं होता वरन् चंद्रमा के सूर्य तथा पृथ्वी के बीच में आ जाने से होता है। वास्तव में आर्यभट्ट पहिले वैज्ञानिक थे जिन्हों ने इस बात का पता लगाया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। उन्होंने और भी कई महत्वपूर्ण अन्वेषण और गवेषणायें की थीं।

वराहमिहिर

आर्यभट्ट के ही समकालीन बराहमिहिर नाम के एक दूसरे वैज्ञानिक थे। इन्होंने पंच सिद्धान्तिका, बृहज्जाटक, बृहत्संहिता, लघु जातक प्रभृति ग्रन्थों की रचना की थी। बराहमिहिर न केवल एक महान गणितज्ञ, ज्योतिषी तथा खगोल-विद्या विशारद थे, वरन् वे धातु विज्ञान के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। वे एक चतुर जौहरी थे और वनस्पति तथा जन्तु शास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्हें शिल्पकला का भी अच्छा ज्ञान था। बराहमिहिर कृत 'बृहत्संहिता' तत्कालीन वैज्ञानिक प्रगति का अच्छा विवरण प्रस्तुत करती है। इससे पता लगता है कि उन दिनों लोग केवल नाना प्रकार की प्राकृतिक सुगंधियां बनाने ही में पटु नहीं थे, वरन् वे प्राकृतिक पुष्पों जैसी कृत्रिम सुगंधियां तैयार करने में भी विशेष निपुण थे। उन दिनों मंत्रों का भी चलन था और 'यंत्रज्ञ' एवं 'यंत्रविद' लोग उनकी देख-रेख के लिए नियुक्त रहते थे। सुगंध आदि के निर्माण के लिए 'राग-गंध-युक्तिविद' लोगों का उल्लेख है। इसी ग्रन्थ में भवन निर्माण के लिए आधुनिक सीमेंट से भी अधिक पुष्ट और दृढ़ 'बज्र लेप' का उल्लेख है।

समराङ्गण सूत्रधार

उन्हीं दिनों का अर्थात् अब से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व का एक और प्रतिष्ठित ग्रन्थ राजा भोज-कृत 'समराङ्गण सूत्रधार' है। इस ग्रन्थ से तत्कालीन भारत में अन्य विज्ञानों के साथ ही यंत्रविज्ञान की भी आश्चर्यजनक

उन्नति होने के प्रबल प्रमाण मिलते हैं। इस पुस्तक में ३१ वें अध्याय—'यंत्र विधानाध्याय' में विभिन्न प्रकार के अनेक यंत्रों के वर्णन हैं। इसमें आधुनिक 'लिफ़्ट' जैसे यंत्र का भी उल्लेख है। दीपक के लिए एक ऐसी पुतली बनाने का भी हाल लिखा है जो दीपक में तेल घट जाने पर उसमें अपने आप तेल डाल दे और ताल की गति से नाचे।

यन्त्र की परिभाषा

इस ग्रन्थ में 'यन्त्र' शब्द की जो परिभाषा दी है वह पाठक को आश्चर्य-चकित कर देती है। आधुनिक विज्ञान की पुस्तकों में यन्त्र की इतनी स्पष्ट, तथ्यपूर्ण और सही परिभाषा शायद ही मिले।

यदृच्छया प्रवृत्तानि भूतानि स्वेन वर्त्मना।
नियम्यास्मिन्नयति यत्तद्यन्त्रमिति कीर्तितम्॥

अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु और आकाश ये पांच भूत (तत्व) स्वभावतः अपने गुणों के अनुसार प्रवृत्त हैं। जिस उपाय के द्वारा इन्हें नियन्त्रित कर इनसे इच्छानुसार कार्य लिया जा सके उसे 'यन्त्र' कहते हैं। अर्थात् प्रकृति की गति को अथवा शक्तियों को अपने अनुकूल बनाने के उपाय को 'यन्त्र' कहते हैं।

सम्राट भोज ग्यारहवीं शताब्दी में हुए थे। उनके बारे में नाना प्रकार की लोककथायें आज भी प्रचलित हैं। वे विद्या शिल्प और कला की उन्नति में विशेष अभिरुचि रखते थे। उन्होंने अनेक अनेक विषयों पर महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे थे। उनके द्वारा अब से एक हजार वर्ष पूर्व 'यंत्र' की इतनी सूक्ष्म, परिपक्व और परिपूर्ण परिभाषा दिया जाना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करने और उन्हें अपने अनुकूल बनाकर उनसे अपनी इच्छानुसार काम लेने के लिए आधुनिक वैज्ञानिकों की अपेक्षा कुछ कम प्रयत्नशील न थे। यंत्र शब्द की इतनी सुस्पष्ट और परिपूर्ण परिभाषा ही उनके 'यंत्र विज्ञान' सम्बन्धी पाण्डित्य को प्रकट करने के लिए यथेष्ट है। यहाँ यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक न होगा कि भारत में यंत्र शिल्प की अपेक्षा गृह शिल्प को सदैव ही विशेष महत्व दिया जाता रहा और सम्भवतः यांत्रिक सभ्यता एवं संस्कृति के दो अवगुणों को ध्यान में रखते हुए मानव धर्मशास्त्र के निर्माता मनु ने तो एक स्थल पर 'महायंत्रों' के प्रवर्तन का निषेध भी किया है।

यंत्र के प्रकार और गुण

अस्तु यंत्र की परिभाषा देने के साथ ही 'समराङ्गण सूत्रधार' में यह भी बतलाया गया है कि यंत्र चार प्रकार के होते हैं:—(१) स्वयंवाहक—आटोमेटिक—जो आज्ञा देने पर अपने आप चलें। (२) सकृत्प्रेर्य—जो एक बार गति देने पर बराबर चलता रहे—आजकल के वाष्प, तेल अथवा विद्युत से चलने वाले बहुत से यंत्र इस श्रेणी में आते हैं। (३) अन्तरिक (Periodical) जो एक बार गति देने पर कुछ देर तक चलता रहे और फिर गति देनी पड़े—जैसे घड़ियां (४) अदूरतः वाह्य—जो बराबर गति देने पर चले जैसे चरखा या साइकिल। इन चारों में स्वयं वाहक सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है और इन में भी उत्तम वह है जो पासमें रहने पर भी दूर और अदृश्य जान पड़े। यंत्रों के प्रकार बतलाने के साथ ही अच्छे यंत्र में आवश्यक गुणों का भी उल्लेख किया गया है—अलक्षता—चलने पर दिखाई न देना, भार सह सकना, हल्का होना चलने पर आवाज न होना (शब्द-हीनता) आवाज को साधा जा सके अर्थात् घटाया बढ़ाया जा सके (शब्दसाध्य) गति में शिथिलता न होना, यंत्रों की संधियों में कहीं जाम न होना, उनके जोड़ों का उत्तम होना, धक्का न मालूम होना, इच्छानुसार गति पर नियंत्रण किया जा सकना, यंत्र के किसी भाग का इच्छानुसार देखा जा सकना, पश्चात उसका अदृश्य हो जाना, खुदरापन का न होना, धक्का न मालूम होना, जोड़ों में समानता का होना, दृढ़ता होना और उसके साथ ही चिकनापन का होना, बहुत दिनों तक घिस न सकना, एक भाग द्वारा अनेक भागों का चलाया जाना उनके द्वारा अन्य भागों का चलाया जाना (एकं बहूनि चालयेत् बहुभिश्चाल्यतेऽपरम्।)

गजयंत्र और योध यंत्र

यंत्रों के उपरोक्त विवरण से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट भोज के समय में भारतीय यंत्रों के निर्माण में बहुत दक्ष थे और यंत्रों के विभिन्न अंगों के निर्माण एवं संचालन का उनका ज्ञान बहुत व्यवहारिक और वैज्ञानिक था।

महाराज भोज के इसी यंत्र में आधुनिक रोबट Robot जैसे यंत्रों का भी उल्लेख है। इनमें गजयंत्र, पक्षियंत्र, द्वारपाल यंत्र और योध-यंत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। गजयंत्र में ऐसे कृत्रिम हाथी का वर्णन है जो पारे के यंत्र की सहायता से असली हाथी की तरह चिंघाड़ता और चलता फिरता मालूम पड़ता है। अमेरिका में अभी हाल ही में मशीनों की सहायता से चलने फिरने और सवारी देने वाले नकली हाथी तैयार किये गये हैं। पक्षि यंत्र में तोते आदि नकली पक्षियों के ताल पर नाचने और गाने का उल्लेख है। द्वारपाल यंत्र में एक ऐसे लकड़ी के मानव शरीर जैसे यंत्र का वर्णन है जिससे हाथ में दण्ड रहता है और जो घर में प्रविष्ट होने वालों को रोकता है। योधयंत्र या सिपाही कल हथियार धारण कर घर में जबरदस्ती प्रवेश करने वाले व्यक्ति से युद्ध भी करने की सामर्थ्य रखता है। अज कल के वैज्ञानिकों ने भी यंत्रचालित लौह पुरुष (Robot) बनाने के प्रयत्न किये हैं।

विमान निर्माण

इस पुस्तक में आकाशगामी विमानों, उनके निर्माण और संचालन विधि का भी उल्लेख है। यह जरूर है कि इन विधियों का उल्लेख केवल बीज रूप में किया गया है। ग्रन्थकार ने इस बात को स्वयं ही स्पष्ट भी किया है कि यंत्रों के बनाने की विधि के पूरीतौर पर न लिखने का कारण अज्ञान या छिपाव न था वरन् पूरा विवरण देने से भी हर कोई तो बनाने में समर्थ नहीं होता और कुशल कलाकार संकेत के अनुसार काम करके यंत्र बनाने में समर्थ हो सकते हैं।

शिल्प और स्थापत्य

यंत्र विज्ञान (Mechanical Engineering) के साथ ही उन दिनों, शिल्प, स्थापत्य और वास्तुशास्त्र अर्थात् सिविल इंजीनियरिंग भी यथेष्ट उन्नत अवस्था में थी। आजकल इंजीनियर, ओवरसीयर और मिस्त्रियों ही के समान उन दिनों भी क्रमशः शिल्पज्ञ, गणितज्ञ (सूत्रग्राही) और विधिज्ञ होते थे। भवन निर्माण के लिए भी अनेक ग्रन्थ और संहितायें प्रचलित थीं। इनमें कश्यप संहिता हिमालय से विन्ध्य प्रदेश तक, भृगु संहिता विन्ध्य से तुङ्गभद्रा तक और मय संहिता तुङ्गभद्रा से दक्षिण के भागों में विशेष रूप से प्रचलित थी। इन संहिताओं में भवन के विस्तृत विवरण दिये गये हैं। जमीन कैसी हो, अड़ोसी पड़ोसी कैसे हों, कैसे पशुपक्षियों, वृक्षों वनस्पतियों का सहवास उचित है, कैसों का अनुचित, आदि के विषय में भी इन संहिताओं में विस्तार से बतलाया गया है। इन संहिताओं के अतिरिक्त शिल्प के और भी ग्रन्थ प्रचलित थे। इनमें शिल्प रत्न और नारदीय शिल्प आज भी उपलब्ध हैं। संक्षेप में हमारे पूर्वजों की महान् साधना द्वारा अर्जित ज्ञान विज्ञान का अक्षय भण्डार आज भी हमारे लिए सुलभ हो सकता है, आवश्यकता इस बात की है कि हम उसे जाने, सुने, देखें और समझें और इसके साथ ही इस मिथ्या धारणा को अपने मस्तिष्क से निकाल फेंके कि आधुनिक विज्ञान, उसके अन्वेषण और अनुसन्धान केवल पश्चिम की ही देन हैं।

टमाटर का केचप (Tomato Ketchap)

श्री दर्शनानन्द श्रीवास्तव

फलों को सुरक्षित रखने के लिए डिब्बाबंदी की प्रथा नई है। जैम, चटनी, जूस, केचप आदि इस तरह रक्खे जाते हैं। इस लेख में टमाटर के केचप को बनाने और डिब्बाबंदी का व्यवहारिक विवरण दिया गया है।

टमाटर मनुष्य के आहार का एक बहुत ही आवश्यक अंग है। स्वास्थ्य के विचार से तो टमाटर का भोजन के साथ प्रयोग अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि जीवति 'ग' (Vitamin C), की मात्रा इसमें अधिक होती है। प्रति मनुष्य के भोजन में प्रति दिन ७५ मिलीग्राम जीवति 'ग' का होना आवश्यक है जो लगभग तीन छोटे-छोटे टमाटरों से प्राप्त किया जा सकता है। टमाटर जीवति 'ग' के अतिरिक्त जीवति 'क' और 'ख' (Vitamins A and B) और अयस (Iron) तथा चुर्णातु (Calcium) का भी अच्छा साधन है। अंग्रेजी कहावत "An apple rather a tomato a day, Kceeps the doctor away" बहुत ही युक्तिसंगत है। इसी कारण टमाटर को कंगाल मनुष्य का सेब (Poor man's apple) भी कहा गया है। उत्तर प्रदेश के मैदानों में यह भाजी शरद ऋतु में अधिकांश मात्रा में सस्ते भावों में बिकती है। इस कारण जनता की माँगें पूरी करने के पश्चात शेष को यदि सड़ने गलने से बचा कर सुरक्षित रखा जा सके तो बहुत ही अच्छा हो। इस प्रकार टमाटर को डब्बों में बन्द कर के (Canned tomatoes) तथा जैम, चटनी, जूस, केचप (Ketchup) इत्यादि में परिणत कर के सुरक्षित रख सकते हैं। टमाटर से बनने वाली इन वस्तुओं में केचप (Tomato Ketchup) का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है, जो टोमैटो सॉस (Tomato Sauce) के ही समान होता है। अंतर केवल इतना होता है कि सॉस केचप से थोड़ा पतला होता है और ठोस वस्तुएँ (Solid substances) इसके अंदर केचप से कम होती हैं। केचप टमाटर का रस निकाल कर अन्य प्रकार के मसाले इत्यादि के साथ पकाकर बनाते हैं। खाने में बहुत ही स्वाष्टि होता है और उसका उपयोग भोजन के साथ चटनी, अँचार इत्यादि के स्थान पर करते हैं। केचप बनाने के लिए इमली का भी प्रयोग करते हैं परन्तु इस सम्बन्ध में टमाटर का उपयोग अधिक होता है क्योंकि इसका केचप बहुत स्वादिष्ट होता है। टमाटर का केचप नीचे दिए हुए विवरण के अनुसार तय्यार किया जा सकता है:—

१) फलों का चुनाव और धुलाई (Selection and Washing of fruits)—जली की भांति इसमें भी फलों का चुनाव करते समय तीन विशेष बातों का ध्यान रखना पड़ता है:—

क—भेद (Variety)

ख—पक्केपन की अवस्था (Stage of maturity)

ग—छूत से मुक्ति (Freedom from infection)

टमाटर अधिक रस वाले, भली भांति पके हुए लाल रंग के होने चाहिए। आकार का ध्यान रखते हुए गोल टमाटरों को चुनना चाहिए क्योंकि टेढ़े-मेढ़े तथा अधिक अंकुश वाले फलों में सूक्ष्म जीवाणु (Micro-organism) आदि अधिक रहते हैं जिनके कारण तैयार केचप आदि शीघ्र नष्ट हो जाता है। फल वही चुनने चाहिए जो पेड़ पर के पके हों और तोड़ने के पश्चात शीघ्र से शीघ्र इच्छानुसार वस्तु में परिणत कर देना चाहिए ताकि फलों

को इकट्ठा करके रखने में सड़ने गलने की सम्भावना कम रहे। इन बातों के अतिरिक्त बीमारी तथा कीड़ों-मकोड़ों के प्रभाव से फलों का मुक्त रहना भी अति आवश्यक है। सड़े गले और दबे फलों को फेंक देना चाहिए। यदि फलों में कहीं हरा भाग है तो उसे भी निकाल देना चाहिए क्योंकि उनके रहने से केचप का रंग गरम करने पर भूरा हो जाता है। फलों के उचित चुनाव के पश्चात उनको निर्मल जल से धोते हैं ताकि चिपके हुए धूल के कण अलग हो जाएं। इसके अतिरिक्त फलों में लगे हुए डंठल इत्यादि को भी तोड़ कर अलग कर देते हैं।

(२) रस निकालना और छानना (Extracting the juice and its straining)—धुलाई के पश्चात फलों का रस निकाल कर छान लेते हैं। यह नीचे लिखी हुई विधियो में से किसी एक द्वारा किया जा सकता है :—

क—ब्लाचिंग तथा चिलिंग (Blanching and Chilling) करने के पश्चात् रस निकालते हैं। टमाटरों को एक कपड़े में रख कर ढीली पोटली के समान बनाकर उबलते हुए जल की देगची में छोड़ देते हैं। इसे ब्लाचिंग कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे स्कैल्डिंग (Scalding), पार ब्वायलिंग (Par-boiling) तथा प्री कुकिंग (Pre-Cooking) भी कहते हैं। दो तीन मिनट के पश्चात पोटली को उबलते हुए जल में से निकाल कर तुरंत ही ठन्डे पानी में छोड़ देते हैं जिसको चिलिंग कहते हैं। चिलिंग करने से छिलके फट जाते हैं जिससे छीलने में सरलता होती है। थोड़ी देर बाद पोटली को ठंडे जल में से निकाल कर टमाटरों को अलग करके छील डालते हैं। फिर उनको दबा दबा कर फोड़ने के पश्चात् रस निकाल कर छान लेते हैं। इस विधि से तैयार करने पर :—

१—केचप की मात्रा कम प्राप्त होती है।

२—रंग भड़कीला लाल होता है जिसके कारण ऊपर से खाने वाला रंग छोड़ने की आवश्यकता पड़ती है।

ख—दूसरी विधि ताजे फलों को दबा दबा कर फोड़ने के पश्चात् या कतरों में काट कर ३—५ मिनट तक उबाल कर रस को छान लेने की है।

रस छानने के लिए छलनी या मच्छर के कपड़े का प्रयोग करते हैं।

मसालों तथा अन्य सामग्रियों का तय्यार करना—(Preparation of spices and other ingredients) रस छानने के पश्चात् उसकी मात्रा के अनुसार शकर, नमक, प्याज, लहसुन लौंग, जीरा, काली मिर्च, इलायची, दालचीनी, जावित्री, सिर्का लाल मिर्च इत्यादि के साथ रस को पकाते हैं। सिर्का, नमक और शकर केचप को स्वादिष्ट बनाते और प्याज तथा लहसुन केचप को सुगंधित बनाते हैं।

सर्दार लालसिंह और डा० गिर्धारीलाल के अनुसार ६ गैलन टमाटर के रस में निम्नलिखित सामग्रियां नीचे दी हुई तालिका के अनुसार होनी आवश्यक है :—

सामग्री	मात्रा (approximate amount)
१—प्याज के छोटे छोटे टुकड़े	७ छटाक Chataks)
२—लहसुन के छोटे छोटे टुकड़े	$१\frac{१}{४}$ छटाक
३—लौंग समूचा	१ तोला
४—ज़ीरा और इलायची सब समूचे	प्रत्येक १ तोला
५—जावित्री (Mace) बिना पिसी हुई	$\frac{१}{४}$ तोला
६—दालचीनी	$१\frac{१}{२}$ तोला
७—सिर्का	$१\frac{१}{४}$ तोला
८—शकर	१ सेर
६—नमक	$५\frac{३}{४}$ छ०
१०—लाल मिर्च	१ तोला

सिर्का, नमक तथा शकर को छोड़ कर शेष ऊपर लिखे हुए मसालों को कूट कर एक में मिला देते हैं और उनको महीन कपड़े में बांध कर एक छोटी सी ढीली पोटली बना लेते हैं। ध्यान केवल इस बात का रहे कि मसाले महीन न पिसे हों क्योंकि महीन रहने के कारण कपड़े में से झड़ कर केचप में गिर जाते हैं जिससे रंग नष्ट हो जाता है। इसी कारण कुछ मसालों को (जीरा, काली मिर्च इलायची, जावित्री, लौंग) समूचा ही रहने देते हैं। लौंग मुन्ड रहित होना आवश्यक है प्याज और

लहसुन को चाकू से काट कर छोटे छोटे टुकड़े कर लेते हैं तब अन्य मसालों के साथ मिलाते हैं।

पकाना (Cooking)--टमाटर के निकाले हुए रस और मोटे पिसे हुए मसालों की पोटली को एल्यूमीनियम की देगची में रख कर उबालते हैं शकर की कुल आवश्यकता का ⅓—½ भाग शुरू में उबालने के पूर्व ही रस में छोड़ देना चाहिए। इससे केचप का रंग तेज हो जाता है। उबलते उबलते टमाटर का रस गाढ़ा हो जाएगा और जब वह शुरू के आयतन का आधा रह जाए तो शेष शकर भी उसमें छोड़ देना चाहिए। उबालना तब तक जारी रहना चाहिए जब तक कि रस गाढ़ा होते-होते प्रारम्भिक रस के आयतन का ⅓ न हो जाय। उबालते समय यदि झाग उठे तो थोड़ा सा मक्खन छोड़ कर उसे वश में किया जा सकता है। जब रस आवश्यक गाढ़ापन प्राप्त करले तब मसालों की पोटली उसमें से निकाल कर निचोड़ लेते हैं ताकि उसमें से सुगंध इत्यादि निकल कर केचप में मिल जाए। पोटली निकालने के पश्चात गाढ़े किए हुए रस में आवश्यकतानुसार सिर्का छोड़ देते हैं जिससे गाढ़े रस में थोड़ा पतलापन आजाता है। इस कारण लगभग पांच मिनट तक और उबालना आवश्यक है। अब देगची को आग पर से उतार लेते हैं और तैय्यार किए हुए पदार्थ के उपर नमक छिड़क कर लकड़ी के चम्मच से हिला कर भली भांति मिला देते हैं। इस प्रकार केचप तय्यार हो जाता है।

सर्दार लालसिंह और डा० गिर्धारी लाल के कथनानुसार यदि रसको खुली आग पर रख कर गाढ़ा किया जाए तो देर तक गरम होने तथा अधिक तापक्रम हो जाने के कारण केचप के गुणों पर बुरा प्रभाव पड़ता है और सीधे आग पर रख कर पकाने के कारण केचप में कुछ पकाए टमाटर की बास (Flavour) आ जाती है। यदि रस को एक विशेष प्रकार की केटली, जिसे स्टीम जेकेट वाली केटली (Steam Jacketed Kettle) कहते हैं, में रख कर अधिक भाप के दबाव पर पकाया जाय तो उसमें उबाल शीघ्र और तेज आने के कारण केचप का रंग चमकदार लाल बना रहता है और उसमें ताजे टमाटर की बास आती है।

(५) केचप का संरक्षण और बोतलों में भरना—केचप तय्यार हो जाने के पश्चात ,उसे ½ घंटे तक स्टेरिलाइज किए हुए बोतलों में भर देते हैं। प्रयत्न यही करना चाहिए कि बोतल षटकोण आकार के तथा क्राउन कार्क वाले हों। केचप को बोतलों में भरने के पश्चात बोतलों को स्टेरिलाइज किए हुए क्राउन कार्क (Sterilized Crown Cork) से क्राउन कार्क करने वाले यंत्र (Crown corking machine) द्वारा बन्द कर देते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि केचप का संरक्षण कैसे हो। क्योंकि बिना संरक्षण के केचप का ठीक दशा में रहना असम्भव है। संरक्षण करने की दो विधिया हैं:—

अ—रक्षक का प्रयोग (Use of Preservative)—केचप में ०. १% सोडियम बेन्जोएट (Sodium benzoate) छोड़ कर इसे भली-भांति सुरक्षित कर सकते हैं (सर्दार लाल सिंह और डा० गिर्धारी लाल के अनुसार) इस कारण यदि रक्षक का प्रयोग किया जाता है तो बोतलों में भरने के पूर्व ही इसे केचप में भली-भांति मिला देना चाहिए। इस प्रकार से संरक्षण करने में एक लाभ यह है कि बोतल खोलने के पश्चात भी केचप कई दिनों तक ठीक दशा में रह सकता है।

ब—स्टेरिलाइज करके (By Sterilzation)—केचप भरे तथा क्राउन कार्क से बंद किए हुए बोतलों को तुरंत ही गरम जल की देगची में पट कर के रख देते हैं और आध घंटे तक उन्हें उबलते हुए पानी में रहने देते हैं ताकि केचप ठीक दशा में अधिक समय तक रक्खा जा सके। यदि सोडियम बेन्जोएट का प्रयोग नहीं करते है तो केचप को स्टेरिलाइज करना अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि इसमें यदि असावधानी हुई तो एक ही दो दिन में सारा केचप नष्ट होना प्रारम्भ हो जाएगा। बोतलों को ऐसे बर्तन में रखकर स्टेरिलाइज करना चाहिए कि जिसमें फाल्स बाटम (False Bottom) हों। इससे उनके टूटने का भय नहीं रहता है। स्टेरिलाइज किए हुए केचप में केवल एक दोष यह है कि बोतल खोलने पर फिर केचप अधिक समय तक नहीं रह सकता और शीघ्र

ही नष्ट हो जाता है। सोडियम बेन्जोएट का प्रयोग करने से यह दोष जाता रहता है।

(६) सूचक पत्र और संचित करना (Labelling and Storing)—सब कार्य करने के पश्चात बोतलों पर सूचक-पत्र चिपका देना चाहिए और फिर उन्हें सूखे ठंडे स्थान पर संचित कर के रख देना चाहिए।

हर प्रकार की दृष्टि रखते हुए भी ऐसा देखा गया है कि कुछ दिनों के पश्चात एक प्रकार का काले रंग का छल्ले जैसा आकार केचप की बोतलों में गर्दन के पास बन जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि बोतलों में वायु रहने के कारण ऐसा हो जाता है। कुछ लोगों का यह विचार है कि केचप में जीवतिओं के टूटने से यह छल्ला बन जाता है। बाजारों में केचप की बोतलों की गर्दनों पर इसी काले स्थान पर लेबिल लगे हुए मिलते हैं। इससे मुक्ति पाने का केवल एक ही उपाय है और वह यह कि जिस देगची में पकाते हैं वह वेकुअम (Vacuum Pan) वाली हो।

केचप का रंग भी भड़कीला होना आवश्यक है ताकि देखने में सुन्दर प्रतीत हो। केचप तय्यार करते समय उसका रंग नष्ट होने से बचने के लिए कुछ विशेष बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है और वह निम्नलिखित है :—

१—टमाटर भली भाँति पके हुए लाल रंग के हों। हरा भाग जहाँ भी हो उसे निकाल कर फेंक देना चाहिए क्योंकि उसके कारण रंग भूरा हो जाता है।

२—कुल आवश्यकता का १/३—१/२ भाग शकर प्रारंभ में उबालने के पूर्व ही छोड़ देते हैं ताकि टोमैटो का रंग तेज हो जाए।

३—मुण्ड-रहित लौंग का प्रयोग करना आवश्यक है क्योंकि लौंग के मुन्ड में टेनिन (Tanin) रहता है जिसके कारण रंग में कुछ कालापन आ जाता है।

४—मसाले मोटे पिसे रहना आवश्यक है क्योंकि महीन पिसा रहने से पोटली में से झड़ कर केचप में गिर जाते हैं और रंग नष्ट कर देते हैं।

५—लोहे और तांबे के बर्तनों का प्रयोग न करके अल्युमिनियम या पीतल के कलईदार बर्तन का उपयोग करना चाहिये।

६—सिर्का अच्छे प्रकार का अर्थात सुनहरे रंग का होना चाहिए।

७—पकाना जल्द से जल्द समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

८—नमक रंग को कुछ उड़ा देता है इस कारण उसे केचप तय्यार हो जाने के पश्चात छोड़ना चाहिए।

९—यदि रंग सुन्दर न आए तो ऊपर से खाने वाले टमाटर का रंग छोड़ देना चाहिए।

केचप तय्यार करना बहुत ही सरल है। यदि उपर्युक्त बातों पर ध्यान दिया जाए तो सफलता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। घरों में भी यह बहुत ही सरलता के साथ तय्यार किया जा सकता है क्योंकि इसमें किसी विशेष यंत्र इत्यादि की आवश्यकता नहीं है और आवश्यकता पड़ने पर बोतलों को खोल कर केचप का प्रयोग चटनी तथा अचार इत्यादि के समान भोजन के साथ भली भाँति किया जा सकता है।

विज्ञान-समाचार

विज्ञान की सहायता से वर्षा

मेंह बरसाने की विधियाँ

वायुमंडलीय भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में, किसी गवेषणा ने लोगों का इतना अधिक ध्यान आकर्षित नहीं किया है और न किसी में लोगों ने इतनी रुचि दिखायी हैं जितनी कि बादलों से पानी बरसाने के प्रयोगों में हाल के वर्षों में कुछ देशों में ऐसे प्रयोग किये गये हैं।

इन प्रयोगों से जनसाधारण कितनी ही तरह की अटकलें लगाने लगे हैं और बहुत से लोग तो यह विश्वास करने लगे हैं कि अब वह समय आगया है जब मानव जाति का स्वप्न पूरा हो जायगा अर्थात् मौसम पर मनुष्य का नियंत्रण होजायगा।

भारत की आर्थिक व्यवस्था प्रधानतः कृषि पर निर्भर करती है और यहां का वार्षिक बजट तो अधिकांशतः वर्षा से ही नियंत्रित होता है। इसी लिए वैज्ञानिक ढंगों से वर्षा कराने की संभावना में यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति अत्यधिक रुचि रखता है। यह जान कर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि पिछले कुछ समय से भारतीय अन्तरिक्ष-अनुसन्धान-विभाग से इस सम्बन्ध में लोग निरन्तर पूछताछ कर रहे हैं। और विशेषकर खाद्य अभाव की वर्तमान परिस्थिति में जो देश के कई भागों में समय पर वर्षा न होने के कारण कुछ और खराब हो गयी है, लोगों द्वारा इस प्रणाली के जानने की उत्सुकता प्रकट करना स्वाभाविक ही है।

विभिन्न पद्धतियों का विवेचन

इस क्षेत्र में, विशेषकर[1] अमेरिका और आस्ट्रेलिया जैसे देशों में जो प्रगति हुई है उससे अन्तरिक्ष-अनुसन्धान-विभाग निकट सम्पर्क में रहा है। इस विभाग के नयी दिल्ली के प्रादेशिक केन्द्र के श्री ए० के० राय ने हाल ही में जल बरसाने की विधियों की छानबीन की थी। इस सम्बन्ध में जिस निष्कर्ष पर वे पहुँचे हैं वह अन्तरिक्ष और भू-भौतिकी विज्ञान की पत्रिका के एक लेख में व्यक्त किया गया है।

बादलों से मेंह बरसाने के तर्कसंगत सिद्धान्त का पहले पहल श्री बर्गरोन ने १६३३ में प्रतिपादन किया था। इस वैज्ञानिक के मतानुसार, जल केवल ऐसे बादलों से ही बरसाया जा सकता है जिनमें, शून्य डिग्री सेंटीग्रेड के नीचे के तापमान में, पानी की बूँदों के साथ साथ बर्फ के छोटे छोटे कण भी हों।

अमेरिका और आस्ट्रेलिया में मेंह बरसाने के जो प्रयोग किये गये हैं उनमें वास्तव में यह प्रयत्न किया गया है कि बादलों की ऊपरी सतह पर बर्फ के कण डाल दिये जायँ, क्योंकि यद्यपि इन बादलों का तापमान शून्य डिग्री (सेंटीग्रेट) से कम होता है, फिर भी उनमें बर्फ के कण नहीं होते। इस विधि में यह किया जाता है कि वायुयान द्वारा बादलों के ऊपर 'सूखी बरफ' (ठोस कार्बन डायो-क्साइड) छिड़क दी जाती है। इसके लिए एक वायुयान और कोई २५-३० पौंड 'सूखी बरफ' - बस इतना ही सामान चाहिए।

यह स्मरण रहे कि मेंह बरसाने की जो विधि ऊपर बतायी गयी है इसकी सफलता कई बातों पर निर्भर है। इनमें से पहली तो यह है कि बादल ऐसे किस्म का होना चाहिए कि सूखी बरफ छिड़कने से इसमें प्रक्रिया हो। दूसरे, बादल इतनी ऊँचाई पर होने चाहिए कि वहाँ का तापमान, पानी जमने के बिन्दु से ७ से १५ डिग्री (सेंटीग्रेड) नीचा हो। तीसरे, बादलों की मोटाई, भूतल से उनके आधार की ऊँचाई के बराबर या इससे अधिक होनी चाहिए।

उत्तरी भागों को छोड़कर, भारत में शीतकाल में पानी जमाने वाला तापमान प्रायः १४ या १५ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। और इससे ७ से १५ डिग्री नीचा तापमान १६ से २० हजार फीट की ऊँचाई के बीच होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इतनी ऊँचाई पर 'सूखी बरफ' छिड़कने के लिए उपयुक्त साज सामान के साथ खास किस्म का वायुयान चाहिए। यह प्रयोग बहुत मँहगा पड़ेगा, क्योंकि इतनी ऊँचाई पर ठीक किस्म के बादलों का पता लगाने के लिए वायुयान को बहुत चक्कर लगाने पड़ेंगे। और फिर, 'सूखी बरफ' उस समय डाली जाती है जब बादल विकास की अवस्था में होता है। इसलिए अनुकूल अवसर की ताक में वायुयान को उड़ाने के लिए दिन भर तैयार रहना पड़ेगा।

भारत में, दक्षिणी मद्रास, राजस्थान, पूर्वी पंजाब के निकटवर्ती क्षेत्र, उत्तरी सौराष्ट्र, कच्छ और बम्बई राज्य के उत्तरी जिलों में अनावृष्टि की आशंका, रहती है। इन क्षेत्रों के ऊपर से गुजरने वाले, नीचे, किन्तु न बरसने वाले बादलों का श्री राय ने अध्ययन किया है। इनका मत है कि मेंह बरसाने का प्रयोग जब तक हम उपर्युक्त ऊँचाई वाले बादलों तक सीमित रखेंगे तब तक सफलता की बहुत ही कम आशा है।

गरम बादलों की वर्षा

बर्गरोन के सिद्धान्त के अनुसार, अब यह तो अंतरिक्ष विज्ञान वेत्ताओं ने मान लिया है कि अति उष्ण प्रदेशों में जल बरसाने के लिए ७ से १५ डिग्री (सेंटीग्रेड) के तापमान पर बादलों में अतिशीतित जल-विन्दुओं के साथ बरफ के कणों का होना संभवतः परम आवश्यक है। किन्तु, उष्ण प्रदेशों और अति उष्ण प्रदेशों में, तथा वसंत और शीतकाल में उच्च अक्षांश के प्रदेशों में, कई बार इस शीत के बिना भी मेंह बरस जाता है।

भारत में देखा गया है कि मानसून की वर्षा प्रायः उन घने मेघों से होती है जो पानी जमने के विन्दु से कई हजार फीट नीचे होते हैं। दूसरे कई देशों से भी इस बात के प्रमाण मिले हैं कि विशिष्ट अनुकूल परिस्थितियों में इतने नीचे गरम बादलों से भी पर्याप्त मात्रा में मेंह बरस जाता है। ऐसी स्थिति में भारत में, बादलों पर 'सूखी बरफ' छिड़क कर मेंह बरसने का प्रयोग करने की उपयोगिता बहुत ही सीमित रह जाती है।

यदि उपयुक्त ऊँचाई पर ठीक किस्म के बादल मिल भी जायँ, तो यह आशंका बनी रहती है कि 'सूखी बरफ' छिड़क कर उनके साथ छेड़ छाड़ करने से वे उस स्थान पर बिल्कुल ही न बरसें, जहाँ उन्हें आप से बरसना है।

सिलवर आयोडाइड का उपयोग

सिलवर आयोडाइड के कणों से अब तक अधिक प्रयोग नहीं किये गये हैं।

यदि ये प्रयोग सफल हो गये तो 'सूखी बरफ' की विधि से इस विधि में यह लाभ रहेगा कि वायुयानों को बादलों के ऊपर नहीं उड़ना पड़ेगा। पूर्वी अफ्रीका में इस सम्बन्ध में जो प्रयोग आयोजित किये जा रहे हैं सिलवर आयोडाइड मिश्रित बारूद के विस्फोट से बादलों तक सिलवर आयोडाइड के कण पहुँचाये जायँगे। यह इस तरह किया जायगा कि बारूद और सिलवर आयोडाइड का गोला रखकर हाइड्रोजन गैस का गुब्बारा बादलों तक पहुँचाया जायगा। इसमें एक ऐसा यन्त्र लगा रहेगा कि जल जमने के तापमान पर पहुँचते ही गोला फट जायगा और सिलवर आयोडाइड के कण बादलों में फैल जायँगे।

जल छिड़क कर वर्षा

उष्ण मेघों पर जल छिड़क कर मेंह बरसाने के भी प्रयोग किये गये हैं किन्तु वे अधिक सफल नहीं रहे हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक लैंगम्यूर हैं। यदि यह सफल प्रमाणित हो गया तो भारत जैसे देश के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

इस सब प्रयोगों से यह समझ लेना गलत होगा कि मनुष्य ने वर्षा पर नियन्त्रण कर लिया है। इस क्षेत्र में अभी तो हम परीक्षण अवस्था में हैं।

जिन प्रगतिशील देशों ने इस विषय में छानबीन की है उनके समान ही इस देश में भी अनुसन्धान करने के लिए एक संगठन स्थापित होना चाहिए। सबसे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इन परीक्षणों के लिए पूर्व आयोजित व्यवस्था हो और ये ठीक स्थान और ठीक समय पर किये जायँ। साथ ही इनके परिणामों की इस दृष्टि से पूरी जांच की जाय कि ये सफल हैं या नहीं।

इसका परिणाम बड़ा आश्चर्यजनक निकला। धूल उड़ाने वाले अन्धड़ की जमीनें अब ठीक हो गयी हैं और वहाँ अब प्रति वर्ष अच्छी फसलें उगने लगी हैं। देश के हर भाग में आज से २० वर्ष पूर्व की अपेक्षा २५ से ३० प्रतिशत अधिक अन्न तथा कपास पैदा होने लगी है।

इस महान् कार्य की सफलता का बहुत सा श्रेय किसानों को ही है। उन्होंने स्वयमेव २,४०० भूमि-संरक्षण क्षेत्रों में मिल जुल कर खेती का कार्य किया है। उन्होंने इन क्षेत्रों में भूमि-संरक्षण की एक विशेष योजना बनाई है। वे सरकारी संस्थाओं से टैक्निकल सहायता लेते हैं, परन्तु भूमि को सुरक्षित बनाने का कार्य वे स्वयं ही करते हैं।

इस प्रकार सरकार तथा कृषक वर्ग के पारस्परिक सहयोग से देश और व्यक्ति दोनों को ही अपार लाभ पहुँच रहा है।

—आज का अमेरिका

[यूनाइटेड स्टेट्स इन्फारमेशन सर्विस के सौजन्य से]

रबड़ की कहानी

अपनी द्वितीय यात्रा में, कोलम्बस ने हिस्पेनिओला (अब हायटी) के लोगों को ऐसे गेंद खेलते हुए देखा, जो एक पेड़ के गोंद से बने थे। प्रीस्टले ने बताया कि इस गोंद को पेंसिल से किये गये निशान मिटाने के काम में लाया जा सकता है। और रगड़कर इन निशानों को मिटाने की क्रिया के ही अनुरूप, इस गोंद का नाम 'रबर' (रबड़) पड़ा, क्योंकि अंग्रेजी में 'रब' के अर्थ रगड़ने के होते हैं वैसे रबड़ को 'पारा-रबड़' भी कहते हैं जिसमें 'पारा' ब्राजिल के एक प्रांत का नाम है शुरू-शुरू में रबड़ यहीं होता था।

बगीचे

रबड़ आज, क्या घरेलू और क्या औद्योगिक जीवन की एक अति आवश्यक वस्तु बन गयी है। इसका पेड़ समुद्र-तल से लेकर ३,००० फुट तक की ऊँचाई में होता है, और बहुत वर्षा वाले क्षेत्र इसके विशेष अनुकूल होते हैं। पहले इसके बीज लगाये जाते हैं, जो १०-१२ दिन में अंकुरित हो आते हैं। ये अंकुरित बीज, छः महीने में तीन-तीन, चार-चार फुट लम्बे पौधे हो जाते हैं, और तब इन पौधों की बेड़ लगाई जाती है। इसके पेड़ २५-३० साल में ८० फुट की ऊँचाई तक पहुँच जाते हैं। पिछले ४० वर्षों में, भारत में रबड़ की खेती काफी बढ़ गई है, और दक्षिण भारत, मुख्यतः ट्रावंकोर में इसके बहुत बगीचे हैं।

लैटेक्स

रबड़ के पेड़ों की छाल में छेद करने से एक प्रकार का गाढ़ा-गाढ़ा रस टपकता है, जो सजाये हुए प्यालों में इकट्ठा कर लिया जाता है। 'लैटेक्स' इसी रस से बनता है, और रबड़ 'लैटेक्स' से तैयार किया जाता है। साधारणतः एक गैलन 'लैटेक्स' से २½ से ४ पौंड तक रबड़ तैयार होता है। 'लैटेक्स' बच्चों के खेलने के गुब्बारे बनाने के काम भी आता है, और प्रति वर्ष भारत में कोई ५०० टन रबड़ से लगभग ५० लाख रु० के गुब्बारे तैयार किये जाते हैं।

बीज

रबड़ के बीजों से एक प्रकार का तेल निकलता है, जो अलसी के तेल की जगह इस्तेमाल किया जा सकता है। बीज पेरने से जो खली निकलती है, वह पशुओं के चारेके काम आती है।

कृषि मंत्रालय के अर्थ व अंक विभागके अनुसार १९४९ में भारत में १५,४४३ इलाके थे, जो [illegible],३[illegible],१०४ एकड़ भूमि में फैले हुए थे। इस भूमि में से ८२ प्रतिशत ट्रावंकोर-कोचीन में, १६ प्रतिशत मद्रास में और लगभग [illegible] प्रतिशत कुर्ग तथा मैसूर में थी। १९[illegible]९ में भारत में [illegible]३८ लाख पौंड रबड़ तैयार किया गया।

उक्त वर्ष (१९४९ में) रबड़ के बगीचों में ४८,०५१ व्यक्ति काम करते थे, और ३[illegible] दिसम्बर, १९४९ के दिन सूखे रबड़ का कुल स्टाक लगभग ५१,६०, ६६ पौंड था। १९४९–५० में भारत ने ८,८३,३४४ पौंड रबड़ निर्यात किया, जिसका अधिकांश अमेरिका भेजा गया।

(भारत सरकार के पत्र सूचना विभाग के सौजन्य से)

मनुष्य की मुखाकृति

मूल लेखक—मारग्रेट शी गिल्बर्ट

अनु०—प्राध्यापक नरेन्द्र सिंह

[विज्ञान के जुलाई अंक में मारग्रेट शी गिलबर्ट लिखित (BIOGRAPHY OF THE UNBORN) **गर्भस्थ शिशु की कहानी** *का कुछ अंश दिया गया था। उसी पुस्तक का उपर्युक्त शीर्षक का एक सुन्दर अध्याय यहाँ दिया जा रहा है। लेखक के विषय-प्रतिपादन तथा विशद लेखन-शैली का यह उत्कृष्ट नमूना है। अनुवादक ने उसे परिष्कृत भाषा में रूपान्तरित करने का सफल उद्योग किया है। पाठक इसे यथेष्ट रुचिकर पाएँगे।]*

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार गर्भावस्था के दूसरे मास में घटित होने वाले रूप-परिवर्त्तनों को इस एक वाक्य की सहायता से समझाया जा सकता है कि—यह सब परिवर्त्तन मेंढक के जीवन-इतिहास की एक स्थिति 'टैडपोल' के रूप से मनुष्य के आकार को प्राप्त हैं। मानवीय गर्भ-पिण्ड, द्वितीय मास के आरम्भ में, वास्तव में 'टैडपोल' नहीं होता, वरन् आकार-प्रकार में उसी के समान होता है। तात्कालीन गर्भपिण्डीय शरीर आगे झुके हुए अपने विशाल मस्तक और मछलियों के समान श्वासछिद्रों के साथ, अपने पार्श्वों पर आकारहीन घुण्डियाँ लिए हुए, गेंद के समान आकार वाला एक पुच्छल जीव होता है और यह जीव हमारे परिचित मनुष्य-रूप के समान बहुत ही कम लगता है। यही शरीर, दूसरे मास के अन्त तक स्पष्टतः मनुष्य-रूप ग्रहण कर लेता है और उस समय कोई भी उसको मानवजाति के एक सदस्य के रूप में पहचान सकता है। दो मास की आयु वाले गर्भपिण्ड की मुखाकृति, सापेक्षिक रूप से विशाल आकार की होते हुए भी, मानवाकृति के समान ही होती है; उसका कण्ठ इस समय भी विशाल मस्तक को सहारा दिये हुए दृष्टिगोचर होता है, हाथ व पैर की अँगुलियाँ स्पष्ट हो जाती हैं तथा उस शरीर का लम्बा धड़, गर्भावस्था के दूसरे मास के अन्त तक एक निश्चित रूपरेखा प्राप्त कर लेता है और इस धड़ का उदर प्रदेश तथा माँसपेशियों से सज्जित
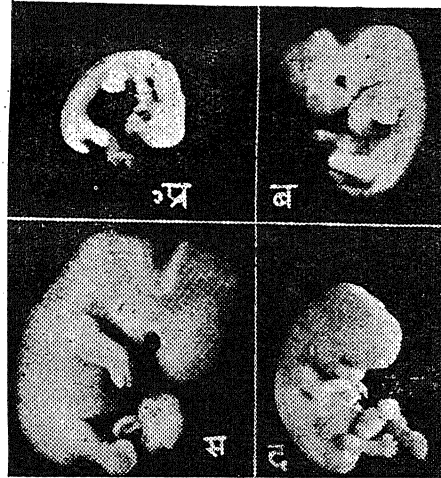
(चित्र १२) विकास के दूसरे मास में मानवीय गर्भ-पिण्ड के फोटो चित्र। अ, ब, स मूल से सवा दो गुना अधिक, तथा द १½ गुना अधिक आकार के हैं।

अ—पांचवा सप्ताह (८ मिली मीटर)।
ब—छठवां सप्ताह (१२ मिली मीटर)।
स—सातवां सप्ताह (१२ मिली मीटर)।
द—आठवां सप्ताह (२५ मिली मीटर)।

पृष्ठभाग अपने भीतर स्थित अंगों की उभड़नों को छिपाए हुए रहता है।

द्वितीय मास के अन्तर्गत ही, गर्भपिण्डीय शरीर के अनेक आन्तरिकअंग उन कार्यों का संचालन प्रारम्भ कर देते हैं जिनको वह जीवन पर्यन्त करते रहेंगे और गर्भ-शरीर के गति-संचालन भी इसी काल में प्रारम्भ होते हैं। नये जीव का लिंग-भेद जनन-ग्रन्थियों (डिम्ब-ग्रन्थि अथवा शुक्र-ग्रन्थि) के प्रादुर्भाव के द्वारा ही स्पष्ट नहीं होता है, वरन् इस समय बाह्य जननांग भी अपनी आकार-प्राप्ति करने लगते हैं। आरम्भ में तो यह बाह्य जननांग, मादा और नर दोनों जातियों के गर्भपिण्डों में एक समान होते हैं, परन्तु दूसरे मास की समाप्ति तक, लगभग पैंसठ प्रतिशत गर्भ-शरीरों में, इन जननांगों की लिंग-भेद-सूचक भिन्नता इतनी उचित मात्रा में प्रगट हो जाती है कि इन गर्भपिण्डीय शरीरों की लिंग-जाति की पहचान निश्चित रूप से की जा सकती है। अस्थियां तथा मांस-पेशियां, शरीर की त्वचा और आन्तरिक अंगों के मध्य, आकार-प्राप्ति करके गर्भ-शरीर की उभड़नों और गोलाइयों को स्पष्ट आकार देना प्रारम्भ कर देती हैं। गर्भपिण्डीय शरीर की पूंछ भी अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेने के उपरान्त अब अपने आकार में कम होना प्रारम्भ कर देती है। इन महत्वपूर्ण और पेचीले परिवर्त्तनों के समकाल ही, पूरे विकास व वृद्धि-काल की विशेष प्रकृति के अनुरूप, गर्भ-पिण्ड की आकार-वृद्धि निरन्तर होती है। दूसरे मास में गर्भपिण्ड का शरीर अपनी लम्बाई में छः गुना (छः मिलीमीटर से ३५ मिलीमीटर तक) और भार में लगभग पाँच सौ गुना बढ़ जाता है।

दो मास की आयु वाले गर्भपिण्ड को मनुष्य की समरूपता देने में सम्भवतः उसकी मुखाकृति तथा कण्ठ का ही विशेष सहयोग होता है (चित्र—१३)। इस मास के आरम्भ में, गर्भपिण्डीय शरीर का मस्तक वाला भाग पूरी तरह गठीले मस्तिष्क का बना होता है और इस मस्तिष्क की सिकुड़नों आदि के कारण, ऊपर पड़ी हुई त्वचा को भी मस्तिष्क के धरातल के अनुरूप ही आकार मिलता है। आरम्भ की इस अवस्था में, मस्तिष्क के नीचे प्रतिष्ठित नेत्र मस्तक के पार्श्वों में बाहर की ओर उभड़े हुए होते हैं और मस्तक के सामने वाले भाग को नाक के कम गहरे तथा गंधसचेतन गड्ढे घेरे रहते हैं। नीचे की ओर, मस्तिष्क तथा हृदय के मध्य, चौड़ा मुख-द्वार स्थित होता है; और निम्न जाति के पशुओं के श्वासछिद्रों के समान आकार वाली दरारों का क्रम नेत्रों के पीछे फैला पाया जाता है (चित्र—१२)। दरारों के इस क्रम की प्रत्येक दो दरारों के मध्य प्रदेश में कोष्ठसमूहों के ठोस दण्ड प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यह ठोस दण्ड सामूहिक रूप से 'ब्रैन्चियल आर्चेज' अर्थात् श्वास सम्बन्धी धनुषाकारी श्वास-दण्डों के समान आकारवाले होने के कारण, यह धनुषाकारी भाग भी विकासवाद सम्बन्धी आकार-पुनरावृत्ति के विधान के दृष्टान्त ही प्रतीत होते हैं। इस विशेष विधान के अन्य दृष्टान्तों के समान ही, इन धनुषाकारी दण्डों के अवशेष भी नये भिन्न आकारों की रचना में प्रयुक्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त निर्माण-कार्य सम्पूरित हो जाने के उपरान्त, अब गर्भपिण्डीय शरीर में नेत्रों, नाक तथा कानों और चौड़े मुख-द्वार के चारों तरफ मुखाकृति की रूपरेखा स्थापित होना प्रारम्भ हो जाती है। सबसे पूर्व निचले जबड़े का प्रतिष्ठान, प्रथम धनुषाकारी दण्डों के निचले सिरों के पारस्परिक संयोजन के द्वारा, होता है (चित्र—१३); इस परिवर्त्तन के समकाल ही विशेष कोष्ठसमूहों की कलियाँ मुख-द्वार के कोणों के निकट प्रगट हो जाती हैं और यह कलियाँ मुख-द्वार के ऊपर की ओर बढ़कर परस्पर संयोजित हो जाती हैं और इस प्रकार ऊपरी जबड़े का प्रतिष्ठान भी कर देती हैं (चित्र—१३ अ—स)। अब यह मुख-द्वार, ऊपरी और निचले जबड़ों से बँधकर केवल एक चौड़ी दरार के रूप में सीमित हो जाता है, इसके उपरान्त इस मुख-द्वार के दोनों कोणों पर जबड़ों की धीमी अर्ध-संयोजन-क्रिया के कारण इसका आकार छोटा होता जाता है। और यह नवनिर्मित अर्धसंयोजित भाग, अन्त में, कपोलों का आकार प्राप्त कर लेता है (चित्र—१३ स द)।

उधर नाक के गन्ध-सचेतन गड्ढे, मुखाकृति के निरूपण-काल में ही, धीरे धीरे एक दूसरे के निकट खिसकते आते हैं और ऊपरी जबड़े की स्थापना सम्पूरित

होने तक बिल्कुल समीप हो जाते हैं तथा कोष्ठ-समूहों की एक नाक का आकार ग्रहण कर लेते हैं। इस मास के आरम्भ में मस्तक के पार्श्वों में पड़े हुए नेत्र, विकास-विज्ञान के अन्तर्गत, आगे की ओर सामने इस प्रकार स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं कि दूसरे मास के अन्त तक दोनों नेत्र एक ही क्षेत्र का अवलोकन
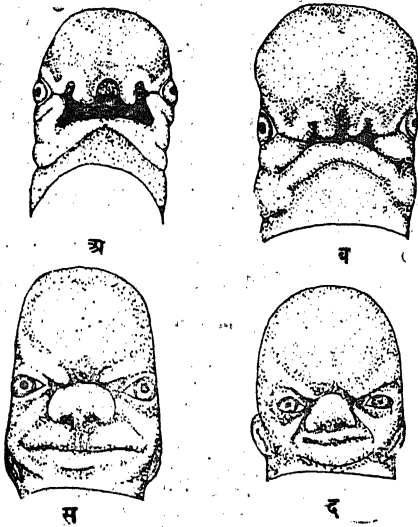
(चित्र १३) दूसरे मास के चार, विकास-क्रमानुगत गर्भपिण्डों के मस्तक जिनमें मानव-चेहरे के विकास को दिखलाया गया है।

अ—पांचवां सप्ताह (८ मिली मीटर);
ब—छठवां सप्ताह (१३ मिली मीटर);
स—सातवां सप्ताह (१८ मिली मीटर);
द—आठवां सप्ताह (२५ मिली मीटर)।

करने के योग्य हो जाते हैं। इन अन्तिम दिनों में ही, त्वचा की सिकुड़नों के रूप में पलकों की स्थापना नेत्रों के ऊपर हो जाती है और यह नवनिर्मित पलक कुछ समय के उपरान्त ही नेत्रों को तीन मास के लिये बन्द कर देते हैं।

प्रथम और द्वितीय धनुषाकारी दण्डों के अंशों से निर्मित घुण्डियों की श्रेणी के संयोजन के द्वारा कानों के बाहरी आकारों की स्थापना प्रारम्भ होकर, दूसरे मास के अन्त तक, गर्भ-मस्तक पर मनुष्य के सुन्दर कान दृष्टिगोचर हो निकलते हैं (चित्र—१४ और १४—क)। इनके सम्बन्ध में केवल एक असंगत बात होती है, वह यह कि
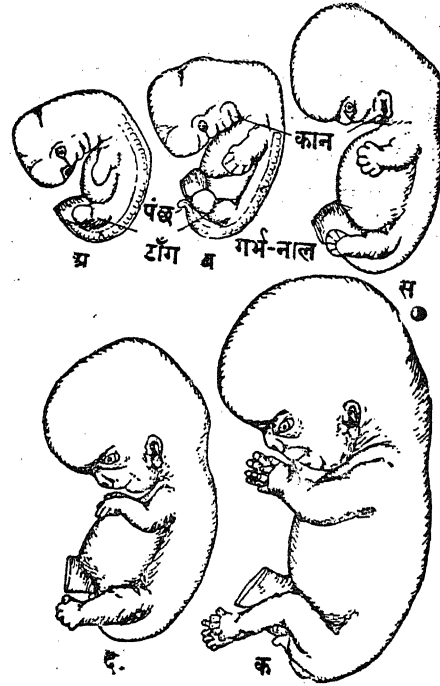
(चित्र १४) आकारवृद्धि, रूप-परिवर्तन तथा अवयव, कान, चेहरा तथा पूँछ के विकास को दिखाने के लिये एक ही आकार-माप पर खींचे गए, दूसरे मास की आयु के मानवीय गर्भ पिण्ड। (आकार मूल से पौने चार गुना बड़ा)।

अ—पांचवां सप्ताह (१० मिली मीटर);
ब—छठवां सप्ताह (१३ मिली मीटर;
स—सातवाँ सप्ताह (१५ मिली मीटर);
द—सातवाँ सप्ताह (१७ मिली मीटर);
क—आठवाँ सप्ताह (२३ मिली मीटर)।

नवनिर्मित कान अपनी स्वाभाविक स्थिति से कुछ नीचे प्रतिष्ठित होते हैं।

निचले जबड़े का लघु आकार तथा चिबुक अस्पष्ट होने के कारण गर्भपिण्ड का मुख, एक ओर से देखने पर, प्रायः चिबुकहीन प्रतीत होता है; और इस समय नासिका-

छिद्र नीचे की ओर खुलने की अपेक्षा सामने की ओर खुलते हैं तथा नेत्रों के मध्य की दूरी स्वाभाविक से अधिक है। दो मास के अन्त समय की इस अवस्था में माथा स्पष्ट होता है और अधिक आगे की ओर निकला होने के कारण गर्भपिण्ड को विशाल मस्तिष्क वाला आकार दे देता है; वास्तव में इस समय गर्भपिण्ड विशाल मस्तिष्क वाला होता भी है क्योंकि अनुपात की दृष्टि से मस्तक प्रदेश का सबसे बड़ा भाग इस समय मस्तिष्क ही है। गर्भ की अल्पावस्था में पाई जाने वाली इस मस्तिष्क-

(चित्र १५) दूसरे तथा तीसरे महीने में हाथ तथा बाहु के विकास (अ—क) तथा पैर और टाँग के विकास (ख—छ) को दिखलाते हुए चित्रों का क्रम। प्रत्येक अवयव के छोर पर पतवारनुमा पत्ती में अँगुली तथा अंगूठों के चिन्ह-प्रतिष्ठान को देखिये। एक ही गर्भपिण्ड में भुजा के विकास की तुलना में टाँग के विकास-विलम्ब को भी देखिये।

अ तथा ख—*छठवाँ सप्ताह (१२ मिली मीटर);*
ब तथा ग—*सातवाँ सप्ताह (१५ मिली मीटर);*
स तथा घ—*सातवाँ सप्ताह (१७ मिली मीटर);*
द तथा च—*आठवाँ सप्ताह (२५ मिली मीटर);*
क तथा छ—*तीसरा मास (५२ मिली मीटर)।*

प्रमुख स्थिति को स्वाभाविक आकार में परिवर्त्तित करने में मानवीय शरीर को अनेक वर्ष लग जाते हैं।

मस्तक-प्रदेश में होने वाले इन परिवर्त्तनों के समान ही, शरीर के अवयव—(हाथ और पैर) भी दूसरे मास में अद्भुत रूप-परिवर्त्तन करते हैं। मास के आरम्भ में इन अवयवों की कलियाँ (इनका अल्पावस्था में यही नाम होता है) छोटी छोटी गोल घुण्डियों के रूप में शरीर-पार्श्वों के बाहर निकली हुई होती हैं (चित्र—१४ अ)। यह कलियाँ आकार-वृद्धि करके दीर्घ हो जाती हैं और अन्त में इनके सिरे चौड़े और चपटे हो जाते हैं—यही सिरे हथेली और पैरों के तलवे का चपटा भाग बनाएँगे। बाद में इन चौड़े और चपटे सिरों में पाँच लम्बी समानान्तर उभड़ने उभड़ आती हैं जिनके बीच में कम गहरी नालियाँ होती हैं। यह नालियाँ धीरे धीरे गहरी होकर, कुछ काल के उपरान्त, इन उभड़नों को एक दूसरे से बिल्कुल अलग काट देती हैं जिसके फलस्वरूप इन अवयवों के चपटे भागों में अंगुलियों तथा अंगूठों के स्पष्ट और पृथक आकार सुनिर्मित हो जाते हैं। निर्माण के उपरान्त अंगुलियों से अंगूठे शीघ्र ही दूर खिसका दिये जाते हैं जिस कारण इनकी पहचान सुगमता से हो सकती है (चित्र—१५ द तथा क)। हाथ पैरों में अंगुली तथा अंगूठों के निर्माणकाल में ही, इन अवयवों के लम्बे आकारों में उन उचित स्थानों पर संकोचनों की उत्पत्ति हो जाती है जिन स्थानों पर हाथों की कोहनी और कलाई तथा टाँगों के घुटने और टखनों के जोड़ चिन्हित होंगे (चित्र—१४ क)। इस सम्बन्ध में यह अद्भुत बात है कि इस समय कोहनी और घुटने शरीर-पार्श्व के बाहर की ओर तथा हथेली और तलवे भीतर की ओर अस्वाभाविक रीति से मुड़ते हैं। यह हाथ और पैर गर्भ के चौथे मास में पहुँच कर अपनी साधारण और स्वाभाविक स्थिति को ग्रहण कर पाते हैं; इस स्वाभाविक स्थिति में कुहनियाँ और घुटने आगे पीछे मुड़ सकने योग्य स्थिति और पैरों के तलवे बाहर की ओर निचली स्थिति प्राप्त कर लेते हैं।

गर्भावस्था के दूसरे मास के उत्तरार्ध में हाथ और पैरों में उनकी अस्थियों तथा माँसपेशियों की स्थापना हो जाती है और इस विकास के कारण ही, इस मास के अन्त तक

त्रिपिण्डीय शरीर इतनी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि इन अवयवों को धीरे से हिला सके। पैरों की विकास-गति की तुलना में, इस समय हाथ अधिक वेग से आकार-वृद्धि करते हैं (दृष्टान्त—हाथ की अँगुलियाँ पैरों की अँगुलियों से पूर्व ही प्रगट हो जाती हैं) और इस कारण प्रारम्भ में टाँगों की अपेक्षा हाथ अधिक दीर्घ होते हैं। गर्भावस्था के तीसरे मास में दोनों अवयवों की सापेक्षिक विकास-गति में अन्तर पड़ जाता है और उस मास में पहुँच कर पैरों की आकार-वृद्धि हाथों के विकास-गति की अपेक्षा अधिक वेगपूर्ण हो जाती है; तदनन्तर स्वाभाविक अवस्था में पूरे गर्भ-जीवन तथा जन्मोपरान्त आजीवन शरीर की पूरी लम्बाई का एक बड़ा भाग पैर बने रहेंगे। अवयवों के विकास के समकाल ही, गर्भपिण्ड के शरीर का धड़ भी लम्बा होकर बेलन के आकार वाला रूप ग्रहण कर लेता है। अल्पायु के बृहत्-उदर वाले रूप को त्यागकर, गर्भपिण्डीय शरीर, दूसरे मास के अन्त तक, लम्बे और बेलनाकारी रूप में, अपनी चिकनी तथा गोल उभड़नों के सहित, मनुष्य के आकार की समरूपता पा लेता है (चित्र—१४)।

इस आयुवाले गर्भ-शरीर की पूंछ शरीर के निचले सिरे पर आगे को निकली तथा मुड़ी हुई केवल एक दो मिली-मीटर लम्बी उभड़न है। पूंछ के इस आकार में यद्यपि गति-संचालक माँसपेशियाँ उपस्थित होती हैं तब भी इस आयु में यह गतिहीन और अस्थिर ही होती है। यह माँसपेशियाँ भी पुनरुद्धरण के दृष्टान्तसम प्रतीत होती हैं। गर्भावस्था के पाँचवें सप्ताह तक, पूंछ का आकार अपना पूर्ण विकास करके अपने आकार में कम होना प्रारम्भ कर देता है और दूसरे मास के अन्त तक, पूंछ कोष्ठ-समूह की एक छोटी घुण्डी के समान ही रह जाती है जो कि बढ़ते हुए नितम्बों और कूल्हों के नीचे छिप जाती है। अस्वा-भाविक अवस्था में कभी कभी स्पष्ट बनी रह कर, वह पूंछ नवजात शिशु में भी दिखलाई पड़ सकती है।

इस समय के गर्भपिण्डीय शरीर की रूपरेखा की गोल उभड़नें त्वचा के नीचे स्थापित मांसपेशियों और अस्थियों के आकार के बाह्य प्रमाण ही हैं। मास के आरम्भ में शरीर-त्वचा ढीली तथा सिकुड़ी हुई होती है और उसमें से गर्भपिण्ड के आन्तरिक अंगों की उठान व गहराइयाँ स्पष्ट चमकती हैं, परन्तु मास के अन्त तक सब आन्तरिक मांसपेशियों की स्थापना हो चुकने के कारण त्वचा तथा आन्तरिक अंगों के मध्य इन मांसपेशियों की एक मोटी गद्दीनुमा तह बिछ जाती है।

मांसपेशियों और अस्थियों की रचना तथा उनका स्थापन-कार्य अति वेगशील और पेचीला होता है, जिसके कारण इस विकास-काल के परिवर्त्तनों का वर्णन बड़ा कठिन है। मास के प्रारम्भ में इन मांस-पेशियों के प्राथमिक आकार वह छोटे आकार के दण्ड थे जिनकी स्थापना, प्राथमिक मांसपेशी-कोष्ठों के परस्पर निकट स्थित हो जाने से हो गई थी और जो मेरुदण्ड के दोनों ओर अखण्डित रूप से आच्छादित थे। शरीर-त्वचा के नीचे दोनों पार्श्वों को आच्छादित किये हुए प्राथमिक मांसपेशियों की यह चादर उस समय तक आकार-वृद्धि करती रहती है जब तक वक्षप्रदेश और उदरप्रदेश के ऊपर दोनों ओर के आकार परस्पर संयोजित नहीं हो जाते। इस विकास-काल में ही इस आच्छादन के भीतर भी वक्ष, उदर और पृष्ठ भागों की पृथक मांस-पेशियां स्थापित होती रहती हैं। प्राथमिक मांसपेशी-कोष्ठों में से कुछ कोष्ठ भुजा और टांगों की ओर बढ़ कर अपने आपको अलग कर लेते हैं और फिर उन अवयवोंमें मांसपेशियों का जाल बिछा देते हैं। इसी प्रकार मस्तक और मुखाकृति में भी उन मांसपेशियों की स्थापना हो जाती है जो कि इन अंगों का गति-संचालन करती और मुख के भाव-प्रकाशन में सहायता देती हैं। उपर्युक्त वर्णन गर्भ-विकास तथा उसकी आकार-वृद्धि की पेचीली विधियों का बड़ा सरल दर्शन है, इन्हीं विधियों के प्रभाव से गर्भपिण्ड के आकार स्थानान्तरित और रूपान्तरित होते हैं। यह सब उपर्युक्त परिवर्त्तन सम्भावतः मनुष्य के विकासवादी जीव-इतिहास के प्रभाव में नियंत्रित होते हैं और कुछ अंश तक उन शारीरिक क्रियाओं द्वारा भी संचालित होते हैं जो कि आकार-वृद्धि करते हुए गर्भपिण्डीय शरीर में घटती हैं जैसे सम्पीड़न, खिंचाव और तनाव तथा श्रम।

मांसपेशियों की स्थापना चाहे किसी कारण प्रारम्भ होती है, परन्तु इस कार्य का अन्त त्वचा तथा आन्तरिक अंगों के मध्य मांसपेशियों का लगभग अखण्डित एक

आच्छादन ही हैं। शरीर के प्रत्येक भाग में, इसके गति-उत्पादनों के अनुरूप ही, ये मांसपेशियां अपना आकार और स्थिति ग्रहण कर लेती हैं। गर्भ के दूसरे मास की समाप्ति तक मानवशरीर का मांसपेशी-संस्थान अपनी सुसंयत रूपरेखा निश्चित रूप से स्थापित कर लेता है और उसका कुछ भाग अवश्य ही कार्यारम्भ के योग्य हो जाता है।

इस आयु के सम्बन्ध में यह सब महत्वपूर्ण ज्ञान, आपरेशन के द्वारा गर्भाशय में से निकाले गए दो मास की आयु के जीवित गर्भपिण्डों के अध्ययन पर आधारित है—इन जीवित गर्भपिण्डों ने अपने हाथ और टांगों की गति का प्रदर्शन किया।—आपरेशन की क्रिया के समय की परिस्थिति गर्भपिण्ड के कोमल शरीर को धमक स्वरूप अवश्य होती है। यह सम्भव प्रतीत होता है कि गर्भाशय के भीतर साधारण परिस्थितियों में इस आयु के गर्भपिण्डों के द्वारा स्वभावतः यह गति-संचालन नहीं किये जाते हैं। हाँ! इस प्रयोग-दर्शन के द्वारा यह स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि दो माँस के गर्भपिण्ड की मांसपेशियां सिकुड़ने तथा फैलने में समर्थ होती हैं पुरातन दार्शनिक, जो कि गर्भ-शरीर की जीवन-क्रिया के प्रारम्भ की खोज में सदा तत्पर रहते थे, यदि कहीं गर्भपिण्डीय शरीर की गति के इस प्रदर्शन को देख पाते, तो इस काल को ही गर्भ के जीवन-प्रारम्भ का लक्षण कहते, क्योंकि यह गति-संचालन जीवित मानव के समान ही होता है।

मांसपेशियों की रचना के साथ साथ ही, मानव शरीर के अस्थि-कंकाल का निर्माण भी प्रारम्भ हो जाता है; इसी कंकाल से यह मांस-पेशियां जुड़ी हुई होती हैं। अस्थियों का विकास व उनकी आकार-वृद्धि एक विशेष विधि द्वारा सम्पादित की जाती है—इस विशेष विधान के अन्तर्गत शरीर की अस्थियों का प्रतिरूप अथवा नमूना कोमलास्थि में ढाला जाता है (एक विशेष प्रकार के अतिकोमल व अपारदर्शी अस्थि-पदार्थ को कोमलास्थि अर्थात् 'कार्टिलेज' कहते हैं)' ढलाई के काम के पूरे हो जाने के उपरान्त इस कोमलास्थि-प्रतिरूप के भीतर व बाहर चारों तरफ एक पुष्ट तथा कठोर अस्थि-पदार्थ की प्रस्थापना की जाती है। यह अस्थि-निर्माण का कार्य लगभग उसी तरह किया जाता है जिस प्रकार शिल्पकार अपने नमूने को पहले चिकनी मिट्टी में तय्यार करता है और उस नमूने के आकार तथा उसकी रूपरेखा से सन्तुष्ट हो जाने पर फिर उसको पीतल अथवा तांबे जैसी कठोर धातु में स्थायी रूप से ढालता है; गर्भपिण्ड भी कदाचित् इसी प्रकार, अपने अस्थि कंकाल का प्रतिरूप पहले कोमलास्थि में अंकित करता है, उसकी रूपरेखा से सन्तुष्ट हो जाने पर, धीरे-धीरे कोमलास्थि-पदार्थ को हटाते हुए, उस नमूने को कठोर अस्थि-पदार्थ में ढाल कर अन्त में सम्पूर्ण अस्थि के आकार की रचना पूरी कर देता है। अस्थायी कोमलास्थि-प्रतिरूप की रचना-विधि, शरीर की सब अस्थियों की रचना करने में प्रयुक्त नहीं की जाती है—मानव-कंकाल के कुछ भाग, जैसे कपाल प्रदेश की अस्थियां, इस अस्थायी तथा मध्यकालीन स्थिति को प्राप्त किये बिना ही, कोमल कोष्ठसमूहों की सहायता से अपना आकार सीधा ही पा लेते हैं। इस प्रकार मानवशरीर के अस्थि-कंकाल की कुछ अस्थियाँ, कोमलास्थि के अस्थायी और मध्य-कालीन प्रतिरूप में हो कर निर्मित होती हैं, और कुछ बिना इस माध्यमी स्थिति में हुए ही सीधे अपना आकार प्राप्त कर लेती हैं,—नर-कंकाल की अस्थियों के निर्माण में यह विभिन्नता अभी विकास-विज्ञान की असुलझी समस्या ही है। हाँ! इतना निश्चित रूप से ज्ञात है कि शरीर के धड़ तथा अवयवों (हाथ और पैर) की अस्थियों का निर्माण, पहले कोमलास्थि-पदार्थ में उन अस्थियों के प्रतिरूप की रचना करके फिर कठोर अस्थि-पदार्थ की प्रस्थापना द्वारासम्पादित होता है; और कपाल तथा मस्तक की अन्य अस्थियाँ अधिकतर झिल्लियों के भीतर ही प्रस्थापित की जाती हैं और इस प्रकार उनकी रचना सीधी ही सम्पन्न कर दी जाती है, इसी कारण यह झिल्ली वाली अस्थियाँ कहलाती हैं।

गर्भावस्था के दूसरे मास में निम्नलिखित अस्थियों के प्रतिरूपों की रचना कोमलास्थि-पदार्थ में हो जाती है—मेरु-दण्ड के भाग (३३ मेरु-खण्ड अर्थात् 'वर्टीब्री'); पसलियाँ (१२ युग्म); कंधे की अस्थियाँ और पंखे; हंसली अथवा कण्ठ-प्रदेश की अस्थियाँ, बाहुअस्थियाँ (३); कलाई की अस्थियाँ (८); हथेली की अस्थियाँ (१९); कूल्हे और वस्तिप्रदेश की अस्थियाँ (६); टाँगों की (३); टखनों की अस्थियाँ (७), और पैरों की (१९)। निचले जबड़े

और मस्तिष्क के नीचे एक खोखले भाग 'कोन्ड्रोक्रेनियम' के अस्थि-प्रतिरूप की प्रस्थापना भी पहले कोमलास्थि-पदार्थ में ही की जाती है (चित्र—१९)। यह ध्यान में रखना चाहिये कि उपर्युक्त कोमलास्थि-प्रतिरूप (योग १८७) सब एक साथ ही उत्पन्न नहीं हो जाते हैं, वरन् इनकी प्रस्थापना धीरे धीरे क्रमानुसार होती है—हथेलियों की अस्थियों से पूर्व बाहु की अस्थियों की रचना, पैरों से पूर्व टाँगों की तथा पसलियों से पहले मेरुदण्ड के अस्थिखण्डों के प्रतिरूप की प्रस्थापना की जाती है।

प्रत्येक अस्थि के प्रतिरूप को गढ़ने वाला कोमलास्थि पदार्थ आरम्भ में छोटा और आकारहीन एक कोष्ठसमूह होता है, परन्तु पूर्णविकसित हो जाने पर यह कोमलास्थि-पदार्थ सापेक्षिक रूप से वही आकार, स्थिति तथा रूप ग्रहण कर लेता है जो कि इसके अन्तिम स्थायी रूप वाली अस्थि का होगा। गर्भ के दूसरे मास के अन्त तक इन प्रतिरूपों की रचना पूरी नहीं हो पाती हैं, वरन् वास्तव में इस समय तो इनकी रचना का आरम्भ ही होता है। रचनारम्भ के उपरान्त ये कोमलास्थि-प्रतिरूप अपने आकार में उस समय तक वृद्धि करते रहते हैं जब तक वे स्थायी अस्थियों के पूर्ण विकसित रूप और आकार के समान नहीं हो जाते। यह विकास-कार्य इस प्रकार गर्भावस्था के प्रत्येक मास में, प्रसव के उपरान्त शैशवकाल और कौमार्यावस्था में उस समय तक निरन्तर चलता रहता है जब तक मानव-शरीर का अस्थि-कंकाल अर्थात् पंजर अपने वयस्क और पूर्ण विकसित आकार को प्राप्त नहीं कर लेता है। उस समय तक शिल्पी की मूर्त्ति पूरी तरह निर्मित हो चुकती है और तब तक उस मूर्त्ति का प्रतिरूप पूर्णतः नष्ट कर दिया जाता है।

अस्थि-प्रतिरूपों की कोमलास्थि-पदार्थ में प्रस्थापना हो चुकने के बाद, कठोर अस्थि-पदार्थ की ढलाई-रचना का कार्य दूसरे मास में प्रारम्भ कर दिया जाता है और ढलाई पूरी हो चुकने तक निरन्तर चलता रहता है। प्रत्येक कोमलास्थि-प्रतिरूप के केन्द्रस्थल के चारों ओर, गर्भपिण्ड के अस्थि-कोष्ठ सबसे पहले कठोर अस्थि-पदार्थ की पतली और संकुचित चादर बिछाते हैं। इस आच्छादन के प्रारम्भकाल से ही प्रतिरूप का कोमलास्थि-पदार्थ खण्डित होकर लुप्त होना आरम्भ कर देता है। इसीलिये इस विकास विधि को यह कह कर समझाते हैं कि कठोर अस्थि-पदार्थ प्रतिरूप के कोमलास्थि पदार्थ को स्थानान्तरित कर देता
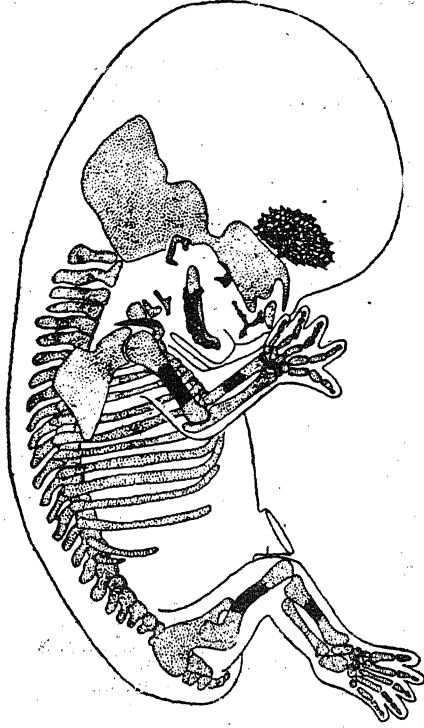
चित्र १९) दो मास आयु के गर्भपिण्ड का अस्थि-कंकाल, कोमलास्थि भाग हलके रंग तथा सच्ची अस्थियाँ काले में दिखलाई गई हैं। कपाल तथा चेहरे में तीन झिल्ली वाली अस्थियाँ है अन्य सब पहले कोमलास्थि पदार्थ में निर्मित होतीं हैं।

है, यह क्रियाविधि 'औस्सिफिकेशन' अर्थात् अस्थि-पुनर्स्थापन कहलाती है। प्रत्येक कोमलास्थि-प्रतिरूप में अस्थि-पुनर्स्थापन का यह कार्य प्रत्येक भाग के वयस्क आकार प्राप्त कर लेने तक निरन्तर चलता रहता है। वयस्क रूप प्राप्त होने के समय कोमलास्थि की आकार-वृद्धि बिल्कुल रुक जाती है तथा उस प्रतिरूप का अन्तिम कोमलास्थि-अंश भी वास्तविक स्थायी अस्थि-पदार्थ के द्वारा स्थानान्तरित कर दिया जाता है और इस प्रकार वयस्कावस्था में शरीर की सम्पूर्ण अस्थि की पुनर्स्थापना पूरी हो जाती है।

गम्भीर अध्ययन के द्वारा, विविध अवस्था के गर्भपिण्डीय तथा शिशु-शरीरों के सम्बन्ध में और स्त्री तथा पुरुष दोनों जातियों, की सापेक्षिक भिन्नता के सम्बन्ध में भी, 'औस्सिफिकेशन' अर्थात् अस्थि-पुनर्स्थापन की गति तथा उसका प्रवाह बड़ी सावधानी के साथ निश्चित और निर्धारित कर लिया गया है। दोनों लिंग-जातियों के शरीरों के सापेक्षिक विकास-अध्ययन के द्वारा यह निर्धारित हो गया है कि बालक की अपेक्षा बालिका के शरीर में अस्थि-पुनर्स्थापन का कार्य पहले प्रारम्भ होता तथा अधिक शीघ्र सम्पूरित हो जाता है। अस्थि-पुनर्स्थापन सम्बन्धी इस भेद के आधार पर ही यह सम्भव माना जाता है कि गर्भाशय के भीतर ही, 'ऐक्स-रे' चित्रों की सहायता से, गर्भस्थित शिशु लिंग-भेद बतलाया जा सकता है। जन्म के उपरान्त 'ऐक्स-रे' चित्रों द्वारा अस्थि-पुनर्स्थापन के परिमाण को मापकर, चिकित्सक यह पता लगा सकता है कि शिशु की आकार-वृद्धि व उसका शारीरिक विकास स्वाभाविक रूप से हो रहा है या नहीं।

कपाल और मुखाकृति की अस्थियाँ, जिनके प्रतिरूपों की रचना कोमलास्थि-पदार्थ में नहीं की जाती है, मस्तिष्क और त्वचा के मध्य-स्थित झिल्ली में सबसे पहले छोटे और पतले पत्तरों के रूप में प्रगट होती हैं, फिर इन प्राथमिक पत्तरों के किनारों पर नये अस्थि-पदार्थ को निरन्तर स्थापित करती हुई अपने आकार में वृद्धि करती रहती हैं। इस प्रकार निर्मित होने वाली अस्थियों की संख्या १७ है और ये सब मस्तिष्क तथा मुख के चारों ओर निर्मित होती हैं। यह अस्थियाँ पहले पहल अपनी आकार-वृद्धि करके परस्पर संयुक्त हो जाती हैं, तदनन्तर मस्तिष्क के निम्नभाग के कोमलास्थि पदार्थ में निर्मित प्रतिरूपों से सम्बद्ध होकर वयस्क कपाल का निर्माण पूरा करती हैं। कपाल की अस्थियों का संयोजन-कार्य जन्म के पूर्व सम्पूरित नहीं हो पाता है, इस कारण शिशु के मस्तिष्क के अनेक क्षेत्र बिना किसी अस्थि-आच्छादन के रह जाते हैं, साधारण और स्वाभाविक तौर पर पाए जाने वाले यह क्षेत्र ही अल्पावस्था में कपाल के कोमल-प्रदेश हैं। (चित्र—१३)। जन्म के दो वर्षों के भीतर ही यह कोमल प्रदेश अस्थि-आच्छादन के द्वारा लगभग पूरी तरह ढाँक दिये जाते हैं, यद्यपि कपाल की अस्थियाँ मस्तक के वयस्क रूप प्राप्त कर लेने तक पूरी तरह परस्पर संयुक्त नहीं हो पाती हैं।

उपर्युक्त वर्णन गर्भपिण्ड की रूपरेखा निर्धारित करने वाली अस्थियाँ और माँसपेशियों के विकास के लिये शरीर के भीतर घटने वाले परिवर्त्तनों से सम्बन्धित था। विकास की इसी अवधि में गर्भपिण्ड के आन्तरिक अंगों में भी परिवर्त्तनों का क्रम धारा-प्रवाहित हुआ है। कण्ठ प्रदेश के धरातल से अनेक उभड़नें जन्म लेती हैं
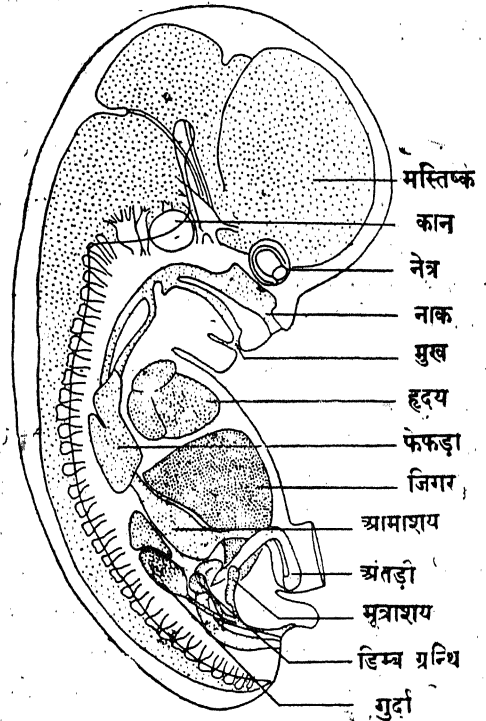
(चित्र १७) दो मास आयु के स्त्रीलिंगी गर्भपिण्ड के भीतरी अंग। गर्भ-नाल के भीतर अंतड़ियों की उभड़न को देखिये।

और अन्त में यह उभड़नें परस्पर संयुक्त होकर जिह्वा का आकार ग्रहण कर लेती हैं, यह जिह्वा मुंह के भीतर आगे की ओर धकेल दी जाती है। जिह्वा की रचना के उपरान्त शीघ्र ही तालू भी प्रगट हो जाता है यह वह प्रदेश है जो कि मुंह की भीतरी छत तथा गन्धेन्द्रियों का तला बनाता

है। अल्पायु के प्राथमिक मुख की दीवालों से दो उभड़नों का जन्म हो जाता है। तथा ये उभड़नें आकार-वृद्धि करके, केन्द्रस्थल में पारस्परिक संयोजन के तालू की रचना करती हैं। इस संयोजन-कार्य के पूर्ण न होने पर, मुख-प्रदेश के भीतर ऊपर की ओर कभी कभी खण्डित तालू दृष्टिगोचर होता है (चित्र—३६ ब) यह अधिकतर पाया गया है कि खण्डित तालू वाले व्यक्ति के ओष्ठ भी खण्डित होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गर्भपिण्ड की मुखाकृति के निर्माण-काल में कुछ अस्वाभाविक और विपरीत परिस्थितियाँ गर्भ पर अपना प्रभाव डालती हैं और इसके फलस्वरूप रूपपरिवर्त्तनों के निश्चायक पदार्थों के स्थानान्तरित होने में और उनके संयोजन में अवरोध व विलम्ब हो जाता है, इसी कारण शरीर के विविध अंगों में भिन्न भिन्न अंशों के आकार-दोष प्रगट हो जाते हैं। इस प्रकार पैदा हुए आकार-दोषों के उदाहरणों में अधिकतर खण्डित तालू और खण्डित ओष्ठ ही देखे और पाए गए हैं।

पाचक-नली के विविध अंग भी इस विकास-काल में अपने वयस्क रूप को पाने के लिये तथा निज कार्य में अधिक दक्ष होने के हेतु, अपनी आकार-वृद्धि निरन्तर करते रहते हैं; यह वह अंग हैं जो कि पहले मास में विकसित हुए थे और अब तक अपने आकार और रूप में इतने सुनिर्मित हो गये हैं कि अब इनको प्राथमिक अँतड़ी अर्थात 'गट' कहना अनुचित होगा। यकृत का विकास और उसकी आकार-वृद्धि इतने वेग से होती है कि दूसरे मास की समाप्ति तक यह अंग सारे गर्भपिण्डीय शरीर के तत्कालीन घनत्व का दसवां भाग बन जाता है। गर्भावस्था का दूसरा मास पाचन-संस्थान के विकास के सम्बन्ध में निस्सन्देह यकृत युग कहा जा सकता है, क्योंकि पाचक-संस्थान का यह अतिकोमल-अंग, यकृत अपनी सापेक्षिक आकार-विशालता के कारण उदर-प्रदेश का एक बहुत बड़ा भाग इस समय घेर लेता है। इस समय यकृत की इस वेगशील विकास गति के कारण उदर-प्रदेश में दूसरे अंगों के लिए इतना कम स्थान रह जाता है कि आँतें स्थानाभाव के कारण उदर-प्रदेश के बाहर गर्भनाल के भीतर धँस जाती हैं (चित्र—१७) सौभाग्य से यह अवस्था अल्पकालीन ही होती है, क्योंकि गर्भावस्था के अगले मासों में उदर-प्रदेश की आकार-वृद्धि यकृत की विकास-गति की अपेक्षा अधिक वेग से होती है और इस—कारण आँतें उदर-प्रदेश में फिर वापस हो जाती हैं। कभी कभी यह कार्य नहीं हो पाता है, तब नवजात शिशु के शरीर में आँतें नाभि प्रदेश के ऊपर ही उभड़ी रह जाती हैं और उस समय यह अस्वाभाविक तथा अनियमित अवस्था 'गर्भनाल का हर्निया' अर्थात गर्भनाल के भीतर आँतों का अवतरण कहलाती है।

नवप्रतिष्ठित, यह यकृत गर्भावस्था के दूसरे मास के समाप्त होने से पूर्व ही अपना विशेष कार्य—पित्त-स्रावण भी प्रारम्भ कर देता है और अब इसका यह कार्य जीवन-पर्यन्त निरन्तर संचालित होता रहेगा (पित्त पीले रंग का वह कषैला पदार्थ है जो आँतों के भीतर पहुँच कर चर्बी की रचना में सहायता देता है)। इस समय थोड़ी मात्रा में स्रवित यह रस-पित्त आँतों के ही भीतर एकत्रित होता रहता है, क्योंकि गर्भपिण्ड इस अवस्था में भोजन तो करता नहीं है। इस कारण इस का उपयोग कुछ नहीं होता। इसी आयु में आँतों का अंगुली के आकार वाला भाग आन्त्रपुच्छ 'ऐपेण्डिक्स' भी प्रगट हो जाता है। पाचक-संस्थान सम्बन्धी इस विकास तथा इन परिवर्त्तनों के समकाल ही, कोष्ठसमूहों की एक आड़ी चादर के उत्पन्न हो जाने के कारण उदरप्रदेश तथा वक्षप्रदेश एक दूसरे से पृथक विभाजित हो जाते हैं। यह नवनिर्मित आकार 'डायफ्राम' कहलाता है जो कि शरीर के धड़ में ऊपरी भाग—वक्षप्रदेश तथा निचले भाग—उदर-प्रदेश के मध्य एक विभाजक के रूप में होता है।

गर्भावस्था में दूसरे मास की सबसे महत्वपूर्ण व अद्भुत घटना जननांगों का विकास है। नूतन जीव के लिंग-भेद की परख के लिये गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में केवल एक विधि ही प्रयोजनीय है, वह विधि अनुमानित लिंग-निश्चायक 'क्रोमोसोमों' की पहचान है, पर वह बड़ा कठिन तथा सन्देहपूर्ण प्रयास है। परन्तु गर्भावस्था के दूसरे मास के अन्त तक गर्भपिण्ड के आंतरिक अंगों में तो लिंग-भेद प्रगट हो ही जाता है, इसके साथ ही बाह्य जननांगों के विकास में भी लिंग-भेद अधिकतर इंगित किया जा सकता है। यह विलक्षणता पाई गई है कि इस काल के पूर्व, प्रजनन-संस्थान से सम्बन्धित सब रूप-परिवर्त्तन लिंग-जाति के निर्धारण करने की ओर से उदासीन ही रहते

हैं अर्थात् दोनों लिंग जातियों, नर और मादा गर्भपिण्डों में, प्रारम्भ में विकसित जननांग एक समान ही होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि प्रकृति गर्भपिण्डीय शरीर के भीतर प्रारम्भ में मनुष्य की दोनों लिंग जातियों के जननांगों की स्थापना करती है, फिर इनमें से एक को प्रमुख बना देती है जिसके कारण विपरीत जाति के अंग स्वयं प्रलुप्त हो जाते हैं और अन्त में प्रारम्भ का वह उदासीन गर्भपिण्ड स्पष्ट रूप से नर अथवा मादा रूप ग्रहण कर लेता है।

प्रजनन-संस्थान का यह लिंगभेद-निर्णायक विकास तथा प्रारम्भ का वह उभयलिंगी रूप अनेक महत्वपूर्ण तथा पेचीली समस्याओं को प्रस्तुत कर देता है—स्पष्ट और पूर्णविकसित जननांगों की तथा उनके कार्य-संचालन की प्रमुख स्थिति के प्रभाव में अपनी अविकसित विपरीत लिंगजातीय प्रकृति को गौण बनाकर छिपाये हुए, क्या प्रत्येक व्यक्ति उभयलिंग होता है ? गर्भविकास के दूसरे मास में, नर तथा मादा दोनों प्रकार की निश्चायक प्रकृति के आकारों के स्पष्ट प्रतिरूप, क्या गर्भपिण्ड के शरीर में अपरिवर्त्तनशील रूप में प्रतिचिन्हित होते हैं अथवा यह प्रतिरूप, पेचीले प्रजनन-विकास में, नर तथा मादा के निश्चायक प्रकृति के एकाकी रूप अथवा दोनों परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं ?

मनुष्य तथा अन्य पशुओं के लिंग-नियामक विकास के अध्ययन की सहायता से अनेक असंयत तथ्य एकत्रित कर लिए गए हैं जो कि उपर्युक्त समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं—'क्रोमोसोम' परीक्षा-विधि के आधार पर नर तथा मादा निर्धारित किये गए जुड़वां बछड़े गाय के गर्भाशय में कभी कभी इतना समीप आकार-वृद्धि करते हैं कि दोनों गर्भपिण्डों की गर्भझिल्लियाँ परस्पर सम्बद्ध हो जाती हैं तथा इस अवस्था में एक गर्भपिण्ड का रक्त दूसरे में स्वतंत्र रूप से प्रवाहित होने लगता है। पहले की अवस्था का मादा बछड़ा, इस नूतन परिस्थिति के फलस्व-रूप अर्द्ध पुलिंगी प्रकृति के साथ अपनी आकार-वृद्धि आरम्भ कर देता है तथा अब उसके शरीर में डिम्बग्रन्थि तथा डिम्ब प्रणालियों के स्थान पर शुक्रग्रन्थि और शुक्रप्रणालियाँ दृष्टिगोचर हो निकलती हैं। इस परिस्थिति की यह सन्तान स्पष्ट रूप से नर अथवा मादा नहीं होती है, वरन् दोनों लिंगजातियों की अर्द्धविकसित प्रकृतियों और गुणों का सम्मिश्रण लिये रहती है और इसी कारण नपुंसक अथवा हिजड़ा कहलाती है। इस दृष्टान्त के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि मादा गर्भपिण्ड की डिम्बग्रन्थियों के विकसित होने के पूर्व ही नर गर्भपिण्ड की शुक्रग्रन्थियाँ विकसित हो जाती हैं और यह शुक्रग्रन्थियाँ अपना रस-स्रावण प्रारम्भ कर देती हैं (यह स्रवित रस अब प्रजनन सम्बन्धी पदार्थ 'होर्मोन' कहलाते हैं) दोनों गर्भपिण्डों के मध्य रक्त के पारस्परिक आदान-प्रदान होने की परिस्थिति में शुक्रग्रन्थि का यह रस मादा जुड़वां शिशु में पहुँच जाता है और अपने प्रभाव से स्त्रीलिंग-निश्चायक विकास को धीमा करके उस शिशु की सुप्त पुलिंगी प्रकृति को जाग्रत करके प्रोत्साहित कर देता है।

आश्चर्य की बात इस दृष्टान्त में यह है कि दूसरी ओर नर बछड़े में उपर्युक्त परिवर्त्तन के समान कोई परिवर्त्तन होता नहीं पाया गया अर्थात् इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला है कि जुड़वां नर बछड़े के गर्भपिण्डीय शरीर में स्त्रीलिंग-प्रकृति प्रमुख स्थिति ग्रहण कर लेती है। प्रयोग-दर्शनों की सहायता से केवल इतना अवश्य देखा जा सका है कि विकासश्रेणी की निम्नजाति के पशुओं में प्रारम्भ की निश्चित पुलिंग-ग्रन्थि परिस्थितिवश डिम्बग्रन्थि के समान आकार में परिवर्तित हो जाती है और ऐसा परिवर्त्तन कराया भी जा सकता है।

इसका कोई प्रमाण सामने नहीं है कि उपर्युक्त विपरीत लिंगजातीय रूपपरिवर्त्तन मानवजाति के विकास में घट सकें; हाँ! इतना अवश्य ज्ञात है कि कुछ व्यक्तियों में निश्चित लिंगजातीय गुणों के विकास के समय ही विपरीत जाति के कुछ गुण भी विकसित हो सकते हैं। इस प्रकार के उदाहरणों से यह इंगित किया जाता है कि मानवजाति के विकास में भी विविध अंशों की प्रजनन-संस्थान सम्बन्धी विकास-स्थिति होती है; तथा यह भी कहा जा सकता है कि प्राकृतिक रूप से पूर्ण विकसित नारी तथा पुरुष में विविध अंशों की अन्तर्लिंग जातीय स्थिति हो सकती है। इन तथ्यों से उस सिद्धान्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है जिसके अन्तर्गत नूतनजीव का लिंगजाति-निर्धारण शुक्रकीट के 'क्रोमोसोम'-पदार्थ के द्वारा गर्भाधान के समय ही होता

है। स्वाभाविक तथा नियमित परिस्थितियों में यही सिद्धान्त प्रयुक्त होता है; पर यह भी सत्य है कि गर्भपिण्डीय शरीर के भीतर अथवा उसके ऊपर प्रभाव डालने वाली अस्वाभाविक परिस्थितियाँ शिशु के जनन-विकास की दिशा और सीमा भी प्रभावित कर सकती है।

गर्भावस्था के दूसरे मास में गर्भपिण्ड के प्रजनन-संस्थान का विकास शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाता है। सबसे पहले, गुर्दे के मध्यकालीन आकार के धरातल के ऊपर पतली और लम्बी एक उभड़न पैदा हो जाती है—यहीं प्रजनन संस्थान की प्रारम्भिक उभड़न है। इस उभड़न के भीतरी कोष्ठसमूह, 'गौनेड' अर्थात् लम्बे आकर की प्राथमिक प्रजनन-ग्रन्थि का निर्माण करते हैं, प्रारम्भ में दोनों लिंग-जातियों के गर्भपिण्डों में इस ग्रन्थि का आकार एक समान होता है। गर्भावस्था के सातवें सप्ताह में इस ग्रन्थि के भीतरी भागों में कुछ अतिसूक्ष्म आकार-परिवर्त्तन उत्पन्न हो जाते हैं, इनको अनुवीक्षणीय यंत्र की सहायता से जांच कर गर्भपिण्ड का लिंग-भेद बतलाया जा सकता है। प्राथमिक प्रजनन-ग्रन्थि के धरातल पर पैदा होकर, कुछ कोष्ठों की दण्डनलिकाएँ ग्रन्थि-शरीर के भीतर की ओर बढ़ती हैं। (यह प्रजनन-दण्ड कहलाती हैं) गर्भपिण्ड के शरीर में यह दण्ड ही शुक्रग्रन्थियों के घुण्डियोंनुमा प्रारम्भिक आकार बन जाते हैं; पर मादा गर्भपिण्ड में उत्पत्ति के उपरान्त फिर इन दण्डों का विकास रोक दिया जाता है—इस कारण यह अनुमान किया जाता है कि यह प्राथमिक प्रजनन-दण्ड केवल पुरुष के प्रजनन-संस्थान से सम्बन्धित होते हैं। मादा गर्भपिण्ड में प्रजनन-ग्रन्थि के धरातल के ऊपर फिर एक नया कोष्ठोत्पादक कार्य प्रारम्भ हो जाता है। कोष्ठों के उत्पादन के इस दूसरे प्रयास ही के परिणाम मादा के रजाण्डीय कोष्ठ तथा उनके सहकारी और रक्षक कोष्ठ हैं। इस विकास के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रत्येक गर्भपिण्डीय डिम्ब-ग्रन्थि के मध्य एक अविकसित शुक्र-ग्रन्थि पड़ी रहती है।

आन्तरिक जननांगों के विकास के समकाल ही, प्रजनन संस्थान सम्बन्धी बाह्य लिंग-भेद व भिन्न आकार प्रगट हो जाते हैं। गर्भावस्था के छठवें सप्ताह में, लिंग-भेद-हीन गर्भपिण्डीय शरीर के निचले सिरे पर पूंछ के ठीक सामने छोटी और नुकीली एक गाँठ पैदा हो जाती है। यह गांठ ही गर्भपिण्ड में, पुरुष के शिश्न अथवा लिंग तथा स्त्री के 'क्लाइटोरिस' अर्थात् भगनासा का पूर्व रूप है, यह प्रजनन-घुण्डी दोनों लिंगजातियों के गर्भपिण्डीय शरीरों में इस समय एक समान आकार की होती है। इस घुण्डी के निचली ओर एक दरार पैदा हो जाती है जो कि 'यूरैथूल ग्रूव' अर्थात् प्रजनन-दरार कहलाती है। इस दरार के ओष्ठ परस्पर संयुक्त होना प्रारम्भ कर देते हैं और कुछ काल के उपरान्त यह दरार एक बन्द नली का आकार ग्रहण कर लेती है। तदनन्तर प्रजनन-घुण्डी के दोनों
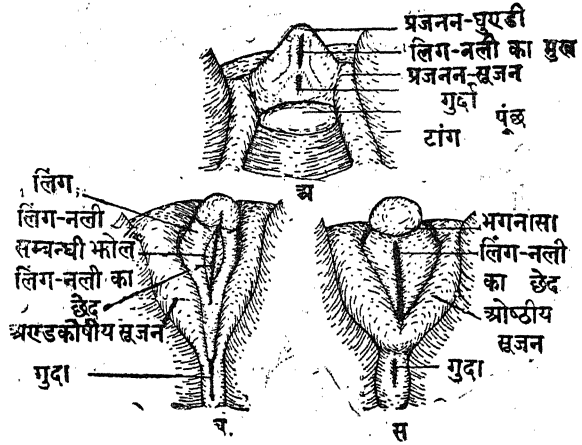
(चित्र १८) टाँग व पूंछ काट कर, नीचे से दिखलाए गए, दो मासीय गर्भपिण्डों के बाह्य प्रजनन-अंग।

अ—सातवाँ सप्ताह (१७ मिली मीटर) —उदासीन प्रजनन-काल जिसमें प्रजनन-घुण्डी प्रजनन-सूजनों में कोई भेद नहीं।

ब—दो मास का अन्त (४५ मिली मीटर) —लिंगभेदी करण के प्रारम्भ होने पर एक पुल्लिंगी गर्भपिण्ड। लिंग की लम्बाई और लिंग-नली के निरूपण को देखिये।

स—तीसरे मास का प्रारम्भ अथवा दूसरे का अन्त (४९ मिली मीटर)—स्त्री लिंगी गर्भपिण्ड, लिंग-नली की लम्बाई तथा घुण्डीनुमा भगनास का निरूपण देखिये।

और दो गोल सूजन उभड़ आती हैं जिनको 'लेबियो-स्क्रोटल स्वेलिंग्स' अर्थात् ओष्ठ-अण्डकोषीय सूजन कहते हैं, क्योंकि पुरुष में यही आकार अण्डकोषों की थैली तथा स्त्री में योनि की बाहिरी ओष्ठों की रचना करते हैं। अल्पावस्था के इस गर्भपिण्ड के इन बाह्य जननांगों के अध्ययन के द्वारा, कोई विशेषज्ञ गर्भपिण्ड की लिंग-जाति लगभग ठीक ठीक निर्धारित कर सकता है। यह प्रजनन-शुण्डी मादा की अपेक्षा नर गर्भपिण्ड के शरीर में अधिक लम्बी और सीधी होती है तथा उसके सिरे पर एक मुण्ड होता है (नर गर्भपिण्ड की जनन-शुण्डी के सिर पर यह सूजी हुई गांठ ही शिश्न-मुण्ड का पूर्वरूप है।) नर गर्भपिण्ड में 'यूरैथ्रल ग्रूव' अर्थात् जनन-दरार अधिक लम्बी तथा अण्डकोष की सूजन भी अधिक विशाल आकार की होती हैं (चित्र—१८ बी)। व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि समान आयु के मादा गर्भपिण्ड की अपेक्षा, नर गर्भपिण्ड के शरीर की प्रत्येक वस्तु सापेक्षिक तौर पर अधिक विकसित हो जाती है। विकास-गति में इस भेद के कारण, साधारण व स्वाभाविक प्रकृति के नर गर्भपिण्डों की पहचान तो जांच द्वारा की जा सकती है; परन्तु दूसरी ओर कम विकसित तथा अपरिपक्व नर गर्भपिण्ड, इसी भेद के अध्ययन के आधार पर, गलती से मादा भी समझे जा सकते हैं।

इस प्रजनन-विकास के साथ साथ ही दोनों लिंग-जातियों के गर्भपिण्डों में दूसरे मास के अन्त तक दुग्ध-ग्रन्थियां भी अपनी रचना प्रारम्भ कर देती हैं। सारे शरीर की दीवाल के सहारे, बांह के समतल से टांगों तक, दुग्ध-ग्रन्थियों की एक माला के विकास की सम्भावना सदा बनी रहती है, परन्तु नियमानुसार दुग्ध-ग्रन्थियों का एक युग्म ही, बाद के समतल के कुछ नीचे, अपना विकास प्रारम्भ करता है। कभी कभी अन्य दुग्ध-ग्रन्थियाँ भी इस सच्चे युग्म के पीछे की ओर प्रगट हो जाती हैं।

इस प्रकार शिशु के गर्भ-जीवन का दूसरा मास समाप्त होता है और इस समय मनुष्य की समरूपता की छाप स्पष्टतः गर्भपिण्ड पर पड़ चुकी होती है। गर्भपिण्ड की मुखाकृति चाहे हमारे विकसित रूप की अपेक्षा वृहत् आकार की ही हो, परन्तु स्पष्ट रूप से मनुष्य की मुखाकृति के समान होती है। अस्थियों तथा मांसपेशियों ने, दो मास के इस गर्भपिण्डीय शरीर को सुघड़ तथा सुन्दर आकार के साथ ही, हिलने डुलने की योग्यता भी दे दी है। लिंग जाति का भेद बतलाने वाली प्रकृतियां तथा गुण प्रगट हो चुके हैं और इस आयु के गर्भपिण्ड की लिंग-जाति का निश्चय भी किया जा सकता है। शरीर के सब आन्तरिक अंग समुचित रूप से स्थापित हो चुके हैं। अब गर्भावस्था के बाकी सात मासों में इस शरीर में वह परिवर्त्तन ही घटित होंगे जिनकी सहायता से प्रत्येक अंग के भीतर विस्तृत विकास तथा आकार-वृद्धि हो।

दो मास की आयु के गर्भपिण्डीय शरीर के द्वारा मानव के मूल-रूप का वास्तव में इतना उचित और सम्पूरित प्रदर्शन होता है कि जीव विशेषज्ञ गर्भस्थ शिशु की इस आयु को ही, मनुष्य-जीवन की विविध अवस्थाओं में सबसे प्रथम और प्रारम्भिक गर्भपिण्डीय अवस्था का अन्तकाल मानते हैं। मनुष्य के नियमित जीवन में स्वाभाविक तौर पर पांच स्पष्ट खण्ड होते हैं। प्रत्येक मनुष्य क्रमानुसार गर्भपिण्ड, भ्रूण, शिशु, कुमार तथा वयस्क बनता है। गर्भस्थ जीवन के दूसरे मास की समाप्ति पर प्रथम जीवन-खण्ड अर्थात् गर्भपिण्डीय रूप पूरा हो जाता है। इस आयु को प्राप्त कर लेने के उपरान्त यह नूतन जीव अब भ्रूण कहलायेगा।

पांचवां मास

रोम, नाखून तथा त्वचा

मानव शरीर एक पहेली है, वह एक है और अनेक भी, विभाजन के अयोग्य है और साथ ही गूढ़ और पेचीला भी है। मनुष्य का शरीर अलग अलग ऐसे सैकड़ों भागों के संयोजन से बनता है जो निरन्तर नष्ट होते रहते हैं और साथ ही साथ पुनर्निर्मित भी होते रहते हैं; इन सब पेचीले परिवर्त्तनों के होते हुए भी मनुष्य अपने शरीर में एक रहस्य-

पूर्ण तथा स्पष्ट प्रकृति को स्थायी बनाए रखता है जिस प्रकृति को मनुष्य का व्यक्तित्व कहा जाता है। चारों ओर से घिरे हुए स्थान—मानव-शरीर—में होकर प्राणहीन पदार्थों की एक धारा निरन्तर बहती रहती है, यह पदार्थ शरीर में क्षण भर के लिये जीवन प्राप्त करके फिर बाहरी संसार में निकाल दिये जाते हैं, परन्तु मनुष्य शरीर का वह अविच्छिन्न धारा-प्रवाह, जो उसका जीवन कहलाता है, गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक अखण्डित और स्थायी बना रहता है।

मानव शरीर की तुलना एक सहकारी संस्था से की जाती है, जिसके सदस्य अपनी सुरक्षा के हेतु बाह्य संसार के समक्ष संयुक्त मोर्चा बनाते हैं तथा शरीर के भीतर आन्तरिक व्यवस्था सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्वों और स्वत्वों में समान रूप से सहयोग देकर पारस्परिक सहायता के हेतु सम्बद्ध रहते हैं। कार्य-विभाजन, विशिष्टीकरण अथवा विशेष कार्यदक्षता, तथा उत्पादन का आदान-प्रदान यह सब कार्य कोष्ठों और अंगों के इस मानव शरीर रूपी समाज में भी उतने ही महत्वपूर्ण तथा आवश्यक हैं जितने कि मनुष्य के समाज में। शरीर के कुछ अंग भोजन-पदार्थों को रूपान्तरित करने के कार्य में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं जिससे कि ये पदार्थ जीव-कोष्ठों के काम में आ सकें—ये अंग पाचक-अंग कहलाते हैं। मानव-शरीर में संचरित द्रव पदार्थ एक विशाल यातायात-संस्थान की स्थापना करते हैं। इस यातायात-संस्थान का नियंत्रण स्नायु-नाड़ियाँ करती हैं। मस्तिष्क पदार्थों के आदान-प्रदान तथा अन्य सब क्रियाओं का नियंत्रण-केन्द्र है, मस्तिष्क के द्वारा ही निकट तथा दूर स्थित प्रदेशों में होने वाली क्रियाएँ सम-सम्बन्धित तथा नियंत्रित की जाती हैं। 'ऐण्डोक्रीन' ग्रन्थियां, जो कि होर्मोन अर्थात् जीवन-रस का स्रवण करती हैं, कार्य-संचालिका कही जा सकती हैं क्योंकि इन्हींके रस-स्रावणों द्वारा शरीर के अनेक कार्यों की गति तथा निश्चलता नियंत्रित और निर्धारित की जाती है। अलग अलग विशेष कार्यों में दक्ष सब अंगों के ऊपर शरीर की त्वचा पड़ी रहती है—शरीर की त्वचा ही अंगों के समाज की रक्षक, शक्ति-संवर्धक तथा निरीक्षक है।

आन्तरिक अंगों की सुसंयत संस्थापना के उपरान्त शरीर की त्वचा तथा उसके उत्पादित आकार अपने रूप को पाने के लिये वेग से आकार-वृद्धि करते हैं। त्वचा का धरातल निर्जीव तथा शुष्क कोष्ठों से ढँक जाता है और इस प्रकार यह धरातल भ्रूणीय शरीर के निर्बल और कोमल कोष्ठों तथा बाहिरी वातावरण व परिस्थितियों के बीच सुरक्षा का एक व्यवधान स्थापित कर देता है। बाहिरी जीवन के समान ही, गर्भस्थित जीवन में भी शरीर की त्वचा के बाहिरी निर्जीव कोष्ठ नीचे उगते हुए नूतन कोष्ठों के द्वारा स्थानान्तरित हो कर हटाए जाते रहते हैं। शरीर-त्वचा के विशेष कोष्ठ-समुदायों के नीचे अधिक रक्त वाले कोष्ठ स्थित होते हैं, और उनके भीतर की ओर से स्वेद-ग्रन्थियों की रचना का प्रारम्भ, बढ़ते हुए नूतन आकारों के रूप में, हो जाता है। इन स्वेद-ग्रन्थियों का मुख-छिद्र गर्भावस्था में त्वचा के धरातल के ऊपर सातवें मास तक नहीं दिखलाई पड़ता है। ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि प्रसव से पूर्व गर्भस्थित जीवन में स्वेद-ग्रन्थियों का कोई कार्य ही न होता हो क्योंकि स्वेद-स्रवण का मुख्य सहयोग शरीर के तापक्रम को प्रकृति के अनुरूप समस्थिति में सन्तुलित रखना ही है, और यह कार्य ऐसा है जो कि गर्भ में भ्रूण के लिये माता के शरीर के द्वारा समुचित रूप में योग्यता पूर्वक सम्पादित कर दिया जाता है।

स्वेद-ग्रन्थियों के समान ही, त्वचा में रोम-मूलों के ठीक नीचे तैल-ग्रन्थियां निर्मित हो जाती हैं। गर्भावस्था के पांचवें मास में यह ग्रन्थियां चर्बीदार एक पदार्थ का स्रावण करके रोम-मूलों के द्वारा उसको त्वचा के ऊपर उँड़ेल देती हैं जहाँ पर छीले हुए निर्जीव कोष्ठों तथा इस स्रवित पदार्थ के मिश्रित हो जाने से एक चिपचिपा पदार्थ पैदा हो जाता है जो कि इस नूतन शरीर को चारों ओर से ढँक देता है। 'वर्निक्स केसियोसा' नामक यह चिपचिपा पदार्थ, भ्रूणीय शरीर के चारों ओर, अम्नियातिक द्रव की प्रतिक्रिया के विरुद्ध, भ्रूण के लिये रक्षक-चादर के समान कार्य करता है, क्योंकि अम्नियातिक द्रव में भ्रूण के द्वारा निसृत मूत्र के साथ साथ कुछ रसायनिक पदार्थ भी संग्रहीत होते हैं जिनका प्रभाव भ्रूण के कोमल शरीर के विरुद्ध हानिकारक हो सकता है और यह रसायनिक पदार्थ

भ्रूण के सम्पर्क में आकर उसकी कोमल त्वचा को खुरच अथवा मसल भी सकते हैं— उपर्युक्त कथन अनुमान के आधार पर ही है।

शरीर-त्वचा के आकार भी इसी मास में विशेष विकास करते हैं। कपाल के ऊपर महीन और कोमल केश साधारणतः विस्तृत रूप से इस समय उपस्थित हो जाते हैं। अंगुलियों और अँगूठों पर नाखून उत्पन्न हो जाते हैं। यह बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक अँगुली तथा अँगूठे के सिरों के निकट, तीसरे मास के अन्तिम दिनों में, त्वचा की अर्धचन्द्राकार सिकुड़नें उत्पन्न हो गई थीं (चित्र—१५)। इन सिकुड़नों के नीचे त्वचा के भीतर, पांचवें मास में, सच्चे नाखून निर्मित होकर अंगुलियों तथा अँगूठों के सिरों के बाहर की ओर आकार-वृद्धि करते हैं। ये नाखून अँगुली अथवा अँगूठे के सिरे तक अधिकतर आठवें मास में पहुँच जाते हैं और जन्म के समय बाहर दृष्टिगोचर हो जाते हैं। परिपक्व नाखून के समान ही, भ्रूण के ये नवनिर्मित नाखून कोष्ठों को पतली, पर कठोर तह—'क्यूटिकिल' से ढँके रहते हैं। अधिकतर जन्म के पूर्व ही नाखूनों पर की यह पतली चादर छील दी जाती है, कभी कभी नवजात शिशु में भी इस चादर के अवशेष दिखलाई पड़ते हैं। इसी अवस्था में अस्थायी प्रकृति वाले दुग्ध-दाँतों के विकासगत दन्त-बीजों में भी वृत्ताकार 'ऐनेमल' की टोपी और उसके नीचे स्थित अस्थि के समान रूप वाली 'दन्तीन' भी प्रथम बार निर्मित होती है।

अपनी प्रकृति के अनुरूप, आन्तरिक अंग अपने रूप और आकार का प्रदर्शन यद्यपि इस समय से पूर्व ही कर देते हैं, परन्तु इस मास में वह आन्तरिक अंग अपने आकार और अपनी सापेक्षिक स्थिति के सम्बन्ध में भ्रूणीय जीवन के प्रवाह के अन्तर्गत, विशेष रूपपरिवर्त्तन दिखलाते हैं। यदि गर्भपिण्डों और भ्रूणों के शरीरों का आकार-चित्रण एक ही ऊँचाई के अनुपात से किया जाय तो इन रूप-परिवर्त्तनों का चित्रीकरण सबसे उत्तम हो (चित्र—२७) इस प्रकार के चित्र-क्रम का सबसे अद्भुत प्रदर्शन शरीर-अक्ष का सीधा होने वाला प्रदर्शन है—गर्भपिण्डीय शरीर, दूसरे मास के प्रारम्भ में, अपने मस्तक के सन्निकट पूँछ को रखते हुए लगभग पूरा एक वृत्त बनाता है; फिर गर्भपिण्ड का मस्तक तीसरे मास की अवस्था में भली प्रकार उन्नत हो जाता है और गर्भपिण्ड का पृष्ठ-भाग कम वक्राकार कर देता है; फिर पाँचवें मास की आयु में गर्भ-पिण्ड का मस्तक नवनिर्मित कण्ठ प्रदेश पर सीधा सन्तुलित होता है, पर पृष्ठभाग अब भी थोड़ा वक्राकार है; और अन्त में जन्म के समय मस्तक पूरी तरह उन्नत तथा सीधा और पृष्ठ भाग भी लगभग पूरा सीधा हो जाता है। यथार्थ में पृष्ठ भाग, प्रसव के समय, उस अवस्था से अधिक सीधा होता है जो बाद में स्वाभाविक रूप से होगी क्योंकि शिशु के बैठना और चलना सीख लेने पर, उसके मेरुदण्ड में दूसरे गौण वक्र आकार प्रगट हो जायगे जो कि शिशु-शरीर को उसके सन्तुलन में सहायता देते हैं।

उपर्युक्त चित्र-क्रम का उचित अवलोकन यह स्पष्ट कर देगा कि अल्पायु के गर्भपिण्डीय शरीर के वक्राकार होने का
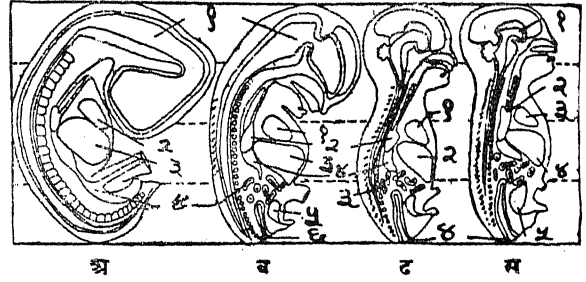
चित्र अ—१ मस्तिष्क २ हृदय ३ यकृत ४ अंतड़ी

चित्र ब—१ हृदय २ फेंफड़ा ३ यकृत ४ आमाशय ५ मूत्राशय ६ गुदा

चित्र द—१ हृदय २ यकृत ३ अंतड़ी ४ गुदा

चित्र स—१ मस्तिष्क २ फेंफड़ा ३ हृदय ४ यकृत ५ मूत्राशय

(चित्र २७) दो मास (अ); तीन मास (ब), पाँच मास (द) तथा नौ मास (स) की आयु के भ्रूणों के चित्र जिनको एक ही ऊंचाई पर लाकर दिखलाया गया है। शरीर के प्रमुख आन्तरिक अंगों को उनकी उचित समस्थिति तथा आकार में दिखलाया गया है।

कारण यह है कि उस अल्पावस्था में शरीर के अग्र भाग में मुख, कण्ठ, उदर प्रदेश तथा वस्ति प्रदेश अनुपस्थित होते हैं जब कि उस समय तक पृष्ठभाग में मेरु-दण्ड की स्थापना करने वाले सब (तैंतीस अथवा अधिक) अस्थि-खण्ड उत्पन्न हो चुके हैं; इसी कारण गर्भपिण्डीय शरीर उस अल्पावस्था में अवश्य ही वक्राकार होता है। तीसरे मास में मुखाकृति तथा वक्ष प्रदेश की दीवाल, और पाँचवें मास में कण्ठ, उदर तथा वस्ति प्रदेश की रचना हो चुकने पर भ्रूणीय शरीर परिस्थितिवश सीधा हो जाता है।

चित्रों के उपर्युक्त क्रम की दूसरी विलक्षणता मस्तक प्रदेश की प्रमुख स्थिति में कमी है जिसका कारण मस्तिष्क की कम होती हुई प्रमुखता है। दो मास आयु में मस्तक प्रदेश गर्भपिण्डीय शरीर की पूरी लम्बाई का लगभग आधा भाग घेर लेता है, तीसरे मास की अवस्था में इस लम्बाई का एक तिहाई से कम भाग, और अन्त में जन्म के समय यह मस्तक शिशु के शरीर की पूरी ऊँचाई का एक चौथाई भाग ही घेरता है। मस्तिष्क, यद्यपि अपने भीतरी आकारों में अधिक जटिल होता जाता है तथा आकार वृद्धि भी करता है, परन्तु शारीरिक विकास के अन्तर्गत वह स्थायी रूप से मनुष्य शरीर का कम प्रमुख होता हुआ भाग बन जाता है। मस्तिष्क की इस सापेक्षिक आकार-क्षीणता में पूरे मस्तक की प्रमुख स्थिति के गौण होते रहने का सहयोग भी होता है, परन्तु स्वयं मस्तक के आकार के भीतर, मस्तिष्क के आंतरिक भागों की अपेक्षा, मुखाकृति और विशेषकर जबड़ों का स्पष्टीकरण निरन्तर स्थायी रूप से होता रहता है।

गर्भपिण्ड के धड़ में पृष्ठ भाग तथा उदर भाग की अल्पायु वाली विषम अनुपातीय अवस्था के कारण एक बड़ी विलक्षण घटना घटती है। उस समय के अविकसित उदर प्रदेश के भीतर विकास प्राप्त करते हुए आन्तरिक अंग, बहुत कम स्थान होते हुए भी, अपनी पारस्परिक सापेक्षिक स्थिति को तो उचित रूप से ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु सुविकसित पृष्ठभाग के अभाव में शरीर के भीतर की अपनी स्वाभाविक स्थायी स्थिति से दूर ही स्थित होते हैं (चित्र—२७)। उस आयु वाले गर्भपिण्ड के शरीर में हृदय तथा फेफड़े उस प्रदेश में होते हैं जो कि भविष्य में कण्ठ का आकार प्राप्त करेगा, यकृत, आमाशय तथा गुर्दों के मध्यकालीन आकार, भविष्य में बनने वाले वक्ष प्रदेश के क्षेत्र में स्थित होते हैं तथा गर्भनाल भी भावी 'डायफ्राम' की समस्थिति में स्थित हैं ('डायफ्राम या वक्षोदर मध्यस्थ पेशी वह आकार है जो कि शरीर के धड़ में वक्ष तथा उदर प्रदेशों को अलग करता है) (चित्र—११)। उस अवस्था में उदर प्रदेश तथा वस्तिप्रदेश इतने छोटे आकार के होते हैं कि लगभग अस्तित्वहीन ही प्रतीत होते हैं; फिर जैसे जैसे उदर की दीवाल की रचना होती जाती हैं, वैसे वैसे यह सब अंग अपनी पारस्परिक सापेक्षिक स्थिति को बनाए हुए पृष्ठभाग के सम्बन्ध में निचली से निचली समस्थिति में आते जाते हैं।

इस प्रकार तीन मास की आयु में तो हृदय शरीर के वक्ष प्रदेश में ऊपर की ओर स्थित होता है, और अन्त में जन्म के समय वक्ष-प्रदेश के मध्य में आ जाता है। उधर यकृत तथा आमाशय वक्ष प्रदेश के बाहर खिसक आते हैं और भ्रूणीय जीवन के अन्तिम चार मास में आकार-वृद्धि करके शरीर के उदर-प्रदेश में पहुँच जाते हैं। आन्तरिक अंगों का अपनी स्थिति में—यह धीमा स्थानपरिवर्त्तन, जो कि 'डिसेन्ट आफ़ विसेरा' अर्थात् आन्तरिक अंगों का अवतरण कहलाता है—जन्म के समय तक सब ओर से पूरा नहीं होता है—दृष्टान्तस्वरूप-मूत्राशय तथा गर्भाशय अनेक वर्षों तक उदर से वस्तिप्रदेश में नहीं उतरते हैं। आन्तरिक अंगों के इस अवतरण को शुक्रग्रन्थियों के अवतरण से परिभ्रान्त करना नहीं चाहिए; शुक्रग्रन्थियों का अवतरण बिल्कुल अलग प्रकार का स्थान-परिवर्त्तन है और जन्म के कुछ पहले ही घटित होता है।

मानवशरीर के आन्तरिक अंगों का यह अवतरण, शरीर के भीतर विकास के अद्भुत लक्षणों को जन्म देता है। वक्षप्रदेश तथा उदर प्रदेश में स्थित हृदय और 'डायफ्राम' से सम्बन्ध स्थापित करने वाली स्नायु-नाड़ियाँ अपने केन्द्रीय स्नायु-संस्थान को दूर कण्ठ प्रदेश में ही छोड़ देती हैं तथा फिर वक्षप्रदेश के अन्य अंगों के बीच अपना मार्ग बनाकर अपने लक्ष्य तक पहुँचने के पहले एक फीट या इससे अधिक लम्बा मार्ग पार करती हैं। स्नायु-विकास के इस दुरुपयोग को इस प्रकार समझाया

जा सकता है कि स्नायुनाड़ी का प्रवेश उस समय हुआ था जब कि वह गर्भपिण्डीय शरीर के भावी कण्ठ प्रदेश में स्थित था और फिर स्नायुनाड़ी भी कालान्तर में डायफ्राम के वक्ष प्रदेश में अवतरण होने के समय उस के साथ ही साथ वक्षप्रदेश में खींच ली गई।

गर्भपिण्डीय अवस्था में तो हृदय तथा यकृत इतने प्रमुख आकार के होते हैं कि अन्य अंगों के लिए बहुत कम स्थान छोड़ते हैं, परन्तु भ्रूण के विकास तथा आंतों और मूत्राशय की आकार-वृद्धि के समय हृदय तथा यकृत शरीर के आन्तरिक प्रदेशों में सापेक्षिक रूप से कम स्थान लेते जाते हैं। मेरु-सुषुम्ना, जो गर्भपिण्ड में इतनी विशाल थी कि उस शरीर की चोटी से पूंछ तक फैली हुई थी, इस काल में अपनी आकार-वृद्धि इतनी धीरे-धीरे करती है कि पहले तो भ्रूणीय अवस्था में ही मेरु-दण्ड के निचले भाग से ऊपर खिसक आती है और अन्त में मेरु-सुषुम्ना शिशु-शरीर में उसके उदर-प्रदेश की समस्थिति तक ही पहुँचती है।

पांच मास की आयु वाला भ्रूण, अपनी झुर्रीदार त्वचा के साथ आधासेर भार का लगभग एक फीट लम्बा दुबला पतला जीव होता हैं। यदि इस आयु वाले भ्रूण का जन्म हो (अथवा शब्दार्थ में गर्भपात हो), तो नवजात शिशु कुछ मिनट ही जीवित रह पावेगा, यह केवल थोड़ी सी श्वासें ले सकता है और सम्भवतः वह क्रन्दन भी कर सके परन्तु शीघ्र ही वह शिशु जीवित रह सकने के अपने प्रयासों को त्यागकर निर्जीव हो जाता है। यह भ्रूण यद्यपि अपने हाथ-पैरों को भली प्रकार हिला डुला सकने योग्य होता है, परन्तु उन पेचीले गतिसंचालनों को, जो कि स्थायी श्वास निश्वासन के लिए आवश्यक हैं, बनाए रखने में वह असमर्थ प्रतीत होता है। इस आयु के भ्रूण में सम्भवतः मस्तिष्क स्नायु-सम्बन्धी व्यवस्था, तथा फेफड़ों आदि की कोई कार्य-संचालक योग्यता इतनी पूर्ण विकसित नहीं होती है, कि अकालप्रसव के शिशु को जीवित रख सके।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१ – विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक – ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम०.एस.सी०; ।=)

२—चुम्बक—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक – ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी० ; मू० ।।।=)

३—मनोरञ्जन रसायन—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—सूर्य सिद्धान्त—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८)। इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—वैज्ञानिकों परिमाण—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—समीकरण मीमांसा—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—निर्णायक (डिटमिनैंट्स) गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—वर्षा और वनस्पति—लोकप्रिय विवेचन – ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

११—विज्ञान का रजत जयन्ती अंक– विज्ञान परिषद् के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१२—व्यङ्ग-चित्रण—(कार्टून बनाने की विद्या) – ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम ए०; १७५ पृष्ठ, सैकड़ों चित्र, सजिल्द २)

१३—मिट्टी के बरतन—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले० प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द २) (अप्राप्य)

१४—वायुमंडल—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर, सजिल्द, २)

१५—लकड़ी पर पालिश – पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का ब्योरेवार वर्णन। ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन-भटनागर, एम० ए०, २१८ पृष्ठ, ३१ चित्र, सजिल्द; ५) (अप्राप्य)

१६—कलम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ४० चित्र; मालियों मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी, सजिल्द; २)

१७—जिल्दसाजी—इससे सभी जिल्दसाजी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० सजिल्द, २)

१८—तैरना—तैरना सीखने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है। ले०—डा० गोरखप्रसाद, मूल्य १)

१९—सरल विज्ञान सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़ों पौधों की अचरजभरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन-कथा तथा भरतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६) (अप्राप्य)

२०—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं—ले०—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२१—खाद्य और स्वास्थ्य—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२२—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, सजिल्द मूल्य ४)

२३—फल संरक्षण—फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली, शरबत अचार, चटनी सिरका, आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक – ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२४—शिशु पालन—लेखक-श्री मुरलीधर बौड़ाई। गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि का वैज्ञानिक विवेचन। मूल्य ४)

२५—मधुमक्खी पालन—द्वीतीय संस्करण। ले०—पंडित दयाराम जुगड़ान; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों या जन-साधारण को इस पुस्तक का अधिकाँश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, सजिल्द; ३)

२६—घरेलू डाक्टर—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी० घोष, एम० बी० बी० एस०, डी० टी० एम०, प्रोफेसर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच०, डी , एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी, बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। १५० चित्र, सजिल्द, ४)

२७—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—संपादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक-एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। मूल्य ३॥)

नवीन पुस्तकें

२८—फ़सल के शत्रु—लेखक श्री शंकर राव जोशी मू० ३॥)

२९—साँपों की दुनिया—ले० श्री रामेश वेदी मू० ४)

३०—पोर्सलीन उद्योग—ले० प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस मू० ।||)

३१—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ— मू० २)

३२—गर्भस्थ शिशु की कहानी—ले० मारग्रेट शी गिल्बट (अनु० प्रो० नरेन्द्र) मू० २॥)

हमारे यहाँ नीचे लिखी पुस्तकें भी मिलती हैं:—

१—साबुन-विज्ञान—विद्यार्थियों और व्यवसाइयों के लिये एक सरल और सुबोध पुस्तक, जिसमें साबुन तैयार करने की विभिन्न विधियाँ और नाना प्रकार के साबुन तैयार करने की रीतियाँ हैं, विवरण के साथ-साथ सैकड़ों के साथ-साथ अनुभूत और प्रमाणित नुसखेभी दिये गये हैं। लेखक-श्री श्याम नारायण कपूर बी० एस-सी, ए० एच० बी० टी० आई०, फेलो, आयल टेकनोलोजिस्ट एसोसिएशन आफ इंडिया

२—भारतीय वैज्ञानिक—१२ भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियाँ—ले०—श्री श्यामनारायण कपूर, सचित्र ३८० पृष्ठ, सजिल्द; मूल्य ३॥) अजिल्द ३)

३—वैक्युमब्रेक—ले०—श्री ओंकारनाथ शर्मा। यह पुस्तक रेलवे में काम करने वाले फिटरों, इंजन-ड्राइवरों, फोरमैनों और कैरेज एग्जामिनरों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। १६० पृष्ठ ३१ चित्र जिनमें कई रंगीन हैं, २)

Reg. No. 372

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उपसभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मंत्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ५) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश-शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ ७० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, विवरणों इत्यदि बिना मुल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम

सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद् बैंक रोड, इलाहाबाद

विज्ञान
सितंबर, १९५२
कन्या २००९
भाग ७५
संख्या ६
वार्षिक मूल्य
तीन रुपए
प्रति अंक
पाँच आने

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools,
Colleges and Libraries

विज्ञान के नियम

१—वार्षिक मूल्य ३) तथा प्रति अंक का ।=) है

२—प्रतिमास प्रथम सप्ताह में विज्ञान प्रकाशित होता है।

३—ग्राहक किसी भी मास से बनते हैं।

४—वार्षिक मूल्य सदा दो एक मास पूर्व अग्रिम भेजने से ।=) वी. पी. व्यय की बचत हो सकती है।

५—नमूने की प्रति माँगने पर या बिना मांगे भी ज्ञात पतों पर मुफ्त भेजी जाती है।

लेखकों से निवेदन

१—लेख किसी भी विषय के वैज्ञानिक पक्ष पर होना चाहिए।

२—लेख मनोरंजक और सुबोध होना चाहिए।

३—कागज पर एक ओर ही सुपाठ्य लिखना चाहिए।

४—चित्र सदा काली स्याही से बने होने चाहिए। हल्के या अन्यरंग में बने चित्रों का ब्लाक नहीं बन सकता।

५—लेख भेजने के दो मास पश्चात् भी न छपने पर स्मरण-पत्र अवश्य भेजें।

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य तीन रुपये, एक संख्या का मूल्य पाँच आने।

विज्ञान

विज्ञान परिषद, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५

भाग ७५ | कन्या २००६; सितंबर १९५२ | संख्या ६

प्रचार या निर्माण

विज्ञान के स्तंभों में जब-तब लेखकों, सभ्यों, पाठकों तथा अन्य हिन्दी प्रेमियों को उद्बोधन रूप में कुछ सम्पादकीय, विज्ञप्तियाँ आदि निकालनी पड़ती हैं। अतएव यह स्वभावतया ही मन में प्रश्न उठता है कि किन्हीं नवीन विषयों या प्राचीन वैज्ञानिक गुत्थियों के नवीन सुझाव आदि के संबंध में विवरणात्मक, व्याख्यात्मक अथवा बोधगम्य संक्षिप्त या विस्तृत परिचयात्मक निबंध ही सदा प्रकाशित क्यों नहीं होते रहते हैं? कुछ जानकारी बढ़ाने या नवीन विद्या सिखाने के साहित्य को प्रस्तुत करने के स्थान पर ये विज्ञापनात्मक निबंध, सम्पादकीय आदि गए दिन क्यों प्रकाशित हो पड़ते हैं अर्थात् वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण की जगह यह प्रचार-कार्य क्यों अंगीकार किया जाता है? हम भी कभी कभी इन्हीं दृष्टिकोणों से, अपने पाठकों की ही भाँति सोचते हैं किन्तु सोच-समझ कर भी हमें निर्माण या प्रचार में से कोई एक मार्ग ग्रहण करना पड़ता है।

नवीन-साहित्य निर्माण की आवश्यकता पर तो किसी को कुछ सन्देह करने का अवसर ही नहीं मिल सकता, परन्तु हम प्रचार पक्ष पर तनिक दृष्टिपात करना भी समीचीन समझते हैं। अभी पिछले महायुद्ध ही में हमने जर्मन राजनीतिज्ञ गोवेल्स का बड़ा नाम सुना था। जर्मनी ने जहाँ असि-चर्मभेदी टैंकें, भयानक तोपें, द्रुतगामी वायुयान, भयानक बमवर्षक ज़ेपलिन, महानाशकारी पनडुब्बे तथा अगणित सामरिक योद्धा अपनी युद्ध-शक्ति अजेय करने के लिए सुसज्जित कर रखे थे, वहाँ गोवेल्स पत्रों, रेडियो-संवादों तथा सभी सुलभ समाचार-प्रचारक साधनों को हस्तगत कर विश्व भर में अपनी अजेय सामरिक शक्ति तथा भारी विजय-श्री का ढोल पीटपीट कर कभी क्लान्त होता दिखाई नहीं पड़ता था। जर्मन-समर-नेताओं की रण-नीति या कुशलता के संबंध में हम कुछ तर्क-वितर्क करने नहीं बैठे हैं, हमारा तो इस प्रसंग के छेड़ने का यही अभिप्राय है कि अपनी भयानक अस्त्र शस्त्र तथा रणोन्मत्त योद्धाओं की तैयारी के साथ साथ भयानक प्रचार-कार्य का साधन भी प्रस्तुत रखना जर्मन नेताओं को अत्यावश्यक जान पड़ता था।

अपने दैनिक जीवन में भी हम प्रचार कार्य को आमरण सम्बंधित पाते हैं। जब नवजात शिशु का माता की कोख से भूमि पर अवतरण होता है और शिशु की श्वास क्रिया संचारित हो उठती है उसी समय माता, पिता, सगे

संबंधी सभी उत्फुल्लित हो उठते हैं। अपने आह्लाद को वे स्वयं अपने तक ही सीमित न रखकर बाह्य जगत में प्रचारित करने के लिए उद्विग्न हो उठते हैं। प्रचार कार्य के लिए उपयुक्त वाद्य उपकरणों के अभाव में घर की थाली ही लेकर वे घर भर में बजा आते हैं। अवसर मिलते ही द्वार पर बधाई बजने का उच्च स्वर सुनाई पड़ता है। मांगलिक गायन होता है। विवाह संस्कार के समय उच्च स्वर में वाद्य यंत्रों की तुमुल ध्वनि एवं मरण काल में 'रामनाम सत है' की ऊँची पुकार भी जीवन या मरण के प्रचार ही हैं।

इन कतिपय ज्वलंत उदाहरणों से हम प्रचार कार्य की महत्ता देखते हैं। विज्ञापनबाजी का बाजार में बहुत अधिक बोल बाला और दुरुपयोग भी हम अवश्य देखते हैं, अतएव इसका अनियंत्रित उपयोग ही समीचीन नहीं कहा जा सकेगा, फिर भी इस की भारी उपयोगिता को भूला नहीं जा सकता। जब कोई विशेष व्यक्ति किसी एक उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न होता है तो उसका ज्ञान हमें कभी कभी ही हो पाता है। उसकी जानकारी में समय भी लगता है और कुछ सीमित स्थलों के सीमित संख्या के लोग ही उस उद्देश्य की जानकारी कर पाते हैं, परन्तु वही कार्य जब कोई सामूहिक रूप धारण कर लेता है, अनेक लोग एक ही उद्देश्य लेकर उसकी पूर्ति में लग जाते हैं, अपने प्रयत्नों को वे एक सुव्यवस्थित सामूहिक रूप देने के लिए एक मंडली बना लेते हैं, उसके लिए कुछ सामूहिक ही रूप से धन, स्थान आदि का प्रबंध कर लेते हैं तो हम उसे संस्था का नाम दे देते हैं। इसके उचित नाम धाम, उद्देश्य आदि का प्रचार ढंग से होने लगता है। व्यक्तियों का लोप हो जाता है। परन्तु मानवता लुप्त नहीं होती। उसी प्रकार आंशिक सत्य रूप में कहा जा सकता है कि व्यक्ति मृत होते हैं, परन्तु सामूहिक प्रयत्न या उद्देश्य-साधन रूप में संस्थाओं का अंत नहीं होता। अर्थात एक सदुद्देश्य के पूर्ण करने की सामूहिक भावना हमें जीवित रूप में ही दिखाई पड़ सकती है। यह भले ही हो कि किसी विशेष मंडली या नाम-धाम वाली संस्था छिन्न भिन्न हो जाय परन्तु समाज में वह भावनाएँ काम करती ही रहती हैं जो कहीं किसी दूसरे रूप में मूर्त रूप धारण कर किसी विशेष संस्था का बीज-वपन करा सकती हैं। अतएव हम उसे एक सदुद्देश्य के पूर्ण करने के प्रयत्नों का एक शाश्वत रूप ही कह सकते हैं। इन कारणों से व्यक्तिगत प्रयत्नों की अपेक्षा सामूहिक प्रयत्न सदा ही अधिक ग्राह्य होने चाहिए। सामूहिक प्रयत्न या संस्था में ज्वार-भाटे की भाँति कार्य-तत्परता या शिथिलता की अवधि आगे पीछे आती दिखाई पड़ती है। शिथिलता का कोई काल चल रहा हो, उस समय कोई एक या अनेक कर्मठ कर्मी या कर्मियों का दल अपने उत्साह वेग से आता है और उस म्रियमाण संस्था में प्राण फूँक कर उसके उद्देश्यों को वेगपूर्ण आगे बढ़ाने का आयोजन कर जाता है। अतएव संस्था जीवित रहती है।

ऐसे अवसरों के उपस्थित करने के लिए संस्था के सदा प्रचार-कार्य में संलग्न रहने की आवश्यकता रहती है। मालूम नहीं प्रचार की सतत पुकार किस समय किस उदार वीर कर्मियों की मंडली के कर्ण-कुहर में जा पड़े और वे अतिकाल से उपेक्षित संस्था में प्राण-प्रतिष्ठापन के अपने उत्साह को अर्पित कर उसकी उद्देश्य-पूर्ति का कार्य बहुत आगे बढ़ा लेवें। क्या यह सम्भव है कि विज्ञान-प्रचार की राष्ट्र की अनिवार्य आवश्यकता को आपने भी अनुभूत किया हो और अपनी अभूतपूर्व शक्तियों से किसी भी नाम धाम वाली वैज्ञानिक संस्था को अपना सदुद्योग पूर्णतः अर्पित करने का संकल्प कर रहे हों? यदि ऐसा हो तो प्रचार की पुकार सद्यः फलदान करती दिखाई पड़ सकती है। यदि नहीं, तो भी हमें खिन्न होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि संस्थाएँ या सामूहिक प्रयत्न शाश्वत होते हैं। कर्मठ कर्मि-वर्ग ही नए नए आते रहते हैं, हमारे इन उद्योगों में ऐसे कर्मठ कर्मी कब आते हैं इसकी हम भविष्य में उत्कंठा पूर्वक प्रतीक्षा ही करते रहेंगे।

अंजीर का परागण

डा० ब्रह्मस्वरूप मेहरोत्रा

पुष्पों का परागण वनस्पति विज्ञान का एक विचित्र प्रसंग है। लेखक ने नयनाभिराम चित्र दे कर अंजीर के परागण का विशद वर्णन प्रस्तुत लेख में अंकित किया है।

बीज उत्पादन के लिए यह आवश्यक है कि परागकण परागाशयों (anthers) से कुक्षि (Stigma) तक स्थानान्तरित हों। परागकणों के इस स्थानान्तरण को परागसंक्रमण या परागण (Pollination) कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—प्रथम स्वयं-परागण (Self-pollination), द्वितीय अपर परागण (cross-pollination)। स्वयं परागण में पराग-कण परागाशयों से किसी प्रकार उसी पुष्प की कुक्षि या कुक्षियों तक संक्रमण हो जाते हैं। अपर-परागण में परागकण भिन्न साधनों से अन्य-पुष्पों की कुक्षि या कुक्षियों तक संक्रमण होते हैं—ये पुष्प या तो उसी पादप पर या उसी जाति के भिन्न पादपों पर हो सकते हैं। स्वयं-परागण के विपरीत अपर-परागण द्वारा जो बीज बनते हैं वे संख्या में अधिक और भारी होते हैं और इन बीजों से शक्तिशाली संतान उत्पन्न होती है। पादपों में अपर-परागण भिन्न अभिकर्त्ताओं द्वारा सिद्ध होता है जिनमें से वायु, जल और कीटाणु विशेष स्थान रखते हैं।

पुष्पों और कीटाणुओं के जितने सम्बन्ध हैं उनमें से अति तीव्र अंजीर और उसके वरट-दर्शकों (wasp-visitors) का है। यह इतना उलझा हुआ है कि लोगों को इसकी वास्तविकता में संदेह होने लगता है।

अंजीर की खोज प्रागैतिहासिक (prehistoric) है लेकिन यह सभी जानते हैं कि इनका प्रयोग ईडन के बाग (Garden of Eden) में भी हुआ और यह २००० या उससे भी अधिक ईसवी पूर्व में यूनान की दीवारों पर चित्रित थी। इसकी अधिकता के कारण ही अंग्रेजी के इस मुहावरे का जन्म हुआ "He does not care a fig'। फाइकस (Ficus) की ६०० जातियों में से मेडीटरेनियन देशों की भक्ष्य-अंजीर (edible fig) सबसे अधिक विख्यात है। पूर्व काल में यह वन्य-अंजीर (wild-fig), फाइकस कैरिका (Ficus carica) द्वारा प्रतिरूपित थी। यह अब भी इटली के कुछ भागों में पाई जाती है। इसके कर्षण (cultivation) का प्रारम्भ तुरीय (quaternary) काल से हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कृष्ट अंजीर (cultivated fig) का उद्भव वन्य-अंजीर से हुआ, जो प्रायः झाड़ी के रूप में होती है।

अंजीर के परागण का ठीक ज्ञान हमें सोम्स-लौबेक (Solms-Lauback, 1882) और सिर्च तथा रेवेसिनी (Tschirch and Ravasini, 1911) की की खोजों से हुआ। कृष्ट अंजीर (cultivated fig) की परागण क्रिया को समझने के पहले हमें वन्य-अंजीर के परागण का ज्ञान होना उचित है।

(अ) वन्य अंजीर की परागण-कथा

अंजीर में अनेक क्षुद्र एकलिंगी पुष्प (unisexual flowers) एक सुषिर (hollow) पुष्पान-अक्ष (inflorescence axis) के अन्दर होते हैं। बाहर को यह एक उपसंकोच अग्र रन्ध्र (Pore) द्वारा खुलती है। जिन्हें हम अंजीर के फल कहते हैं, वे वास्तव में उसके सुषिर, मांसल पुष्पन हैं। इसका वह भाग जिसे

हम बड़ी रुचि से खाते हैं वह चषक-रूप पुष्प-वृन्त है। प्रौढ़ होने पर इसके अन्दर अनेक क्षुद्र फलों का निर्माण होता है—जिन्हें लोग साधारणतः "बीज" कहते हैं।

एक वर्ष में वन्य-अंजीर में तीन प्रकार के पुष्पन (inflorescences) होते हैं। इनके चषक-रूप पुष्प-वृन्तो में एक या अधिक चार भिन्न प्रकार के क्षुद्र पुष्प हो सकते हैं।

(१) पुं-पुष्प (male flowers) जो प्रायः रन्ध्र (pore) के निकट होते हैं और इनमें ३ से ५ तक पुंकेसर हो सकते हैं। इनसे पीले नारंगी रंग के पराग-कण उत्पन्न होते हैं।

(२) अवन्ध्य स्त्री पुष्प (Fertile female flowers) प्रत्येक से एक बीज विकसित होता है।

(३) वन्ध्य स्त्री पुष्प (Sterile female flowers) इनसे बीज उत्पन्न नहीं होते।

(४) "गौल" पुष्प (Gall flowers) क्षुद्र गौल-वरट (Gall wasp) अण्डे देने के लिए विशेषतः उपयोजित होते हैं। इन पुष्पों में एक विवृत कुल्या (open canal) वाला क्षुद्र कुक्षिवृन्त (Short style और एक अण्डप होता है। यह अण्डप (ovule) बीज निर्माण के लिए अनिवार्य होता है।

वर्ष भर की तीन प्रकार की पुष्पनें निम्नलिखित हैं:—

प्रथम जिन्हें 'प्रोफिसी' (profichi) कहते हैं वसन्त ऋतु में उत्पन्न होती हैं। इनमें छिद्र के नीचे ही पुं-पुष्प और उनके नीचे "गौल" पुष्प होते हैं। कुछ क्षुद्र स्त्री-वरट (female wasps), ब्लास्टोफेगा ग्रोसोरम (Blastophaga grossorum), पुष्पन में रेंग कर पहुँच जाती हैं जहाँ वे प्रत्येक "गौल" पुष्प में एक अण्डा देती हैं और उन्हीं "गौल" पुष्पों में वे अण्डे अन्त में बाल-वरट (young wasps) में परिवर्तित हो जाते हैं—इसी से हमें वरटों की क्षुद्रता का भी अनुमान लग सकता है। इतना होते हुए भी यह बड़े आश्चर्य और प्रशंसा का विषय है कि अंजीर की कृषि करने वालों ने अपनी तीक्ष्ण निरीक्षण शक्ति से ४०० ई० पू० के लगभग ही इनका पता लगा लिया था। अंजीर के अन्दर के बाल वरटों में से कुछ पुं-वरट (male wasps) होते हैं जो पीले-भूरे-रंग के और पक्षहीन होते हैं। वे अपने आश्रय स्थान से अपना मार्ग काटते हुए और फिर "गौल" पुष्पों के बीज-स्थानों की भित्ति को भेदन कर उनमें प्रवेश करते हैं। इनमें उस समय तक स्त्री-वरट (female wasps) बन्द रहती हैं। पुं-वरट इनको
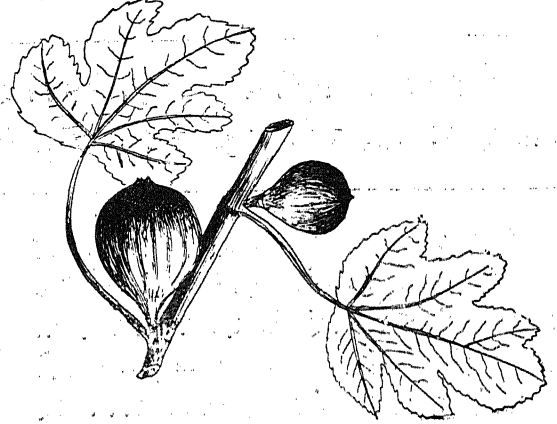
चित्र १ : अंजीर के पादप की एक शाखा।
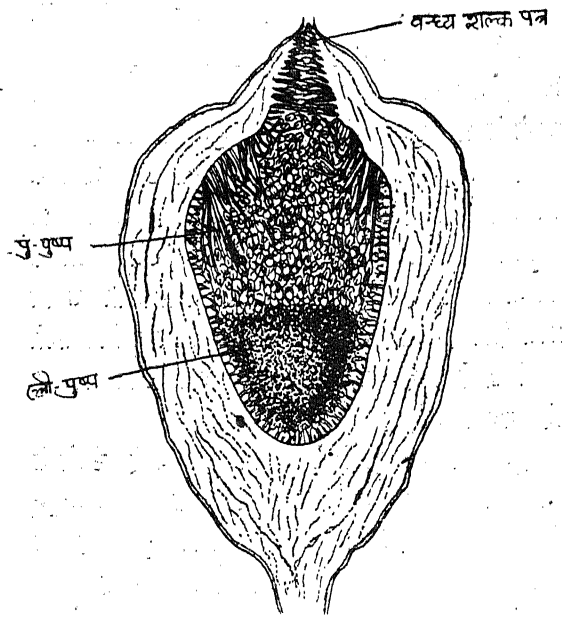
चित्र २ : अंजीर के पुष्पन का एक अन्वायाम छेद।

"गौल" पुष्पों के अन्दर ही निषिक्त (inseminate) करते हैं और तत्पश्चात वे मर जाते हैं। स्त्री-वरट पक्ष-

वत् होते हैं और उनकी पश्च काय चमकती हुई होती है। ये निषिक्त (imseminato) होने पर अपने आश्रय-स्थान से सर्पण (Creep) कर पकती हुई अंजीरों के बाहर रेंगने को प्रस्तुत होती हैं। इसके लिए उन्हें पुं-पुष्पों (Male flowers) के मध्य से निकलना होता है जिसके फलस्वरूप वे परागकणों से धूलित (dusted) हो जाती हैं। यद्यपि इन वरटों (wasps) के दो युग्म पक्ष होते हैं फिर भी वे अधिक नहीं उड़तीं। इसके विपरीत वे झाड़ी के इधर उधर द्वितीय प्रकार के पुष्पनों की खोज में घूमती रहती हैं।

अब तक मई माह का अन्त समीप पहुँचता है और ग्रीष्म ऋतु की अंजीरें या "मैमोनी" (Mammoni) विकसित होने लगती हैं। "प्रोफेसी" (Profichi) के विपरीत इनमें ("मैमोनी") न तो 'गौल" पुष्प, न पुं-पुष्प होते हैं पर केवल सामान्य स्त्री-पुष्प होते हैं। स्त्री-वरट अंजीर में प्रवेश तो कर जाती है पर वहाँ उनको अण्डे देने के लिए कोई स्थान नहीं मिलता। अण्डे देने के विपरीत इन अंजीरों के स्त्री-पुष्पों को वे अपने पक्षों पर के परागकणों द्वारा परागित करती हैं। इसके फल स्वरूप इन पुष्पों में बीजों का विकास होता है; पुष्पन मांसल और भक्ष्य हो जाते हैं। यह अंजीरें इटली में सेप्तेम्बर माह के अन्त तक पक जाती हैं।

वन्य अंजीर की तृतीय कृषि के पुष्पनों को "मैमी" (Mamme) कहते हैं। इनमें केवल "गौल" पुष्प होते हैं। स्त्री वरट इन पुष्पनों में प्रवेश कर प्रत्येक कूट पुष्पों (Pseudoflowers), अर्थात् "गौल" पुष्पों, में एक अण्डा देती हैं। इन्हीं में जातक-वरट (Larval wasps) शीत ऋतु का समय व्यतीत करते हैं और पहले की भाँति निषिक्त स्त्री-वरट (Fertilized female wasp) वसन्त ऋतु में रेंगकर बाहर आती हैं। (चित्र ३: १ क से ग तक)

सारांशः

पुष्पन (१) "प्रोफेसी" वसन्तऋतु { पुं-पुष्प + "गौल" पुष्प

(२) "मैमोनी" ग्रीष्मऋतु { केवल स्त्री-पुष्प — केवल इनमें फल ही निर्माण होता है।

(३) "मैमी" शरद्-शीत ऋतु { केवल "गौल" पुष्प
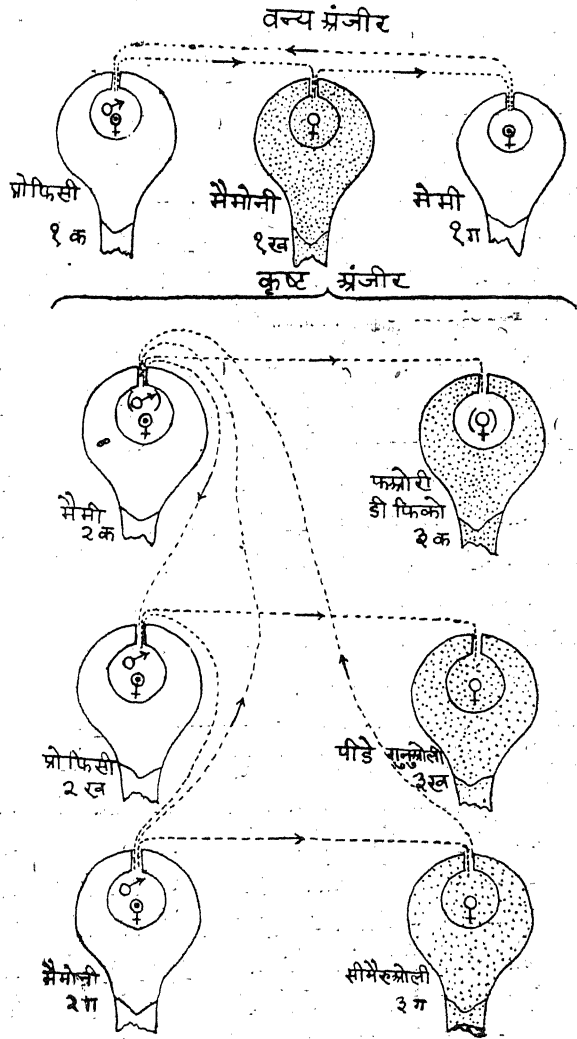
चित्र ३ : अञ्जीर का पुष्प प्रबन्ध और परागण कथा का एक रखाचित्र निरूपण।

१ क से ग तक : वन्य अंजीरें

२ क से ३ ग तक : कृष्ट अंजीरें

बिन्दु अंकित अंजीरें (Dotted Figs, फल निर्माता अंजीरें हैं।

(आ) कृष्ट अंजीर की कथा (Story of the cultivated fig)

कृष्ट अंजीर (cultivated fig) के दो रूप होते हैं: (१) फल निर्माता अंजीर (Fruit forming fig) जिसे फाइकस केरिका डोमेस्टिका (Ficus carica domestica) और (२) "गोट" अंजीर (Goat fig) जो फल निर्माण नहीं करतीं—उन्हें फाइकस केरिका केप्रीफिकस (Ficus carica caprificus) या साधारणतः "केप्रीफिग" (caprifig) कहते हैं। दोनों प्रकार की अंजीरों में वर्ष भर में तीन बार पुष्पन (iuflorescences) विकसित होते हैं।

फलनिर्माता अंजीर में केवल स्त्री-पुष्प (Female flowers) होते हैं जिनमें वसन्त ऋतु की पुष्पनों के पुष्प बन्ध्या (Sterile) होते हैं। 'गोट' अंजीरों में केवल पुं-और "गौल" पुष्प ही होते हैं।

'गोट' अंजीरों के शीत ऋतु के पुष्पनों ("मैमी") से वसन्त ऋतु में निषिक्त स्त्री-वरट निकलती हैं जो 'गोट' और फल-निर्माता अंजीरों के पुष्पनों में प्रवेश करती हैं। गोट अंजीरों ('प्रोफिसी') में वे अण्डे देती हैं पर फल-निर्माता अंजीरों ('फओरी डी फिको') के पुष्पों के बन्ध्या होने के कारण इनमें स्त्री-वरटों (Female wasps) का प्रवेश करना व्यर्थ ही जाता है। कूट-फल (Pseudo fruits) भक्ष्य तो होते हैं पर प्रायः ऐसे ही गिर जाते हैं।

वसन्त ऋतु के 'गोट' अंजीरों से परागकण धूलित (pollen dusted) और पहले की भाँति निषिक्त (inseminated) स्त्री-वरट जून माह में निकलकर 'गोट' और फलनिर्माता अंजीरों के ग्रीष्म ऋतु के पुष्पनों में प्रवेश करती हैं। इन 'गोट' अंजीरों ("मैमोनी") में केवल अण्डे ही देती हैं, पर फल-निर्माता ('पीडेगनुओली") अंजीरों में स्त्री-वरट को अण्डे देने का कोई स्थान नहीं होता। इनमें वे अबन्ध्य स्त्री-पुष्पों (fertile female flowers) को अपने पङ्खों पर के परागकणों द्वारा परागित करती हैं और यही अञ्जीरें भक्ष्य अंजीरों की मुख्य खेती है।

इसके अतिरिक्त अंजीर की तृतीय खेती भी होती है। "गोट" की ग्रीष्म ऋतु की अंजीरों से निषिक्त स्त्री-वरट निकलते हैं वे या तो 'गोट' अंजीर की शीत ऋतु की अंजीरों में प्रवेश कर अण्डे देती हैं या फल-निर्माता अंजीरों की शरद्-शीत ऋतु के पुष्पनों ("सिमैरुओली") में प्रवेश कर स्त्री-पुष्पों को परागित (pollinate) करती हैं जिसके फल स्वरूप भक्ष्य-अंजीर (edible fig) का निर्माण होता है। (चित्र ३: २ क से ३ ग तक)

अंजीर की परागण कथा से हमें उसके दो अधिक विलक्षण तथ्य (facts) प्रगट होते हैं—प्रथम्, वरट और अंजीरों का तीक्ष्ण सम्बन्ध और द्वितीय, एक वन्य पूर्वज (wild-ancestor) से अंजीर के दो कृष्ट रूपों (cultivated flowers का उद्भव। फल-निर्माता अंजीरों में यद्यपि आवश्यक स्त्री पुष्प तो होते हैं पर 'गौल" पुष्पों की अनुपस्थिति के कारण वरट इनमें अण्डे नहीं दे पाती इसलिए उसकी संतति को प्रचलित रखने के लिए 'गोट' अंजीरों का होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, सब से अधिक लाभप्रद अंजीर की कृषि के लिए भी 'गोट' अंजीरों का होना अनिवार्य है क्योंकि उन्हीं से पराग कणों का निर्माण होता है और इनको स्त्री-पुष्पों तक पहुँचाने के लिए वरटों की उपस्थिति भी आवश्यक है। यद्यपि फल-निर्माता अंजीरों के साथ 'गोट' अंजीरों को लगाने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है और हमें यह भी मालूम है कि कैलीफोर्नियाँ की 'मिर्ना' अंजीरें तब तक सफल नहीं हुई जब तक उनके निकट गोट अंजीरों के पादप न लगाये गये, फिर भी हमें यह मानना ही पड़ेगा कि इटली में केप्रीफिकेशन (caprification) अर्थात् भक्ष्य अंजीरों के निकट केपरी 'अञ्जीरों के बोने की प्रथा न होते हुए भी उनमें फल निर्माण होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि उत्तरी इटली की यह अंजीरें अपराग-फलित (Parthewgenetic) हो गई हैं इन अंजीरों में एक रोचक बात यह है कि यद्यपि यह फूली हुई और खाने में स्वादिष्ट होती हैं पर वे बहुत दिन तक टिक नहीं पातीं।

मनुष्य की परिभाषा

श्री पुष्कर सिंह बी० एस-सी०

लेखक ने मानव-विकास के वैज्ञानिक पहलू पर मनोरंजक रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। लेख तथ्यपूर्ण तथा रोचक है।

मनुष्य जब अपने चारों ओर नजर फैलाता है तब उसे अन्यान्य प्राणी दृष्टि-गोचर होते हैं। वह अपनी दार्शनिक बुद्धि की प्रेरणा से सोचने लगता है कि किसने दुनियाँ में इन सब जीवों को उत्पन्न किया। उनमें मनुष्य वर्ग को ही क्यों प्राणियों में श्रेष्ठ और सौन्दर्य से विभूषित किया। जब उसकी तर्कमय बुद्धि इन सब बातों की कल्पना करते-करते थक जाती है तो वह एक ही निश्चय पर आता है—"भगवान ने इन सब जीवों की रचना की।" भागवत में भी इसका विवरण मिलता है। पहले विष्णु की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ। उसी कमल में तो ब्रह्मा जी को पांच तत्वों का बोध हुआ। इन्हीं पांच तत्वों के आधार पर ब्रह्मा ने सब से पहले मनु और सतरूपा को उत्पन्न किया। यह हो सकता है कि 'मनु' से ही 'मनुष्य' शब्द की उत्पत्ति हुई हो। बाइबिल में यह कहा जाता है कि सबसे पहले भगवान ने प्रकृति के नन्दन कानन में आदम और इव्स को जन्म दिया और दोनों के संयोग से मनुष्य जाति का विकास हुआ। कुछ विद्वानों ने मनुष्य की परिभाषा दलील देने वाला जीव, धार्मिक जन्तु, बोलने वाला प्राणी और हथियार बनाने वाला कहा है। अधिक विचारवान मनुष्य से पूछा जाय तो मनुष्य को बिना पूंछ का बन्दर कह कर चुप्पी मार लेता है। ये उपरोक्त परिभाषायें मनुष्य के अस्तित्व का पूरा परिचय नहीं देती हैं। निस्वातक मनुष्य को हम अन्वेषण के रूप में दो प्रकार की खोजों से प्राप्त कर सकते हैं—(१) आर्कियालाजिकल खोज और (२) भौमिक खोज। हम इन दोनों के सहयोग से तथा दार्शनिक और वैज्ञानिक रीतियों से तर्कानुसार 'मनुष्य की परिभाषा' का विवरण देने की कोशिश करते हैं। इसके पहले कि हम मनुष्य की परिभाषा दें, मानव विकास का स्थल तथा उनकी जाति का थोड़ा परिचय देना चाहते हैं। इनमें उल्लेखनीय ये हैं:—

आदि मानव (Pithecanthropus) सन् १८९२ में डुबाय (Dubois) ने जावा द्वीप में सोलो नदी के किनारे स्थित ट्रीनील शहर से पिथेकेनथ्रापस स्तर में एक अभंग खोपड़ी की खोज की। इसी स्तर के नाम से ही, उस आदमी का नाम पड़ा। यह जीव भूकाल के अतिनूतन युग में रहता था। इसकी खोपड़ी की टोपी ०.१८१ मान लम्बी और ०.१३० मान चौड़ी है तथा इसकी शैर्ष सूची ७० है। इसके बुद्धि कोष का आयतन ८५० घन० से० मी० है।

करोटि के छत की हड्डियाँ एक दूसरे से इतनी मिल गई हैं कि सीमन्त लकीरें अदृश्य हो गई हैं। यह जीव पूर्ण रूप से सीधा खड़ा नहीं हो सकता था। इसी प्रकार के बानर-जाति की खोपड़ी भारत के शिवालिक पहाड़ियों में मिलती है जिनके नाम शिव-बानर प्रजाति (Sivapithecus) ब्रह्मा-बानर प्रजाति (Bramhapithecus), राम-बानर प्रजाति (Ramapithecus), सुग्रीव बानर प्रजाति (Sugrivapithecus) तथा द्राविड़ बानर प्रजाति (Dryopitpecus) हैं। इसी प्रकार के अवशेष नर्मदा के किनारे (हुशंगाबाद के नजदीक) मिलेंगे क्योंकि ग्रन्थों में मनुष्य के उद्भव का प्रथम स्थान नर्मदा का किनारा ही बतलाया गया है।

उदायेर मानव—(Eoanthropus) आदि-मानव के समकालीन उदायेर मानव की खोपड़ी सन् १६११ में ससेक्स में स्थित पिल्टडाउन में मिली है। इसके बुद्धि कोष का आयतन ११०० घन० से० मी० है। वर्तमान मनुष्य के समान इसकी भी की हड्डी उभरी हुई नहीं थी तथा ललाट सपाट और गोल था। इसके सिवाय बानर-सम ठुड्डी, नुकीले दांत और लम्बा चेहरा था।

नीयंडरथल मनुष्य—इस मनुष्य की खोपड़ी की शैर्ष सूची ७७ है तथा बुद्धि कोष का आयतन ११०० से १६०० घन० से० मी० है। इसी मनुष्य के साथ ही पाषाण युग की सभ्यता का उदय हुआ। इसका चेहरा बानरों के चेहरे के समान लम्बा तथा आंखें दूर-दूर पर स्थित थीं।

पेकिंग आदि मानव (Sinanthropus) यह मनुष्य भी चीन में स्थित पेकिंग के नजदीक रहता था। जिस तरह आदि-मानव और उदायेर मानव समकालीन थे उसी तरह नीयंडरथल मनुष्य और पेकिंग आदि-मानव समयुगी थे। ये हिमानी काल के आरंभ में रहते थे।

क्रोमेगनन मानव (Cro-magnon man) यह होमी सेपियंस परिवार में गिना जाता है। पाषाण युग की सभ्यता के साथ ही कई जातियों की उत्पत्ति हुई। इनमें प्रमुख क्रोमेगनन मानव तथा हिडेलबर्ग मनुष्य था ये मनुष्य वर्तमान मानव समाज के पास के पूर्वज हैं। इनके बुद्धि कोष का आयतन २१०० घन० से० मी० है। इसी पाषाण युग की सभ्यता के समय मनुष्य-जाति का दो शाखाओं में विकास हुआ। एक शाखा वर्तमान वानरों के सामानान्तर ही विकसित हुई और जीवन-युद्ध में न टिकने के कारण विलीन हो गई। दूसरी शाखा ने जीवन युद्ध का बहादुरी के साथ सामना किया और उद्भव का प्रथम नेता बना जिनके प्रतीक हम सभी हैं।

इनके सिवाय हम दो शब्द उन वानर-सम-मनुष्य या मानव-सदृश-वानरों के बारे में बतला देना चाहते हैं जिन्हें विद्वानों ने उलझनों से गुथित समझकर अप्राप्य अनुमानित अवस्था कहा है। इनमें उल्लेखनीय ये हैं :—

आस्ट्रेलोपिथेकस आफ्रिकन्स (Australopithecus africanus) प्रोफेसर रेमंड डार्ट ने स. १६२४ में बचुवाना (Bechuana) देश के टांग्स (Taungs) से प्राप्त शिशु वानर सम प्राणी के निखातक अवशेष को आस्ट्रेलोपिथेकस आफ्रिकन्स नाम दिया है। इसके बुद्धि कोष का आयतन ८५० घन० से० मी० है। इसका तात्पर्य यह है कि वह प्राणी बोल सकता था क्योंकि डा० ई० आई० ह्वाइट के अनुसार एक दो वर्षीय बालिका जिसके बुद्धि-कोष का आयतन ६५० घन० से० मी० है बोलने में समर्थ है। यह जीव भूकाल के प्रातिनूतन युग में रहता था। यह जीव सीधा चलता था जो चूतड़ की हड्डी से पता लगता है। यह आग का उपयोग करना जानता था।

इसी तरह सन् १६३६ में डा० राबर्ट ब्रूम ने मध्य ट्रांसवाल की गुफा से निखातक अवशेष प्लेशियनथापस और पैरानथ्रापस का वर्णन किया है।

वर्तमान मानव समाज:—दुनियां के हर महाद्वीप में वर्तमान मानव समाज भिन्न है। इसका अवलोकन हम चीन, भारत, पश्चिमी युरोप और अफ्रिका के मानव समाज से कर सकते हैं। यदि इन सब जीवों के निखातक अवशेष भविष्य के आने वाले युग में मिले तो इसका मतलब यह नहीं कि इनका प्रादुर्भाव भिन्न-भिन्न दिशा में हुआ है। इन सबका कारण भौगोलिक परिस्थिति और जलवायु पर निर्भर है। लेखक का अनुमान है कि आने वाले युग में मनुष्य के सिर में बाल नहीं रहेगा क्योंकि उद्भव की श्रेणी में मनुष्य में गंजापन शुरू हो गया है तथा वर्तमान मानव समाज बाल रहित रहने में अपना श्रेय समझता है।

मानव का विकास-स्थल:—यह विषय विवादजनक है। मुख्यतः इसके दो मत हैं—(१) कुछ मताधिकार दक्षिण आफ्रिका को मानव के उद्भव का स्थल मानते हैं। (२) दूसरे मतवाले मध्य एशिया को मनुष्य के उद्भव की प्रयोगशाला कहते हैं। यहां पर हम दोनों पक्षों की राय प्रगट कर देते हैं। यह पाठकों पर निर्भर है कि वे किस पक्ष का समर्थन करते हैं।

दक्षिण अफ्रिका को मनुष्य के उद्भव स्थल मानने वालों में डारविन मुख्य हैं। इन्होंने अपनी पुस्तक "ओरिजिन आफ स्पेसीज" में सुचारु रूप से इसका वर्णन किया है।

(१) डा० रेमंड डार्ट और डा० राबर्ट ब्रूम ने ट्रांसवाल से कई प्रकार के निखातक वानर के जबड़े और खोपड़ी प्राप्त की है। इनके अवलोकन से पता चलता है कि ये सीधे चलने वाले थे। अधिकांश लोग इन्हें वानर और मनुष्य के बीच की अप्राप्य अनुमानित अवस्था कहते हैं।

(२) ये निखातक शिवालिक पहाड़ियों में पाये जाने वाले निखातक वानर प्रजाति से प्राचीन हैं।

(३) केन्या में पाये जाने वाले वानर निखातक दक्षिण अफ्रिका के उद्भव-स्थल होने का पुष्टीकरण करते हैं। रसिंगा द्वीप में करीब ३०० वानर खोपड़ियों के अवशेष मिले हैं। इन अवशेषों के नम्बर से यह ज्ञात होता है कि पूर्वी अफ्रिका में इस समय वानरों की संख्या बहुत अधिक थी।

(४) अर्वाचीन मत है कि मनुष्य और वानर एक ही पूर्वज से उत्पन्न होकर भिन्न भिन्न शाखाओं में विकसित हुए। आज भी गोरिल्ला और चिंपैंजी सिर्फ अफ्रिका में पाये जाते हैं। ये अपने विलीन अवस्था में हैं इन्हें सुरक्षित रखने के लिये कृत्रिम सुरक्षा की जरूरत है।

(५) जिस तरह हाथी सबसे पहले अफ्रिका में उत्पन्न हुआ और वहां से सारे देश में फैला उसी तरह मनुष्य भी सबसे पहले अफ्रिका में उत्पन्न होकर अन्य देशों में भ्रमण किया।

(अ) "मध्यएशिया मनुष्यों के उद्भव की प्रयोगशाला था।" इसका समर्थन शिवालिक पर्वतों में पाये जाने वाले वानर प्रजाति करते हैं। यहां से एक शाखा भारत, जावा और चीन को तथा दूसरी शाखा यूरोप अमेरिका और अफ्रिका की तरफ गई।

(आ) मध्य एशिया का पठार उद्भव के लिये उपयुक्त स्थान था।

(इ) मध्यएशिया में ही आर्कियालाजिकल खोज से प्राचीन सभ्यता के प्रमाण मिले हैं।

अब वर्तमान विचार से इस प्रश्न को हल करने के लिये कि "मनुष्य क्या है?" यह ज्ञात करना होगा कि प्राणीशास्त्र के विद्वान किस तरह हमारा वर्गीकरण करते हैं परन्तु यह ख्याल रखना चाहिये कि इस विज्ञान में वर्गीकरण सिर्फ सम्बन्ध दर्शाने के लिये होता है। हम लोगों की जाति के सिवाय और भी विलीन जातियों का पता लगा है। ये सब मानव परिवार में रखे गये हैं। इसके साथ वानर-प्रजाति (पोन्गीडी परिवार) को भी कई विद्वान शामिल कर देते हैं। मनुष्य और वानर की शरीर-रचना की समानता देखते हुए यह पता लगता है कि ये एक ही वंशज के हैं। यह पुरा-सात्त्विकी के विद्वानों द्वारा समर्थन किया गया है।

इस समय की मुख्य वंशावली बन्दर-सम वनमानुषों की थी। ये ३०० लाख साल पूर्व मायोसिन युग में पूर्वी अफ्रिका में पाये जाने वाले प्रोकोन्सल जाति के समान थे। ये प्राणी आसानी से पेड़ों पर चढ़ सकते थे और चारों पैरों से दौड़ते थे। ये भिन्न-भिन्न दो दिशाओं में विकसित हुए - (१) जो आज के वनवासी वानर हैं, जिनकी भुजाएँ लम्बी हैं जिनके द्वारा ये आसानी से एक डाली से दूसरे डाली में कूद सकते हैं (२) दूसरे जो मानव योनि की तरफ विकसित हुए और जिन्होंने पिछले पैरों में सीधे खड़े होने का गुण प्राप्त किया।

अब "मनुष्य की परिभाषा" का विषय दो प्रश्नों में बँट गया—(१) यदि मानव और वानर के एक ही पूर्वज थे तो किस अवस्था में आकर मानव वानर से भिन्न हुआ। (२) उद्भव की किस श्रेणी में 'मानव' बना।

वर्तमान मानव वानरों से शारीरिक गुणों में अनेक असमानता रखता है—दांतों के आकार और विस्तार; दो पैरों में सीधे चलने की आदत; और बुद्धि कोष के आकार का समय के साथ परिवर्तन हुआ। यद्यपि आजकल मनुष्य के बुद्धि कोष का आकार वर्तमान वानरों के बुद्धि कोष के आकार से भिन्न है, फिर भी एक समय था जब दोनों के बुद्धि कोष का आकार और आयतन एक ही था। इसलिये हम बुद्धि कोष के आकार को असमानता की कसौटी नहीं कह सकते हैं।

साधारणतः एक मामूली आदमी यह अनुमान करेगा कि प्रथम मानव परिवार के जंगल छोड़ने के कारण उनके अस्थिकंकाल में विकास हुआ और वे दोनों पैरों से चलने लगे। लेकिन जैविकी के विद्वान रहन सहन की अवस्था को स्थायी नहीं मानते हैं। उदाहरणार्थ यह हो सकता है कि वानरों की कोई एक ही विकास शाखा से मनुष्य का

उद्भवीकरण हुआ होगा। यह होते हुए भी हम उन सारी वंशावली को मानव परिवार में गिन सकते हैं क्योंकि ओरंगउटैंग और गोरिल्ला की वंशावली दूसरी होते हुए भी कई जीव-शास्त्र के विद्वानों ने उन्हें 'होमो' परिवार में लिया है।

पुरा सात्विकी के विद्यार्थी दांतों के स्वभाव से वर्गीकरण करने में समर्थ हो सके हैं। वर्गीकरण करने में हम बुद्धि-कोष के बजाय सीधे चलने और मनुष्य के समान दांतवाले वानर-निखातकों को मानव परिवार में गिन सकते हैं। दक्षिण अफ्रिका के आस्ट्रेलोपिथेकस परिवार की खोज से यह ज्ञात होता है कि यद्यपि इनके बुद्धि कोष और गोरिल्ला के बुद्धि-कोष समान थे, फिर भी नितंब की हड्डी और दातों के स्वभाव इसे मनुष्य श्रेणी के नजदीक लाते हैं। यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि ये आस्ट्रेलोपिथेसिन्स वर्तमान मनुष्यों के पूर्वज थे, फिर भी बिना हिचक के यह कह सकते हैं कि जावा के प्रातिनूतन युग में पाये जानेवाले आदिमानव रोबसटस के एक पारिवारिक अंग थे।

इतना होते हुए भी मनुष्य की परिभाषा में कमी महसूस होती है। इसके बिना हम असमंजस में पड़ जाते हैं। तर्कानुसार यह सिद्ध होता है कि दक्षिण अफ्रिकी निखातक होमो परिवार में सम्मिलित है तब भी खोपड़ी का आकार वानर खोपड़ी से इतनी मिलती जुलता है तथा जावा मनुष्य से इतना भिन्न है कि इन्हें मनुष्य कहने में हिचक होती है। प्रोफेसर ले ग्रास क्लार्क (Le Gros Clark) ने इस विषय का सूक्ष्म अध्ययन किया है। उनका कथन है "सम्भव है कि मनुष्य और वानर की असमानता शरीर-रचना के बजाय उसके कार्य पर निर्भर रहेगी। फिर भी मनुष्यत्व की कसौटी वाकशक्ति और हस्त-कौशल है।"

कार्य के ख्याल से मनुष्य और नर-वानरों में असमानता दिखलाने के लिये अभ्यास की जरूरत है। इस विचार से मनुष्य की परिभाषा हथियार बनानेवाला नर-वानर पर विशेषता रखता है। यदि सुविवेचित तरीके से कतरा हुआ हथियार आस्ट्रेलोपिथेकस के साथ गुफा में मिला होता तो उसे हम मानव परिवार में गिन सकते थे। इसका मतलब यह नहीं कि जावा में पाये जाने वाले आदिमानव को हम मानव परिवार में नहीं गिन सकेंगे परन्तु उनके दो गुण— (१) बुद्धि-कोष का आकार वर्तमान मनुष्य के बुद्धि-कोष के अन्तर्गत है और (२) पेकिंग आदि मानव के साथ हथियार प्राप्त हुए हैं—उन्हें मानव परिवार में सम्मिलित करते हैं।

'हथियार बनाने वाला नर-वानर' की परिभाषा का कई प्रकार से समालोचना की गई है :—

(१) निम्न श्रेणी के नर-वानर हथियार का उपयोग करते हैं।

(२) हस्तकौशल मनुष्य की मानसिक उत्तेजना का फल है और जीव-शास्त्र के विचार से मुख्य गुण नहीं है। इसलिये इन समालोचनाओं का गूढ़ अन्वेषण अनिवार्य है।

हथियार और औजारों का उपयोग निश्चय ही सिर्फ मनुष्यों तक सीमित नहीं है। बन्दरों को लकड़ी और पत्थर फेंकते देखा गया है। इसमें चिंपैंजी विशेष रूप से दक्ष है। कोहलर (Kohler) ने इसका विशेष रूप से अध्ययन किया है। उनका कहना है "चिंपैंजी की आयु सीमित है " इस दिशा में एन्थ्रोपाइड और प्राचीन मनुष्य में बहुत कम फर्क है। वाकपटुता और मनोनैतिक विचार की कमी ही चिंपैंजी को सभ्यता के विकास में बाधक होती है।"

औजारों को सुचारू रूप से बनाने में भाषा ने अधिक सहायता दी है। कभी-कभी मौखिक कथा मनुष्य की परिभाषा के लिये हथियार बनाने की दक्षता से श्रेयकर मानी गयी है। कोहलर के अनुसार वाक-पटुता ही "एक अमूल्य परिभाषिक सहायता" के रूप में हथियार है और यह बुद्धि की विचार शक्ति के ऊपर आश्रित है। सबसे पहले विचारों को प्रगट करने की विधि गूँगे मनुष्य की तरह हाथ और मुँह के इशारे से ही शुरू हुई। इसे हम 'सांकेतिक भाषा' कहते हैं। जहाँ तक प्रमाण मिल सका है, वहाँ तक हम कह सकते हैं कि वे नर-वानर जो हथियार बनाने में कुशल थे, वर्तमान वानरों के दिमाग से उनका दिमाग अधिक प्रगतिशील था।

अब यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य के उद्भवीकरण की किस श्रेणी में हथियार बनाने की प्रथा का विकास हुआ और क्या जीव शास्त्र के विचार से इसे हम मुख्य गुण मान सकते हैं। यह सोचा जा सकता है कि हस्तकौशल की

निपुणता एक सीमित क्षेत्र है। सच तो यह है कि बुद्धि से काम लेने पर निम्न श्रेणी के बन्दर का परिग्राही हाथ मामूली हथियार बनाने और उपयोग करने में समर्थ हो सकता है।

हम लोगों के हाथों की अविकसित पांचों उँगलियाँ किसी चीज को पकड़ने में इतनी दक्ष हैं कि हम इन्हें हमारे पूर्वजों के पेड़ों पर चढ़ने की निपुणता का द्योतक मान सकते हैं। जब तक कि वे वृक्ष की जिन्दगी गुजर करते थे तब तक उनके परिग्राही हाथ चढ़ने और खाने की क्रिया में संलग्न रहते थे, इसलिये उनको अन्य वस्तु को काम में लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। ऐसा होने पर भी हमारे कुछ उत्सुक पूर्वज अपना कुछ समय खुले मैदान में चलने और बैठने की क्रिया में लगाया करते थे। इसी तरह उत्सुकता के बतौर वे किसी वस्तु को पकड़ना सीखने लगे। मायोसिन युग के चपल बन्दर सम प्राणी दौड़ने और चढ़ने की क्रिया के साथ ही पिछले पैरों से खड़े होने की विद्या सीखने लगे थे। इस समय हम उस दूधमुँहे बच्चे से उसकी तुलना कर सकते हैं जो अपने दोनों हाथों और पैरों के बल चलता है और कभी कभी खड़े होने का प्रयास करता है। ये बानर समयानुसार हथियार का उपयोग करते रहे होंगे जिस तरह मैदान में रहने वाला चिंपेंजी अनेक कामों के लिये लकड़ी का उपयोग करता है।

कार्य के विचार से हम हथियारों को विलगित अग्रबाहु कह सकते हैं। अधिकांश पशु किसी विशेष रहन-सहन के कारण विशेष रूप से विकसित रहते हैं। उदाहरणार्थ घोड़े दौड़ाने में दक्ष होने के कारण एक ही खुर की विशेषता रखता है। उसी तरह चीता, शेर और सिंह मांसाहारी होने के कारण नुकीले दांत और पंजों से विभूषित है। परन्तु मनुष्य ने अपने उद्भव में दांतों को हर एक चीज खाने की विशेषता में निपुण किया और हाथों की उंगलियों को पेड़ों पर चढ़ने के लिये। इसी तरह जब वे सीधे खड़े होने में समर्थ हुए तब उन्हें हथियारों के उपयोग का ज्ञान हुआ।

प्रायः प्रातिनूतन युग में मनुष्य के मस्तिष्क का विकास हुआ। तदुपरान्त पत्थरों के सुविवेचित औजार काम में आने लगे। हथियारों के उपयोग से ही यह सिद्ध है कि मनुष्य ने कार्यवश ही उसे उपयोग में लिया। हथियारों के उपयोग की कमी उन्हें उस समय महसूस होने लगी जब वे जंगल छोड़कर मैदान में बसने लगे।

वर्तमान बानर जाति प्रायः जंगलों में कंद मूल और फलों पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु मनुष्य अपने आहार में मांस भी शामिल करते हैं। प्रमाणतः यह सिद्ध है कि पेकिंग-आदि मानव, नीयंडरथल मनुष्य और होमी सेपियंस जाति के पाषाणयुगी मनुष्य मांसाहारी थे। केन्या में पाये जाने वाले पाषाण सभ्यता के साथ हड्डियों के हथियार यह प्रदर्शित करते हैं कि अजूलियन के हथियार बनाने वाले प्राणी शिकारी थे। प्रायः लेखक के अनुसार मांस खाने की प्रथा और मनुष्य समयुगी हैं। ये आदि-मानव जब जंगल छोड़कर मैदान में आये तब उन्होंने अपने आहार में फल फूल के सिवाय, मांस को भी अंश बनाया।

लंगूर से समानता दिखलाते हुए यह प्रतीत होता है कि मानव परिवार जीवन-युद्ध के कारण अफ्रिका के सवाना में रहते-रहते मांस खाने लगा। अफ्रिका के गाँव गीत अधिकतर लंगूर के मांस खाने की विधि पर बने हैं। अन्य बन्दर और बनमानुष के समान लंगूर भी अपनी अंगरक्षा के लिये नुकीले दांत रखता था। यह अनुमान किया जाता है कि पत्थरों के औजारों के उपयोग के कारण मनुष्य के नुकीले दांत अविकसित रह गये। उस समय शिकार का अभाव न था तथा उन्हें बाल और चमड़े को हटाने में कठिनाई पड़ती रही होगी और तगड़े नुकीले दांत न होने के कारण उन्हें तेज धार वाले पत्थरों का उपयोग करना पड़ा होगा। यह वह अवस्था थी जब हथियार बनाने की प्रथा का उद्भव हुआ। जब उन्हें प्राकृतिक रूप से निर्मित पत्थर नहीं मिले और कुछ विचारशील मनुष्य ने देखा कि ये पत्थर के टुकड़े तोड़कर तेज बनाये जा सकते हैं तब से हथियार बनाने की कुशलता भी बढ़ती गई। वस्तुतः ये हथियार, खोदने, कतरने, छिलने और शिकार के लिये तीर आदि बनाने के काम में आने लगे। इस तरह रहन-सहन और परिस्थिति के कारण वे अर्ध-मांसाहारी हो गये।

प्रकृति की देन से हम सब शाकाहारी हैं। हम लोगों के वे नुकीले दांत नहीं हैं जो मांसाहारी प्राणियों के होते हैं।

(शेष पृष्ठ १७४ पर)

सोना (Gold)

गोलोक विहारी चौधरी बी० एस-सी०

"कंचन में सभी गुण विद्यमान हैं" यह उक्ति प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। उसी सोने के वैज्ञानिक पक्ष को लेखक ने इस लेख में वर्णन किया है। पाठकों को यह वर्णन विशेष मनोरंजक प्रतीत होगा।

परिचय

सोना से हम लोग पूर्णतया परिचित हैं। हमारे पूर्वजों को भी उसका ज्ञान था। प्राचीन काल से ही यह धातु आभूषण और सिक्कों के निर्माण में व्यवहृत होती आयी है। वैदिक काल के पुरुषों को जितनी भी धातुओं की जानकारी थी उसमें सोना भी एक था। इसके गुणों के कारण ही लोग इसे धातुओं में सर्वश्रेष्ठ मानते आये हैं। इसकी सुन्दरता चमक और दुर्लभता लोगों को बहुत दिनों से ही आकर्षित करती आयी है। फलस्वरूप लोग इसे आभूषण तथा अन्यान्य बहुमूल्य पदार्थों के बनाने में उपयोग करते आये हैं। अन्वेषकों ने इसकी खोज में पृथ्वी छान डाली है। यहाँ तक कि जिन पदार्थों में वनस्पति भी नहीं पायी जाती थी और न जहाँ मनुष्यों की आबादी थी वहाँ भी लोग पहुँच गये। आस्ट्रेलिया के कालगूर्ली और कूलगार्डी जैसे निर्जन और वीहड़ स्थान भी सोने की प्राप्ति के कारण आबाद हो गये हैं। पीने का जल यहाँ तीन सौ मील की दूरी से पाइप द्वारा लाया जाता है। इसी तरह अमेरिका के युकान, आलास्का आदि चिर-हिम-आच्छादित-निर्जन प्रान्तों के उन भागों में भी लोग जाकर बस गये हैं जहाँ इन्हें सोने की खाने मिल गई। सोने की खानों के कारण ही आलास्का और सायबेरिया जैसे ठंढे स्थान भी आबाद हो गये।

उत्पादन :—सोने की प्राप्ति के विचार से दक्खिन अफ्रिका का ट्रान्सवाल प्रान्त संसार का आधे से अधिक सोना उत्पादित करता है। इस प्रान्त का मुख्य क्षेत्र जोहन्सवर्ग है। ट्रान्सवाल के समीप ही रोडेसिया में भी सोने की खानें हैं। उत्पादन के विचार से दक्खिन अफ्रिका सर्व-प्रथम है। दूसरा स्थान संयुक्तराज्य अमेरिका का है। यहाँ के आलास्का, कोलोरेडो, नैवडा तथा कैलफोरनिया आदि प्रान्तों से प्रचुर मात्रा में सोना निकाला जाता है। तीसरा स्थान कनाडा का है। यहाँ फ्रेजर नदी की घाटी स्थित क्लौनडाइक स्थान में तथा कोलम्बिया प्रान्त में भी सोना पाया जाता है। चौथा स्थान आस्ट्रेलिया का है। इसका विक्टोरिया प्रान्त स्थित वैलर्ट और बैंडिगों, क्विन्सलैण्ड स्थित मांटमार्गन तथा पश्चिम आस्ट्रेलिया स्थित कालगुर्ली, कूलगार्डी तथा किम्बरले की खाने आज भी जगतप्रसिद्ध हैं।

अन्य प्रदेशों में दक्खिन अमेरिका के कोलम्बिया, पीरू, वोलीवीया, वेनुजुला तथा ब्राजिल राज्यों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

यूरोपीय राज्यों में रूस में भी काफी परिमाण में सोना निकलता है। एशिया के साइबेरिया वाले भूमाग में कई सोने की खाने हैं।

भारत में मैसूर राज्य के अन्तर्गत कोलारक्षेत्र में भी सोने की कई खानें हैं।

संसार में सोने का वार्षिक उत्पादन ३ करोड़ औंस है, जिसमें भारत का उत्पादन करीब १.२ प्रतिशत है।

धातव पत्थर :—सोना साधारण शुद्ध रूप में ही पाया जाता है। इसके कण चट्टानों में जड़े रहते हैं। अकसर इन चट्टानों में चाँदी भी पायी जाती है। ताँबे

के धातव-पत्थरों में भी न्यूनांश में सोना रहता है। अन्य धातुओं के धातव-पत्थरों जैसी सोने की चट्टानों में धातुओं की प्रचुरता नहीं रहती है। वे चट्टान जो कि सोने की प्राप्ति के लिए उत्तम समझी जाती हैं उनमें भी प्रति टन चट्टान से आधे औन्स से अधिक सोना नहीं निकलता है।

भारत में सोना विशेषकर मैसूर राज्य स्थित सोने की खानों से ही निकलता है ! इन खानों में भारत के उत्पादन का ९९ प्रतिशत सोना प्राप्त होता है। इन खानों के अतिरिक्त भारत के अन्य राज्यों में भी सोना पाया जता है। लेकिन इन स्थानों में सोना इनसे कम परिमाण में है कि आर्थिक विचार से इसका उत्पादन लाभप्रद नहीं है। इस सम्बन्ध में हैदराबाद की हुट्टी तथा मद्रास की अनन्तपुरी की खाने विशेष उल्लेखनीय हैं। इन खानों के अतिरिक्त आसाम, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रान्त की नदियों की रेतों में भी सोना मिलता है लेकिन रेतों में सोना इतना कम रहता है कि आधुनिक ढंग से सोना निकालने का प्रयत्न नहीं किया जा सकता है। अतः इसका आर्थिक महत्व नहीं है।

बिहार राज्य में :—बिहार राज्य स्थित छोटा नागपुर के दक्खिन भूभागों की चट्टानों में सोना पाया जाता है। इन स्थानों के निरीक्षण से पता चलता है कि किसी समय लोगों ने उक्त स्थानों से सोना निकालने की कोशिश की होगी। छोटा नागपुर और विशेषकर सिंहभूमि के उन भागों की नदियों की रेतों में, जहाँ पहले रेतों को धोकर सोना निकाला जाता था, अब भी सोना पाया जाता है। इन नदियों में स्वर्णरेखा तथा इसकी अन्य सहायक नदियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्थान विशेष के विचार से दालभूम और मयुरभंज राज्य को संबधित करने वाला भाग सोना प्राप्ति के लिये विशेष उल्लेखनीय है। मानभूमि जिले में भी ऐसे कुछ स्थान पाये गये हैं जहाँ की रेतों में भी न्यूनमात्रा में सोना के कण हैं। आर्थिक विचार से लाभप्रद नहीं होने के कारण आधुनिक ढंग से और अधिक परिमाण में इन स्थानों से सोना निकालने का प्रयत्न नहीं किया गया है।

धातु निष्कासन—शुद्ध सोना प्राप्त करने के कई साधन हैं, जिनमें एक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है; यानी रेतों से धोकर। लेकिन यह विधि लाभप्रद नहीं है।

अकसर ताँबा, जस्ता, सीसा, चाँदी आदि के धातव पत्थरो में सोने का भी कुछ अंश रहता है। अतएव उपर्युक्त धातुओं की प्राप्ति के साथ कुछ मात्रा में सोने की प्राप्ति हो जाता है।

शुद्ध सोना प्राप्ति के उपर्युक्त दो तरीकों से सोना बहुत कम प्राप्त होता है। पहला तरीका तो केवल उल्लेख के लिये ही है, इस तरीके से नाम मात्र में ही सोना प्राप्त होता है। अधिकांश मात्रा में या यों कहें कि पूर्ण मात्रा में सोना चट्टानों को चूर कर प्राप्त किया जाता है तो अत्युक्ति नहीं होगी। चट्टानों से शुद्ध सोना प्राप्त करने की दो विधियाँ अधिक प्रचलित हैं। इन विधियों के नाम हैं; 'एमलगमेशन (Amalgamation) और 'सियानिडेशन' (Cyanidation)

'एमलगमेशन' विधि :—सर्वप्रथम सोने के कणों से युक्त चट्टानों को यान्त्रिक साधनों से बारीक चूर्ण के रूप में परिणत कर दिया जाता है। पुनः इस चूर्ण को पत्थरों के सिलों पर पारे के साथ घिसा जाता है। फलस्वरूप सोना पारे में मिल जाता है। इस मिश्रण को एक विशेष प्रकार के चर्म से बने हुए थैलों में डालकर छान लिया जाता है, जिससे सोने से युक्त पारा थैले के अन्दर रह जाता है और शुद्ध पारा बाहर निकल आता है। थैले में अवशिष्ट पदार्थ में ३५-४० प्रतिशत तक सोना रहता है। अब अवशिष्ट पदार्थों को लोहे के 'रिटार्ट' में तपाया जाता है जिससे पारा भाप बनकर निकल जाता हैं और सोना इसके अन्दर बचा रहता है। 'रिटार्ट' से प्राप्त सोने को पुनः 'ग्रफाइट' की घरियों (क्रुसिब्ल) में गलाकर साँचे में ढाल लेते है।

'साईनिडेशन' विधि :—इस विधि में सर्वप्रथम स्वर्णकण युक्त चट्टानों को चूर्ण कर लिया जाता है। पुनः इसे 'सोडियम' या 'पोटासियम-साइनाइड' के हलके घोल में घुलाया जाता है। सोना घुल जाता है। घोल को छान कर तलछट से अलग कर लिया जाता है। जस्ते के सहारे सोना प्रच्छेप (Precipitate) के रूप में घोल से अलग हो जाता है। प्रच्छेप को छानकर घोल से अलग कर लिया जाता है। इस प्रच्छेप में सोने के अतिरिक्त चाँदी

जस्ता और कुछ सीसा भी रहते है। रासानिक क्रियाओं द्वारा इससे सोना अलग कर लिया जाता है।

मैसूर राज्य के अन्तर्गत कोलार क्षेत्र में 'दिमैसूर' 'दि चैम्पियन रीफ' 'दि उरगम' और 'नंदीदुर्ग' नाम की चार कम्पनियाँ सोने की खानों से धातव-पत्थर निकालकर शुद्ध सोना प्रस्तुत करती हैं। भारत का ९९% उत्पादन इन्हीं कम्पनियों द्वारा होता है। इन कम्पनियों की खानों में से 'चैम्पियन रीफ' और 'उरगम' की खानों की गहराई आठ-हजार फीट तक चली गई है।

व्यवहार—दुर्लभता के अतिरिक विभिन्न भौतिक और रासायनिक गुणों के कारण सोना बहुमूल्य समझा जाता है। लोहा ताँबा आदि अन्यान्य धातुओं जैसा इसपर हवा पानी का असर नहीं पड़ता है जिसके कारण इसकी चमक और सुन्दरता हमेशा बनी रहती हैं। प्राचीन समय से यह आभूषण और सिक्कों में व्यवहृत होता आया है। अन्य साधारण धातुओं के विपरीत सोना अपनी साधारण अवस्था में भी बारीक से बारीक तार और पत्तर बनाया जा सकता है। पत्तरों और तारों की बारीकी निम्न लिखित उदाहरणों से ही स्पष्ट हो जायेगी। सोने का इतना बारीक पत्तर [वरक] बन सकता है कि यदि २ लाख पत्तरों को नीचे-उपर रखा जाय तो एक इन्च होगा और यदि एक औंस सोने के बारीक तार बनाये जाँय तो यह पच्चीस मील लम्बा होगा। वर्त्तमान समय में इसका व्यवहार सिक्कों में विरले ही होता है। अधिकतर सभी राष्ट्र इसे अपने तहखानों में जमा करते जा रहे हैं। इसका व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में होता है।

पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ यह भी उल्लेख कर देना उचित होगा कि शुद्ध सोने के आभूषण विरले ही बनते हैं। आभूषण आदि बनाने के लिये सोना में ताँबा चाँदी आदि धातु विभिन्न मात्रा में मिलाई जाती है जिससे इसमें कठोरता आ जाती है।

सोने की शुद्धता प्रतिशत शुद्ध सोने में व्यक्त नहीं की जाती है बल्कि 'कैरेटो' में की जाती है। पूर्णतया शुद्ध सोना २४ 'कैरेट' का होता है। यदि किसी शुद्ध साने में २५% अन्य धातुओं की मिलावट हो तो उसे १८ 'कैरेट' का कहेंगे।

साधारणतया ताँबा, चाँदी निकल, जस्ता पलाडियम आदि सोने में मिलाये जाते हैं। 'गिनिगोल्ड' २२ कैरेट' का होता है।

—:०:—

(पृष्ठ १७१ का शेष)

फिर भी हम लोग मानव परिवार के वे प्राणी हैं जो समय पर माँस खा सकते हैं।

आहार-विहार की उन्नति तथा हथियार बनाने की चतुरता ने मनुष्य को नर-वानरों में श्रेष्ठ बनाया। शक्ति और ओज के उपयोग के अनुसार शाकाहारी से अर्धमांसाहारी होना अधिक विचारणीय है। शिकार की प्रथा ने उन्हें एक दूसरे पर निर्भर बनाया। इस तरह नई चतुरता और योग्यता के अनुसार नई सभ्यता का विकास हुआ और मनुष्य हरएक दशा में दक्ष होगया।

प्रकृति और परिस्थिति की एक और अमूल्य देन आग बनाने की क्रिया थी। यह पत्थरों के हथियारों के उपयोग का परिणाम था। प्रोफेसर डार्ट के आस्ट्रेलोपिथेकस अग्नि का उपयोग करते थे। पेकिंग-आदि-मानव ने रोजमर्रा आग का उपयोग किया। परन्तु केन्या में पाये जाने वाले मनुष्य आग का उपयोग नहीं करते थे बल्कि एसकिमो की तरह कच्चा मांस खाया करते थे।

इस तरह विहंगम दृष्टि से हम कह सकते हैं कि हथियार बनाने की चतुरता प्राणीशास्त्र के अनुसार मनुष्य का एक मुख्य गुण है। परन्तु मनुष्य की परिभाषा में दक्ष हथियार बनाने वाला नर-वानर के साथ मनुष्य परिवार में 'मनुष्यत्व' शब्द जुड़ा रखा है जिसका मस्तिष्क विकास इतना ऊँचा हो चुका है कि हम उसे 'होमो' परिवार में रख सकते हैं।

भारतीय आविष्कारक सुब्बाराव

[डा० येलाप्रागादा सुब्बाराव ने ओरियोमाइसिन तथा अन्य महत्वपूर्ण औषधियों का अमेरिका में आविष्कार किया था और अमेरिका के नागरिक भी हो गए थे। उनका परिचय यहाँ पर दिया जा रहा है।]

डा० येलाप्रागादा सुब्बाराव ने रोग-कीटाणुओं को नष्ट करने वाली नयी नयी प्रभावशाली औषधियों का आविष्कार करके मानव जाति का बहुत बड़ा उपकार किया है। १ ४८ में उनका देहावसान हुआ और उन्होंने अपने संक्षिप्त जीवन काल में जितनी सफलताएँ प्राप्त कीं, उतनी शायद ही किसी व्यक्ति ने प्राप्त की हों। उनके आविष्कारों से मनुष्य के ज्ञान में काफी वृद्धि हुई है। वह ३० वर्ष पूर्व उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये भारत से अमेरिका गये। उन्होंने 'ओरियोमाइसिन' नामक जो शक्तिशाली कीटाणु-नाशक औषधि तैयार की है, उसके लिये संसार उनका चिर ऋणी रहेगा। डा० सुब्बाराव उष्ण प्रदेशों में पाये जाने वाले संग्रहणी रोग के उपचार के लिये फौलिक एसिड से औषधि तैयार करने में सफल हुए। उन्होंने रक्त-रोग (ल्यूकीमिया) तथा अनेक प्रकार के कैन्सर के लिये एमीनोप्टरीन आदि कई औषधियों का आविष्कार किया। इतने पर भी वह बड़े निरभिमानी थे और अपनी सफलताओं का श्रेय एकाकी लेना पसन्द नहीं करते थे।

जिस समय सुब्बाराव के पिता भारत में किसी सरकारी कार्यालय में क्लर्क थे, उस समय उनके जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसने उनके जीवन की दिशा निर्धारित कर दी। उनके एक भाई को संग्रहणी हुई और उसी रोग से उसकी दुःखद मृत्यु हो गई। यह देखकर उन्होंने अपने मन में कहा: 'मनुष्य इस नामुराद बीमारी के सामने असमर्थ क्यों है ?'

इस घटना के कुछ ही समय बाद उनकी एक पादरी से भेंट हुई। उसने उन्हें बताया कि किस प्रकार ईसा ने विभिन्न स्थानों पर जाकर रोगियों की शुश्रूषा की, ज्वर का उपचार किया और यहाँ तक कि मनुष्यों को मृत्यु के मुंह से भी निकाल लिया। उसी रात युवक सुब्बाराव ने एक स्वप्न देखा, जिसमें भगवान् की अंगुली उसकी ओर उठी हुई थी। उसने इस स्वप्न का अर्थ यह लगाया कि भगवान् ने उन्हें अपने मानव बन्धुओं को संग्रहणी रोग से मुक्ति दिलाने के लिये उत्पन्न किया है।

भूख, कष्ट तथा थकान की तनिक भी परवाह न करते हुए सुब्बाराव ने इस कठिन कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये २५ वर्ष तक घोर परिश्रम किया। उन्हें अन्ततः अपने कार्य में सफलता मिलना इस बात का प्रमाण है कि उन्हें अपने मूल स्वप्न में अटूट विश्वास था और उन्हें उसके लिये अमेरिका में अवसर भी उपलब्ध हुए। बाद में तो वह अमेरिका के ही नागरिक भी बन गये थे। स्वप्न के बाद सुब्बाराव ने सर्वप्रथम औषधियों के सम्बन्ध में अध्ययन करने का निश्चय किया। वह इस सम्बन्ध में मद्रास मैडिकल कालेज के रजिस्ट्रार से मिले। संग्रहणी रोग के उपचार का पता लगाने के उनके विचार को सुनकर रजिस्ट्रार को हंसी आई, किन्तु वह उनकी उत्कट जिज्ञासा व महत्वाकांक्षा को देखकर और यह जानकर बड़ा प्रभावित हुआ कि उनके मित्रों ने भी उनके अध्ययन के लिये आर्थिक सहायता देने का वचन दिया है। चार वर्ष बाद उन्होंने मैडिकल डिग्री तथा 'मास्टर आफ साइंस' की डिग्री प्राप्त कर ली। इसके पश्चात् उनके चाचा ने लन्दन विश्वविद्यालय में अध्ययन करने के निमित्त उन्हें ऋण देना स्वीकार कर लिया।

लन्दन में इस प्रतिभाशाली युवक की उष्ण प्रदेशीय रोगों के अमेरिकी विद्वान् डा० रिचर्ड स्ट्रांग से मुलाकात हुई। डा० स्ट्रौंग हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रौफेसर थे। डा० स्ट्रौंग ने बताया कि 'उसने मुझसे बहुत से ऐसे प्रश्न किये जिनका मुझसे कोई भी उत्तर नहीं बन पड़ा। मैंने ऐसा प्रखर बुद्धि वाला व्यक्ति कोई नहीं देखा।'

डा० स्ट्रांग ने सुब्बाराव को अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त करने का सुझाव दिया और उन्होंने यह सुझाव स्वीकार कर लिया। अपने खर्च को पूरा करने के लिये वह भट्टियों की देखभाल और अस्पताल में नौकरी करते थे।

शीघ्र ही मेधावी सुब्बाराव ने यह समझ लिया कि इस अनुसन्धान-कार्य के लिये बायोकैमिस्ट्री के अधिक ज्ञान की आवश्यकता है। विभाग के अध्यक्ष ने उन्हें उनकी उपाधि के आधार पर उस क्षेत्र के स्नातकीय शिक्षाक्रम में लेने पर आपत्ति की, किन्तु उन्हें एक वर्ष के लिये अस्थायी विद्यार्थी के रूप में ले लिया। तीन मास के भीतर ही श्री सुब्बाराव को स्नातक समझ कर ले लिया गया।

रसायन विज्ञान की उच्च उपाधि प्राप्त करने तथा अपने अनुसन्धान-कार्यों के कारण श्री सुब्बाराव को हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में प्रौफेसर का पद मिल गया। लेकिन उन्हें अनुसन्धान-कार्य में विशेष रुचि थी, अतएव जब उनके समक्ष लैडरले परीक्षणशाला में अनुसन्धानकार्य करने का प्रस्ताव रखा गया, उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। लैडरले परीक्षणशाला अमेरिकी सिनेमिड कम्पनी की ही शाखा है।

इस दवा तैयार करनेवाली कम्पनी की परीक्षणशाला में डा० सुब्बाराव ७ वर्ष तक निरन्तर बड़ी लगन से अनुसन्धान-कार्य करते रहे। कम्पनी ने उन्हें नौकरी देने का प्रस्ताव रखा, परन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। जब उनको यह सुझाया गया कि ३०० सहायकों तथा २० लाख डालर के वार्षिक बजट से वे अपना अनुसन्धान कार्य अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे तो वे अन्त में सीधे रूप में अनुसन्धान-कार्य करने के लिये राजी हो गये।

१६४१ में सुब्बाराव के साथ काम करने वाले वैज्ञानिकों ने फोलिक एसिड का पूरा रासायनिक विश्लेषण करने का निश्चय किया। यह एसिड पालक में बहुतायत से उपलब्ध होता है। टनों जिगर (यकृत्) इस्तेमाल करने पर उनको यह पता चला कि एक टन जिगर से दो-तिहाई ग्राम शुद्ध फोलिक ऐसिड प्राप्त होता है। पुराने तरीके से ऐसिड निकालने के लिये एक ग्राम पर लगभग २,००० डालर लगेंगे।

यह पदार्थ परीक्षणशाला के कई जीवों के जीवन के लिये बहुत आवश्यक है। कम खून वाली मुर्गियों पर इस पदार्थ का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा चुका है। इसके बाद प्रश्न यह उठा कि क्या मानव-जाति के लिये भी यह पदार्थ लाभदायक सिद्ध होगा? और क्या इसे कम खर्च पर तैयार किया जा सकेगा?

१९४३ में सुब्बाराव ने १६ वैज्ञानिकों को इस सम्बन्ध में सामूहिक रूप से प्रयत्न करने के लिये लगाया। जब उनका एक प्रयोग असफल हो जाता तो वह कहते कि "हम जान गये कि यह तरीका ठीक नहीं है, हम कोई दूसरा तरीका अपनायेंगे। हमें यह समझ लेना चाहिए कि असफलता का सामना मनुष्य को ही करना पड़ता है।"

२० जुलाई १६४५ को डा० सुब्बाराव के स्टाफ के सदस्य सुनहरे पीले रंग के चूर्ण के रूप में फोलिक ऐसिड का विश्लेषण करने में सफल हो गये।

रक्त की न्यूनता से पीड़ित रोगियों को प्रतिदिन यह चूर्ण खिलाया गया। थोड़े ही दिनों में उनके चेहरे का रंग बदल गया और शरीर की मांसपेशियों की शक्ति भी बढ़ गई।

इसके बाद यह चूर्ण संग्रहणी रोग से पीड़ित रोगियों को खिलाया गया। २५ वर्ष पूर्व सुब्बाराव के भाई की मृत्यु इसी रोग के कारण हुई थी। पिचके गाल वाले रोगी, जो कठिनाई से थोड़ा बहुत पथ्य ले सकते थे, चूर्ण के ३-४ दिन के सेवन के उपरान्त ही अच्छी तरह भोजन करने लगे। उनका अतिसार का रोग तथा उनकी पेट दर्द की शिकायत बिलकुल दूर हो गई। एक सप्ताह के अन्दर ही वे घूमने फिरने लगे।

जब विशाल पैमाने पर इस पदार्थ का उत्पादन किया

गया तो इसकी लागत २००१ डालर प्रतिग्राम से घट कर एक बीमार की दवा पर १५ सेन्ट तक रह गई।

डा० सुब्बाराव काम पर जाने से पूर्व दो घंटे तथा रात्रि को ५ घंटे तक नियमित रूप से अध्ययन करते थे। उक्त खोज करने के दौरान में तो कभी कभी उनको बिना आराम किये लगातार ३६ घण्टे तक काम करना पड़ा।

पेनिसिलीन और स्ट्रेप्टोमाइसिन औषधियों की न्यूनताओं को अनुभव करते हुए डा० सुब्बाराव ने ऐसी कीटाणुनाशक औषधि की खोज शुरू की जो व्यापक रूप से उपयोग में लाई जा सके। उनकी इस खोज के परिणामस्वरूप 'ओरियोमाइसिन' नामक औषधि का विकास हुआ। यह औषधि उन सभी रोगों के लिये प्रभावशाली सिद्ध हुई जिन पर इससे पूर्व किसी भी दवा का कोई विशेष असर नहीं पड़ता था। इन रोगों में टाइफस ज्वर, रोकी पर्वतमाला के प्रदेश में होने वाला ज्वर तथा सूखा रोग भी शामिल है।

डा० सुब्बाराव की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह दूसरे लोगों की आवश्यकताओं का बहुत ध्यान रखते थे। वह कहा करते थे कि 'मैं दुनिया में खाली हाथों आया था और खाली हाथों ही जाऊँगा।" उन्होंने अपना सब कुछ दान कर दिया ताकि "संसार से विदा लेते समय सब हिसाब-किताब साफ रहे।" उनकी यह परोपकारवृत्ति उसी समय से प्रारम्भ हो गयी थी जब वह हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में शिक्षक थे। क्षय रोग से ग्रस्त अपनी एक सहायिका को वह सेनिटोरियम में रहकर आरोग्य-लाभ करने के लिये आठ वर्ष तक प्रतिमास अपने वेतन का आधा भाग भेजते रहे। वह कहते थे कि 'मैं यह चाहता हूँ कि वह यह अनुभव करे कि दुनिया में उसकी परवाह करने वाला भी कोई है।'

वह अज्ञात रूप से ज़रूरतमन्दों को आर्थिक सहायता करते थे। अविवाहित होने पर भी उनको बालकों से बहुत प्रेम था और बड़े दिन पर वे गरीब परिवारों के बालकों के लिये भेंट और भोजन भेजते थे।

प्रारम्भ से ही उन्होंने अमेरिका को बहुत पसन्द किया। मृत्यु से कुछ समय पूर्व उन्हें अमेरिकी नागरिकता के प्रमाणपत्र प्राप्त हुए थे।

९ अगस्त १९४८ को सोमवार के दिन डा० सुब्बाराव का शान्तिपूर्वक देहावसान हो गया। कुछ समय पश्चात् उनके चर्च के पादरी ने उनके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि डा० सुब्बाराव के निधान से मानव जाति को बहुत बड़ी क्षति पहुँची है। उन्होंने अपना एक भाई गँवा कर सब मनुष्यों को अपना भाई बना लिया और वह दूसरों के लिये अपने जीवन की भी आहुति दे गये।

(यूनाइटेड स्टेट्स इन्फार्मेशन सर्विस के सौजन्य से)

(पृष्ठ १८३ का शेष)

Vagina—**योनि**—गर्भाशय से शरीर के बाहर की ओर आने वाली स्त्री प्रजनन-प्रणाली।

Vas Deferens—**शुक्र-प्रणाली**—पुरुष की प्रजनन-प्रणाली जो शुक्रकीटों को ग्रन्थि से लिंग तक लाती है।

Vernix Caseosa—**'वर्निक्स केसियोसा'**—भ्रूण की त्वचा को ढकने वाला, चर्बी तथा निर्जीव कोष्ठों का चिपचिपा, लसदार एक पदार्थ।

Vertebrae—**मेरु-खण्ड**—मेरुदण्ड बनाने वाले तेतीस छोटे छोटे अस्थि-खण्ड।

Vestibule—स्त्री में वस्ति प्रदेश के निचले छोर पर स्थित एक उथला उपादान, जिसमें योनि तथा मूत्र प्रणाली खुलती है।

Yolk sac—**योक-थैली**—एक मास के गर्भपिण्ड के ऊपर से सम्बद्ध योक हीन एक छोटी थैली।

तीव्रतम गति (जेट विमान)

श्री विश्व श्रुति

मनुष्य द्वारा दूरी पर विजय के प्रयत्न में आधुनिकतम खोज जेट वायुयान हैं। उनकी कहानी प्रस्तुत लेख में पढ़ें।

हमारा अब तक जिस प्रकार के वायुयानों से परिचय है वे प्रायः सभी यान चक्रों (प्रोपैलर) से चलने वाले हैं। १६४१ में सर फ्रैंक ह्विटल ने यह प्रदर्शन कर के दिखाया कि वायुयान बिना यानचक्रों के अधिक तीव्र गति से उड़ाये जा सकते हैं। युद्धकाल में इस प्रकार के वायुयानों का सफलता पूर्वक प्रयोग भी किया गया। बिना यानचक्रों के चलने वाले इन वायुयानों को जेट विमान नाम दिया गया। युद्ध समाप्त होते ही वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर गया कि क्यों न इस प्रकार के विमानों का प्रयोग नागरिक उड्डयन के लिये भी किया जाये। इस दिशा में विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता इसलिये अनुभव हुई क्योंकि यह अनुभव किया गया कि इस प्रकार के विमानों से तुलनात्मक दृष्टि से ईंधन का व्यय बहुत कम हो जाता था। युद्धकाल में काम में लाये गये जेट फाइटरों के अनुभवों के आधार पर १६४४ में नागरिक उड्डयन के अनुरूप इस प्रकार के विमान बनाने के प्रयत्न आरम्भ हुए।

इस वर्ष के आरम्भ में ब्रिटिश ओवरसीज एयरवेज कारपोरेशन के एक जेट विमान डी. हैविलैंड कोमेट ने लंडन से कलकत्ता तक की परीक्षणात्मक उड़ान ली थी, उस की प्रथम योजना अक्टूबर १६४६ में तैयार हुई, और इसने प्रथम उड़ान २७ जुलाई, १६४६ को ली। इसकी चालन प्रक्रिया को छोड़कर यह प्रायः सभी बातों में अन्य विमानों के सदृश है। इसका आकार प्रकार उतरने और विदा लेने की विधि भी अन्य विमानों की भांति है। अन्य विमानों से इसकी विभिन्नता यह है कि यह ४० ०० फीट (साढ़े सात मील से भी अधिक) की ऊंचाई पर उड़ता है जो कि अन्य विमानों की उड़ान की ऊंचाई से लगभग ५० प्रतिशत अधिक है। इस की गति ५०० मील प्रति घंटा है जो कि अन्य विमानों की गति से ६० प्रतिशत अधिक है। यात्रियों के दृष्टिकोण से भी इस में एक विशिष्टता है। सामान्य विमानों में यानचक्रों को तीव्र गति से जो धक्के कभी-कभी अनुभव होते हैं, वे इस में अनुभव नहीं होते।

इन विमानों का नाम जेट रखने का एक कारण है। प्रायः विज्ञान की प्रारम्भिक कक्षाओं में यह परीक्षण कराया जाता है कि ऊँचाई पर पानी रख कर उसके नीचे एक कांच की नली लगा देते हैं और उसे नीचे तक ला कर पुनः मोड़ कर ऊपर की ओर ले जाते है और उसके मुंह पर एक ऐसी नली लगाते हूँ जिसका मुंह आंखों में दवाई डालने वाले ड्रापरों की नली की भाँति एक ओर से खुला हुआ और दूसरी ओर से तंग (फुव्वारा, जेट) होता है। ऊपर से जब दबाव में पानी आता है तो तंग मुंह से निकलने के कारण तथा पीछे के दबाव के कारण उसका वेग बढ़ जाता है। इसी भाँति इन विमानों के इंजनों में सामने एक खुला हुआ मुंह होता है जिस में से बहुत दबाव के साथ वायु को अन्दर फेंका जाता है। दबाव के साथ आनेवाली यह वायु एक विशेष प्रकार के प्रकोष्ठ (चेम्बर-कमरा) में प्रविष्ठ होती है। इस प्रकोष्ठ में इसके साथ पैराफिन या पैट्रोलियम तेल अथवा मिट्टी का तेल धीमे-धीमे मिलाया जाता है। इन तेलों के स्थान पर कोयले का

चूरा भी मिला कर परीक्षण किये गये हैं और उन में भी सफलता मिली है। प्रकोष्ठ में यह मिश्रण जलता है साथ ही वहाँ उत्पन्न गैसों से विस्फोटन भी होता है। इन विस्फोटनों के परिणाम से उत्पन्न गैसें बड़े वेग से बाहर निकलना चाहती है, पर गैसों के निकलने का मार्ग बहुत छोटा रखा जाता है, इस कारण मार्ग के छोटे होने से बहुत अधिक दबाव से गैस बाहर निकलती है। परिणामतः जब गैस पीछे की ओर निकलेगी तो विमान को जोर से आगे की ओर धकेलेगी। इस प्रकार के निरन्तर धक्कों से विमान निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। जिस छोटे से मुंह से यह गैस निकलती है उसे अंग्रेजी में जेट कहते हैं, यही इस नामकरण का मूल है।

ऊपर निर्दिष्ट कोमेट में इसी ढँग के चार जेट इंजन लगे हैं। इनकी विशालता के कारण इन्हें दैत्याकार इंजिन का नाम दे दिया गया है। प्रत्येक इंजन के जेट पर जहाँ से गैसें बाहर फैंकी जाती हैं ५००० पौंड का दबाव रहता है। इस का यान्त्रिक नियंन्त्रण भी अन्य वायुयानों की अपेक्षा अधिक सरल है क्योंकि अन्य प्रकार के विमानों के अनेक यान्त्रिक उपकरण और नियंत्रण इसमें रखे ही नहीं गये। इसलिए नियंत्रण की सरलता के साथ इसकी देख-भाल में कम समय, कम परिश्रम और कम चालकों की आवश्यकता रहती है।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है इसकी उड़ान की ऊँचाई ४०,० ० फीट है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है यह विमान जितना ऊँचा उड़ेगा उतनी ही इसकी गति तीव्र होगी, कम ऊँचाई पर इस की गति कम होगी जब कि ईंधन के व्यय की मात्रा में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ेगा। अन्य प्रकार के विमान में ऐसी बात नहीं है, उन में ईंधन के इस प्रकार व्यय की सम्भावना नहीं होती। यह बताया गया है कि कोमेट में प्रति घंटा तीन टन ईंधन (कैरोसीन तेल) का व्यय होता है। अर्थात् जब विमान ४०,००० फीट की ऊँचाई पर ५०० मील प्रति घंटा के हिसाब से उड़ रहा है तो भी तीन टन ईंधन प्रति घंटा व्यय होगा और जब यह हवाई अड्डे पर उतरने के लिए २५०-३०० मील दूरी से ही ३०,००० फीट की ऊँचाई से उतर कर नीचे २०,००० फीट की ऊँचाई पर आने लगेगा और परिणाम स्वरूप इसकी गति कम हो गई होगी तो भी ३ टन ईंधन प्रति घंटा व्यय हो रहा होगा।

चालीस हजार फीट की ऊँचाई पर सामान्यतः वायुमंडल का दबाव बहुत कम होता है, इस वायुमंडल में साँस लेने में भंयकर कठिनाई होती है। परन्तु कोमेट विमान के अन्दर यह प्रबन्ध किया गया है कि उस में बैठे यात्रियों को केवल यही अनुभव होगा कि वे ८,००० फीट की ऊँचाई पर है। जब यह विमान उतर कर २०,००० फीट की ऊँचाई पर आ जाता है तो विमान के अन्दर का दबाव समुद्र तल के बराबर होता है। इसलिए अन्दर बैठे यात्रियों को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

इसकी तीव्रगति का एक यह भी लाभ है कि हवाई अड्डे से विमानों को निर्देश देने वाला और नियन्त्रण करने वाला विमान के पहुँचने से लगभग एक घंटा पूर्व ऋतु सम्बन्धी पूर्व संवाद अधिकतम सही रूप में बता सकता है। एक घंटा पूर्व विमान के अड्डे से ३००-४०० मील दूर और ४०,००० फीट ऊँचाई पर होने के कारण ऋतु संबंधी खराबी के कारण उसे किसी अन्य अड्डे पर उतरने का आदेश या परामर्श दिया जा सकता है। और इस प्रकार के विमान को इसमें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। इस के विपरीत सामान्य विमान एक घंटा पूर्व अड्डे से १५०-२०० मील प्रायः इस से भी बहुत कम दूरी पर होते हैं, किसी अन्य अड्डे पर जाने में उन्हें बहुत कठिनाई होती है।

यह हिसाब लगाया गया है कि यदि जेट विमान का आकार प्रकार, बोझ उठाने की शक्ति आदि सामान्य विमान की भांति रखी जाये तो इस से व्यय में प्रति टन मील २० प्रतिशत कमी आ जाती है, यद्यपि प्रगट रूप से एक घंटे में जेट विमान का ईंधन व्यय आर्थिक दृष्टि से बहुत अधिक है, तोभी तीव्र गति के कारण व्यय कम हो जाता है।

विमानों की दिशा में हम लोगों ने स्वयं नगण्य सी प्रगति की है परन्तु विदेशों में होने वाली प्रगति से हम आखें मींज कर नहीं बैठ सकते।

गर्भपिंड विज्ञान शब्दावली

श्री नरेन्द्र

After-birth—जन्मोपरान्त स्रवित पदार्थ—गर्भझिल्ली, अम्नियन तथा योक-थैली आदि का मिश्रित, कोष्ठ-समूहों का पदार्थ-समूह जो प्रसव के बाद गर्भाशय के बाहर निकाला जाता है।

Amnion—अम्नियन—गर्भाशय के भीतर भ्रूण को चारों ओर से घेरने वाली झिल्लीदार पतली थैली; एक द्रव पदार्थ, अम्नि-यातिक द्रव से भरी हुई, जो धमक व धक्कों आदि से शिशु की रक्षा करता है।

Anus—गुदा—अंतड़ियों का बाहिरी द्वार।

Auricles—ओरिकिल्स—हृदय के दो पतली दीवालों वाले प्रकोष्ठ जो शिराओं से रक्त को ग्रहण करते और फिर पेशीयुक्त वेन्ट्रिकिल्स को पहुँचा देते हैं।

Blastocyst—ब्लास्टोसिस्ट—दूसरे सप्ताह की अवधि में विकासगत रजाण्ड के लिये प्रयुक्त नाम, जब कि रजाण्ड कोष्ठों की छोटी व खोखली एक गेंद होता है।

Blood Islands—रक्त-द्वीप—अतिअल्पायुगत गर्भपिण्ड की योक-थैली के भीतर कोष्ठ-समूह के छोटे क्षेत्र, जिनमें प्राथमिक रक्त-कोष्ठों की रचना होती है।

Branchial Arches—शाखा सम्बन्धी वृत्त—पाँच सप्ताह की आयु के गर्भपिण्ड के कण्ठ के पार्श्वों पर स्थित घने कोष्ठ-समूह के दण्ड, जो तथाकथित 'श्वास-दरारों' के बीच पड़े हैं; बाद में जबड़े, कान तथा कण्ठ-दीवालों की रचना में प्रयुक्त होते हैं।

Cartilage—कोमलास्थि—हड्डी की जगह तथा उसके पूर्वरूप के समान, गर्भपिण्ड में प्रयुक्त होने वाला अर्धपारदर्शी तथा कोमल एक पदार्थ।

Cell—कोष्ट—सब जीव-शरीरों के आकार की इकाई, जीव-पदार्थ का घिरा हुआ एक अत्यन्त छोटा पदार्थ।

Cerebral Hemispheres—सेरेब्रियल वृत्तार्ध—मस्तिष्कीय कोष्ठ-समूह के दो विशाल पदार्थ-समूह जो स्नायवी संस्थान के उच्चतम सम सम्बन्धी केन्द्र के समान काम करते हैं।

Chondrocranium—कोण्ड्रोक्रेनियम—गर्भपिण्ड के मस्तिष्क के तले को साधने वाली, कोमलास्थि की एक मोटी पत्ती जो बाद में कपाल की आधार-अस्थियों द्वारा स्थानान्तरित कर दी जाती है।

Chromosomes—क्रोमोसोम्स—पशु या पौधे के प्रत्येक कोष्ठ के भीतर निश्चित रूप तथा निश्चित संख्या में पाए जाने वाले, विशेष पदार्थ के छोटे छोटे समूह।

Cleavage—'क्लीवेज' अथवा कोष्ट-विभाजन—गर्भित रजाण्ड को अनेक कोष्टों में विभक्त करने वाली विधि, मूल कार्यविधि जो सब जीवों के विकास काल में घटती है।

Clitoris—भगनासा—स्त्री में एक छोटा, घुण्डीदार आकार, जिसकी तुलना स्थिति तथा उत्पत्ति सम्बन्धी दृष्टि से पुरुष के लिंग से की जा सकती है।

Coitus—संयोग—स्त्री की प्रजनन-प्रणाली के भीतर पुरुषलिंग को ले जाने वाली तथा लिंग से वीर्यपात की क्रिया।

Congenital—जन्मजात प्रवृत्ति—गर्भकालीन जीवन में अनुग्रहीत गुणों व आकारों को बतलाने में प्रयुक्त विशेषण, वंशानुगत अथवा जन्मोत्तरकाल में विकसित होने वाली विशेषताओं से विभिन्न।

Cornea—नेत्र-झिल्ली - नेत्रों के सामने की कड़ी व पारदर्शी खोल।

Cryptorchism—क्रिप्टोर्चिज्म—अण्डकोषों में अवतरित न होकर वस्तिप्रदेश में ही रह जानेवाली शुक्र-ग्रन्थि अवस्था; अस्वाभाविक अवस्था जिसमें अधिकतर पुंसत्त्वहीनता का समावेश रहता है।

Cyclopia—'साइक्लोपिया'—एक असाधारण विकार, जिसमें या तो केवल एक ही नेत्र होता है अथवा दो नेत्र परस्पर जुड़ जाते हैं।

Decidual Reaction—गर्भप्रस्थापी प्रक्रिया—

गर्भाशय की दीवाल में विकासगत रजाण्ड के प्रवेश के फलस्वरूप, गर्भाशय के भीतर घटनेवाले परिवर्त्तन।

Dental Ridge—दन्त किनारी—गर्भपिण्ड के मुख के तल प्रदेश से भावी मसूड़ों के भीतर की ओर उगने वाले कोष्ठों की एक पत्ती, दन्त-कलिकाओं के सफेदी बनाने वाले कोष्ठ इसी से उत्पादित होते हैं।

Dentine—दन्तीन—सफेदी के ठीक नीचे स्थित, दांतों की हड्डीदार सतह।

Diaphragm—'डायफ्राम'—वक्ष-कोठरी को उदर-कोठरी से अलग करनेवाला आड़ा व पेशीयुत एक पर्दा।

Ectoderm—'ऐक्टोडर्म'—अति अल्पायुगत गर्भपिण्ड में कोष्ठों की ऊपरी सतह, जिससे त्वचा, स्नायवी संस्थान तथा इन्द्रियां बनती हैं।

Embryo—गर्भपिण्ड—गर्भजीवन के प्रथम दो मास की अवधि में व्यक्ति का नाम।

Embryology—गर्भपिण्ड-विज्ञान—विकासगत जीव का विज्ञान।

Embryonic Disc—गर्भपिण्डीय चकती—जीवन के दूसरे सप्ताह की अवधि में, गर्भपिण्ड के भावी शरीर की प्रतिनिधि, कोष्ठों की चपटी तथा चकतीनुमा एक पत्ती।

Enamel—दांतों की सफेदी—मानवीय दांत को ढँकने वाला कठोर व चिकना एक पदार्थ।

Endocrine glands—'एण्डोक्रीन ग्रन्थियां'—रक्त में जीवनशक्तिदायी रसायनों को स्रवित करने वाले विशेष अंग; ये रसायनिक 'हार्मोन' शरीर के विविध भागों में स्थित अनेक अंगों की कार्यविधि को प्रभावित अथवा नियंत्रित करते हैं।

Endoderm—'एण्डोडर्म'—गर्भपिण्डीय चकती के कोष्ठों की निचली सतह; इस सतह से पाचक-नली तथा सहयोगी आकारों के नलों की रचना होती है।

Epididymis—'ऐपीडिडायमिस'—शुक्र-ग्रन्थियों को लिंग की ओर ले जाने वाली प्रणाली के साथ सम्बंधित करने वाली नलिकाओं का एक छोटा समूह; मध्यकालीन गुर्दे के अवशेषों से निर्मित।

Esophagus—ईसोफेगस—पाचक नली का पहला भाग, कण्ठ से आमाशय की ओर जाने वाला।

Extra-Embryonic—अतिरिक्त गर्भ-पिण्डीय—गर्भित रजाण्ड से उत्पादित उन सब आकारों के लिये प्रयुक्त नाम, जो गर्भपिण्ड के शरीर-संयोजन में नहीं जाते।

Fertilization—गर्भाधान—एक सक्रिय शुक्र-कीट का एक परिपक्व रजाण्ड के भीतर प्रवेश, एक नये व्यक्ति की रचना हेतु इन दोनों का सम्मिलन।

Fetus—भ्रूण—तीसरे से नौवें मास तक की गर्भकालीन अवधि के लिये मानवजीव को दिया गया नाम।

Fontanelles—मस्तकीय कोमल-स्थान—शिशु के मस्तक के ऊपरी भाग के कुछ क्षेत्र जो कपाल की हड्डी से पुरे नहीं गए हैं।

Foregut—अग्र-अंतड़ी—एक मास की आयुवाले गर्भपिण्ड के पाचक-संस्थान का अगला छोर।

Genitalia—प्रजनन-अंग—

Genital Tubercle—प्रजनन-घुण्डी—द्विमासीय गर्भपिण्ड में, गर्भनाल के नीचे, निकली उत्तरप्रदेशीय दीवाल पर एक छोटी घुण्डीदार उभड़न; पुरुष में लिंग तथा स्त्री में भगनासा की रचना इसी आकार से होती है।

Gigantism—वृहताकारिता—सारे शरीर अथवा किसी एक भाग का अति विशालाकारी हो जाना।

Gill-Clefts—पांच सप्ताहवाले गर्भपिण्ड में कण्ठ प्रदेश के पार्श्व पर स्थित दरारों का एक क्रम; जिनकी तुलना स्थिति तथा आकार की दृष्टि से निम्न पशुओं की श्वास-दरारों से की जा सकती है।

Gonads—प्रजनन-ग्रन्थियाँ—पुरुष में शुक्र-ग्रन्थि तथा स्त्री में डिम्ब-ग्रन्थि।

Gubernaculum—ग्युबर्नेक्युलम—शुक्र-ग्रन्थियों को अण्ड-कोषों के भीतर खींच ले जाने वाली, रेशेदार बन्धन।

Hermaphroditism—उभयलिंगी-प्रवृत्त—एक दो व्यक्ति में दोनों जातियों के प्रजनन-अंगों के पाये जाने वाली अवस्था।

Hernia—हर्निया—उदर-प्रकोष्ठ के बाहर अँतड़ियों का निकल जाना।

Hind Gut—पुच्छ अँतड़ी—एक मास वाले गर्भपिण्ड में पाचक-नली का निचला अथवा पुच्छल भाग।

Hormones—होर्मोन—रक्त-संस्थान में संचरित होने वाले, ऐराडोक्रीन ग्रन्थियों से स्रवित शक्तिशाली रसायन, जो अनेक अंगों के काम का नियन्त्रण करते हैं।

Hymen—योनिच्छद—योनि के निचले छोर को बन्द करने वाली, अलग अलग मुटापे की झिल्ली।

Implantation—स्थिति-स्थापन—गर्भाशय की दीवाल में विकास-गत रजाण्ड का प्रतिष्ठान।

Inguinal Canal—'इंगिवनल छिद्र'—वस्ति-प्रकोष्ठ को अण्डकोषों के साथ सम्बन्धित करने वाली उत्तर प्रदेशीय दीवाल में एक विकार, खुला हुआ छेद; शुक्र-ग्रन्थियां इसी में होकर अण्डकोषों से अवतरित होती हैं।

Inter-Sex—अन्तर-लिंगीय—दोनों लिंगजातियों के अंगों अथवा विशेषताओं वाला एक व्यक्ति।

Iris—नेत्र-पुतली—नेत्र-तारे को चारों ओर से घेरने वाला, रंगदार एक पर्दा।

Islets of Langerhans—लैंगरहान्स द्वीप खण्ड—शकर-उपयोग को प्रभावित करने वाले एक होर्मोन, इन्सुलीन का स्रवण करने वाले विशेष कोष्ठों का, पैन्क्रियाज-स्थित एक समूह।

Labia—ओष्ठ—स्त्री के बाह्य प्रजनन-अंगों के चारों ओर के विशेष आकार वाले ओष्ठ।

Labio-Scrotal Swellings—ओष्ठाण्ड कोषीय सूजनें—प्रजनन-घुण्डी के दोनों ओर उभड़ी हुई सूजनें, जो स्त्री में ओष्ठ तथा पुरुष में अण्डकोष बनती हैं।

Lanugo—लैन्युगो—पंचमासीय से नौमासीय भ्रूण के सारे शरीर पर छाई हुई महीन रोमावली जो जन्म के बाद अधिकतर लुप्त हो जाती है।

Larynx—ध्वनि-प्रकोष्ठ—श्वास-नली के ऊपरी छोर पर स्थित ध्वनि उत्पादक कोठा।

Limb-Buds—अवयव-कलियाँ—एक मास के गर्भपिण्डीय शरीर के पार्श्वों पर उभड़ी हुई सूजनें जो बाद में अवयव बनाती है।

Maturation—परिपक्वीकरण—पूर्ण विकसित होने की क्रिया प्रजनन-कोष्ठों के इतिहास में एक विशेष स्थिति के लिये प्रयुक्त।

Meconium—भ्रूण की अंतड़ियों में एकत्र हो जाने वाले, निर्जीव कोष्ठ, कफ व पित्त आदि का चिपचिपा, हरा पदार्थ।

Menstruation—मासिक स्राव—गर्भाशय से प्रत्येक मास कुछ कोष्ठ समूह व रक्त का स्रवण होना; गर्भाशय के भीतर उठान व गिरान के जनन सम्बन्धी अनवरत चक्र का बाहिरी लक्षण।

Mesoderm—'मेजोडर्म'—दो सप्ताह की आयु वाले गर्भपिण्ड में गर्भपिण्डीय चकती के कोष्ठों की बिचली सतह; मांसपेशियां, हड्डियाँ तथा अनेक ग्रन्थियां 'मेजोडर्म' से निर्मित होती हैं।

Mesonephros—'मेजोनेफ्रोस'—गुर्दानिर्माण पर दूसरा प्रयास, मध्यकालीन गुर्दा; दो महीने आयु वाले गर्भपिण्ड में घटने वाला जो कि अन्तिम गुर्दे के निर्माण के बाद अधिकांश में विनष्ट हो जाता है।

Metanephros—'मेटानेफ्रास'—गुर्दा निर्माण पर तीसरा अन्तिम प्रयास; यही वयस्क-गुर्दा बनता है।

Mullerian Ducts—मुइलरियन प्रणालियाँ—दूसरे मास के दौरान दोनों लिंगजातियों में विकास पाने वाली स्त्री-लिंगी जनन-प्रणालियां।

Myelin—'माइयेलिन'—कुछ स्नायवी तन्तुओं के चारों ओर खोल बनाने वाला एक चर्बीदार पदार्थ।

Neural Plate—स्नायवी पत्ती—तीन सप्ताह वाले गर्भपिण्ड में पाये जाने वाली, मोटी एक्टोडर्म की चपती पत्ती।

Ossification—'ओस्सीफिकेशन'—अस्थि-रचना की विधि; कोमलास्थि के भीतर व चारों ओर, या ढीले योगिक कोष्ठ समूहों की झिल्लियों में घट सकती है।

Ovary—डिम्ब-ग्रन्थि—स्त्री की जनन-ग्रन्थि, जिसमें रजाण्डों का निर्माण तथा परिक्वीकरण होता है।

Ovulation—डिम्ब-ग्रन्थि से परिपक्व रजाण्ड की छूट।

Ovum—रजाण्ड।

Palate—नाक की तली व मुख की छत बनाने वाली, हड्डी तथा कोमल कोष्ठ समूहों की आड़ी धरन।

Pelvis—वस्ति वृत्त—उदर-प्रकोष्ठ के निचले भाग को घेरनेवाला अस्थि-वृत्त; जो कूल्हे पृष्ठ तथा वस्ति प्रदेश की हड्डियों का बना रहता है।

Penis—लिंग ।

Philtrum—'फिल्ट्रम'—ऊपरी ओष्ठ का केन्द्रीय, नालीदार, भाग ।

Pituitary—पिट्यूटरी—मस्तिष्क के तल पर स्थित एक ग्रन्थि; इसका स्रवण शरीर-वृद्धि, प्रजनन-विकास तथा क्रिया को प्रभावित करता है ।

Placenta—गर्भझिल्ली—गर्भित गर्भाशय की दीवाल में विकास प्राप्त, माता तथा गर्भपिण्ड की रक्त-नलिकाओं के सम्मिलित केन्द्र के रूप में उपयुक्त, रक्त-धनी कोष्ठों का समूह, गर्भपिण्ड की ओर आक्सीजन तथा भोजन भेजने वाला अंग ।

Pre-Natal—जन्मपूर्व—जन्मपश्चात जीवनकाल से जन्म-पूर्व, गर्भजीवन काल को अलग बतलाने वाला शब्द ।

Pronephros—'प्रोनेफ्रास—एक-मासीय गर्भपिण्ड के भावी कण्ठ प्रदेश में रची जाने वाला 'प्रथम गुर्दा'; पूरी तरह विलुप्त हो जाता है ।

Prostate—प्रोस्टेट—पुरुष में मूत्राशय के आधार तल पर स्थित एक बड़ी ग्रन्थि; प्रजनन-संस्थान का एक भाग ।

Pupillary Membrane—पुतलीय झिल्ली—छः से आठ मास भ्रूण में नेत्र की पुतली को ढकने वाली एक पतली झिल्ली ।

Recapitulation—जीवविकास क्रमगत पुनरावृत्ति—गर्भपिण्ड के विकास में उन आकारों की रचना के लिये प्रयुक्त शब्द; जो जीवों की केवल निम्न श्रेणियों में ही उपयोगी अथवा प्रमुख थे ।

Retina—नेत्र-पर्दा—नेत्र को ढँकने वाली चेतनशील झिल्ली; इसमें प्रकाश-प्रभावित होने वाले विशेष कोष्ट होते हैं ।

Scrotum—अण्ड कोष—पुरुष में वस्ति-प्रदेश के निचले छोर से लटकने वाली पेशी तथा त्वचा की दुहरी खोल, जिसमें शुक्र ग्रन्थियां रहती हैं ।

Situs Inversus—वामांग परिस्थिति—आन्तरिक अंगों की अस्वाभाविक स्थिति, जिसमें अस्वाभाविक रूप से बांयी ओर पाए जाने वाले अंग दाहिनी ओर अवस्थित तथा दाहिनी ओर पाए जाने वाले बांयी ओर अवस्थित होते हैं ।

Skeleton—अस्थि-कंकाल ।

Somites—सोमाइट्स—तीन सप्ताह के गर्भपिण्ड में पीठ के सहारे रचे गए, 'मेजोडर्म' के छोटे-छोटे टुकड़े, जो बाद में मांसपेशी तथा मेरुखण्डों को बताते हैं ।

Sperm—शुक्र—पुरुष के विशेष प्रजनन-कोष्ठ; अतिसूक्ष्म, पुच्छल जीव, जो तैर सकते हैं ।

Synapses—'साइनेप्सेज'—यह क्षेत्र जिसमें दो पृथक स्नायवी कोष्ठों के तन्तु परस्पर निकट सम्बन्ध स्थापित करते हैं; अनुमानतः वह प्रदेश जहाँ पर स्नायवी संकेत एक तन्तु से दूसरे में भेजा जाता है ।

Testes—शुक्र ग्रन्थियाँ—पुरुष की विशेष प्रजनन-ग्रन्थियां जिनमें शुक्रकीट बनते तथा पकते हैं ।

Thyroid—'थायराइड'—कण्ठ के आधारतल पर स्थिति एक 'एण्डोक्रीन' ग्रन्थि, इसका स्रवण शरीर-वृद्धि तथा व्यापक शारीरिक क्रिया को प्रभावित करता है ।

Tissues—कोष्ठ समूह—एक ही क्रिया के लिये सम्बद्ध हुए कोष्ठों के समूह ।

Tooth Germs—दन्तबीज—चार मास से सात मास वाले भ्रूण के मसूड़ों में विकसित हुए कोष्ठ समूह की नोकदार कलियां, इनमें से प्रत्येक भविष्य के अस्थायी तथा स्थायी दांत के लिये होती है ।

Trechea—श्वास नली—कण्ठ से फेफड़ों तक जाने वाली ।

Trophoblast—ट्रोफोब्लास्ट—एक मास के गर्भपिण्ड को बाहर से घेरने वाले कोष्ठों की विशेष सतह, जो गर्भाशय की दीवाल को खोद खाती तथा बाद में गर्भझिल्ली का भाग बन जाती है ।

Umbilical Cord—गर्भनाल—गर्भपिण्ड को गर्भझिल्ली से जोड़ने वाली एक मोटी रस्सी; जिसमें होकर गर्भपिण्ड की ओर तथा गर्भ पिण्ड से तीन रक्त-नलियां आती या जाती हैं ।

Ureter—मूत्र-नली—गुर्दों से मूत्राशय तक मूत्र को ले आने वाली प्रणाली ।

Uterine Tubes—डिम्ब नलियां—गर्भाशय को डिम्ब-ग्रन्थियों से सम्बद्ध करने वाली दो नलियाँ ।

Uterus—गर्भाशय—स्त्री प्रजनन-संस्थान का मोटा पेशीयुक्त एक अंग, जो गर्भपिण्ड के अवस्थान का क्षेत्र होता है ।

(शेष पृष्ठ १७७ पर)

विज्ञान-समाचार

भारत में यक्ष्मा विरोधी मोर्चा (बी० सी० जी० का चमत्कार)

मनुष्य-जातिके कुख्यात, घातक शत्रुओं में से एक यक्ष्मा भी है। विश्वभरके सभी देशों की तुलना में भारत में इसका प्रभाव-क्षेत्र अधिक विस्तृत है। इसके कुप्रभाव से प्रतिवर्ष पांच लाख के अधिक व्यक्ति मृत्यु का ग्रास बनते और लगभग २. लाख मानव काम के अयोग्य बना दिए जाते हैं।

मानव-जातिको इस सामाजिक एवं आर्थिक भयंकर शत्रु से सुरक्षित रखना तब तक असम्भव है, जब तक मनुष्यों के आवास, आहार, आरोग्य जलप्रापण और सामान्य जीवन-स्तरमें आवश्यक सुधार न हो, तथा भारी संख्या में क्षयरोग-आरोग्यशालाओं तथा अस्पतालों इत्यादि की समुचित व्यवस्था न हो।

भारत में, इस समय यक्ष्माग्रस्त रोगियों के लिए, कम से कम, ५,००,००० बिस्तरों, ४,००० आरोग्य-शालाओं १५,००० सनद प्राप्त डाक्टरों और ६०,००० प्रशिक्षित दाइयों तथा स्वास्थ्य परिचारकोंकी आवश्यकता है, किन्तु हमारे पास केवल ११,५६० बिस्तरे, ११९ आरोग्यशालाएं २०० डाक्टर और ४०० दाइयां हैं। अकेली उपरोक्त संस्थाओंकी स्थापनाके लिए ५०० करोड़ रु० से अधिक खर्च का अनुमान है।

इस अन्धकारपूर्ण पृष्ठभूमि में यदि कहीं आशा की किरण दिखाई देती है तो वह है यक्ष्मा-निरोधक बी० सी० जी० का टीका, जिसका प्रयोग, अन्तर्राष्ट्रीय-यक्ष्मा-मोर्चा के तत्वावधान में, अब तक १,५०,००,००० बच्चों एवं नव-वयस्कों पर किया जा चुका है। चेकोस्लोवाकियाने जहां १ वर्ष की अवधि में अपने देश के लगभग ३०,००,००० व्यक्तियों को यह टीका लगा कर अपनी सारी नववयस्क आबादीको इस रोग के आक्रमण से सुरक्षित कर लिया है, वहां जापान में पिछले वर्ष से अब तक ३,००,००,००० व्यक्तियों को यह टीका लग चुका है और रूसमें तो प्रत्येक नवजात शिशु के लिए यह टीका अनिवार्य ही है। अब तक विश्व भर में कोई ५,००,००,००० व्यक्तियोंको यह टीका लग चुका है।

बी० सी० जी० के आविष्कार का सेहरा फ्रांस के दो वैज्ञानिकों श्री कालमेट और गुइरिन—के सिरपर ही बँधेगा क्योंकि उन्होंने ही लगभग ३० वर्ष पूर्व इस महौषध का आविष्कार किया था।

१९२१ से लेकर २५ वर्ष तक के लगातार प्रयोग तथा तज्जन्य प्रभाव से जो अनुभव प्राप्त हुए, उनसे प्रकट है कि यह महौषध जहां यक्ष्मा से सुरक्षित रखने के लिए चमत्कारी प्रभाव रखती है, वहां किसी भी हानिप्रद प्रभाव से सर्वथा रहित है। इसके लिए दक्षिण अफ्रीका के एक दिन के नवजात शिशुका उदाहरण ही पर्याप्त होगा, जिसका जन्म क्लोम-यक्ष्मा-पीड़ित मांसे होने के कारण, उसे जब यह टीका लगाया गया, और भूल से, औषधि की मात्रा सामान्य मात्रा से १ ५० गुणा अधिक प्रयुक्त की गई, तब भी २० महीनों तक उसपर किसी प्रकार का कुप्रभाव न देखा गया और वह सर्वथा स्वस्थ बना रहा।

पिछले २५ वर्षों में यूरोप आदि देशों के अनुभवों से लाभ उठाकर, भारत सरकारने, विश्व-स्वास्थ्य संघ तथा संयुक्त राष्ट्रीय-शिशु संकट-फंड (यूनि सेफ) की सहायता से, १९४८ में, इस टीके का श्रीगणेश भारत में किया और इस समय यह देश के सभी राज्यों में प्रचलित है, तथा अगले दो वर्षों में इसका और अधिक विस्तार हो जाएगा।

यक्ष्मा अपना प्रभाव बच्चों एवं नव वयस्कों पर विशेष जमाता है। देश के कुछ शहरी क्षेत्रों में ५०-५५ प्रतिशत, १५ वर्षीय व्यक्ति इस रोग से प्रभावित पाए गए हैं। अनुमान है कि भारत में १७ करोड बच्चे और युवा ऐसे हैं जिन्हें इस रोग से बचाने की आवश्यकता है। और पश्चिमी देशों के अनुभवों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि अगले पाँच वर्षों में नवजात शिशुओं के अतिरिक्त उन सभी व्यक्तियों को भी बी० सी० जी० का टीका लगा दिया जाए जो अभी तक इस महाराक्षस के पंजे में नहीं फंसे, तो १५-२० वर्ष की अवस्था में इस भयानक शत्रु के हाथों पीडित होने तथा मरने वालों की संख्या में ८० प्रतिशत की कमी हो सकती है।

जुड़वां शिशु तथा विकृत आकार

मू० ले० मारग्रेट शी गिल्बर्ट अनु० श्री नरेन्द्र

विज्ञान के पिछले दो अंकों में 'गर्भस्थ शिशु की कहानी' के कुछ अंश दिये गए थे। अंतिम अध्याय पाठकों के अवलोकनार्थ इस अंक में दिया जा रहा है। जुड़वां शिशु तथा विकृत आकारों की मार्मिक व्याख्या इस लेख में देखें।

एक प्रसव में एक शिशु के जन्म की स्वाभाविक अवस्था से साधारण विचलन एक ही प्रसव में एक से अधिक शिशुओं का जन्म है। उपर्युक्त उदाहरण की साक्षी के लिये निम्नलिखित अंक-गणना प्रस्तुत की जा सकती है जो कि एक ही प्रसव में एक से अधिक शिशुओं के जन्म के सम्बन्ध में एक विश्वास योग्य अंक-गणना है:—प्रति ८५ शिश-जन्मों में एक बार यमज शिशुओं का जन्म होता है; एक ही प्रसव में तीन शिशुओं का जन्म प्रति ७२२५ शिशु-जन्मों में होता है; एक प्रसवगत चार शिशुओं का जन्म एक बार प्रति ६१४१२५ शिशु-जन्मों में; पांच शिशु एक साथ प्रति ५२२००, ६२५ शिशु-जन्मों में, तथा प्रत्येक ४४३७०५३१२५ शिशुओं के जन्म में एक बार एक ही प्रसव में छः शिशुओं का जन्म एक साथ होता है।

एक प्रसव में एक से अधिक शिशुओं के जन्म के विवरण में उदाहरणस्वरूप यमज शिशुओं के विकास का विवरण उपयोग में लाया जा सकता है। प्रारम्भ में ही यह इंगित कर देना आवश्यक है कि पृथक यमज तथा संयुक्त यमज अथवा जुड़वा दो प्रकार के यमज शिशु होते हैं। साधारणतः नियमित रूप से एक बार में डिम्बग्रन्थि में एक ही रजाण्ड पकता है और फिर गर्भित हो जाने की सम्भावना के साथ डिम्बग्रन्थि से छोड़ दिया जाता है। उपर्युक्त तथ्य तथा वास्तविकता ही, मनुष्य जाति में एकाकी शिशुओं के जन्म के आधिक्य का कारण है। कभी-कभी दो रजाण्ड अथवा दो से अधिक रजाण्ड पककर डिम्बग्रन्थि से एक साथ मुक्त कर दिये जाते हैं और यदि ये सब रजाण्ड गर्भित हो जायें तथा गर्भाशय के भीतर समुचित स्थितियों में प्रतिष्ठित हो जायें तो परिस्थिति के अनुसार दो या दो से अधिक भ्रूणों का विकास हो जायगा। उपर्युक्त प्रकार से उत्पन्न हुए यमज शिशु, अपने आनुवंशिक गुणों की प्राप्ति की दृष्टि से, एक ही माता पिता के दो शिशुओं के पारस्परिक सम्बन्ध से अधिक निकट सम्बन्धित नहीं होते हैं। यह कहना उचित होगा कि इस प्रकार से उत्पन्न हुए व्यक्ति एक समुदायी जन्म के सदस्य हैं। उपर्युक्त वर्णन पृथक यमज शिशुओं का उदाहरण है—दो स्पष्ट तथा भिन्न व्यक्ति विशेष परिस्थितियों के वश एक माता के गर्भ से एक ही समय उत्पन्न हो गए हैं। इस प्रकार से उत्पन्न हुए यमज शिशु एक समान अथवा विपरीत लिंग जाति के हो सकते हैं और यह आवश्यक नहीं है कि साधारण भाई बहिनों से अधिक समानता उनके आकारों और रूप में हो।

पृथक यमज शिशुओं के विपरीत संयुक्त अथवा यमज जुड़वां वह शिशु हैं जो कि विकास की अल्पायुगत स्थिति मानव में जीव की शक्ति की दृष्टि से एकाकी जीव थे—अर्थात् वे शिशु एक शुक्रकीट के द्वारा गर्भित किये गए एक ही रजाण्ड से निर्मित हुए थे। उस रजाण्ड पर अथवा उसके भीतर किन्हीं अज्ञात तथा अस्वाभाविक परिस्थितियों के प्रभाव के फल स्वरूप, गर्भित रजाण्ड एक व्यक्ति के रूप में विकसित होने के स्थान पर दो व्यक्तियों में विकसित हो जाता है। इस प्रकार उत्पन्न

हुए जुड़वां शिशु स्वभावतः समान प्रकृति के ही आनुवंशिक गुणों को ग्रहण करते हैं तथा गर्भाधान के समय
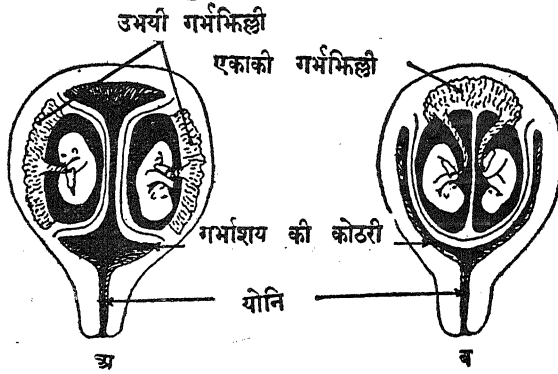
(चित्र ३४) *गर्भाशय के भीतर जुड़वां बच्चों की दो सम्भावित स्थितियाँ।*

अ—भूठे जुड़वां, पृथक झिल्लियों वाले तथा गर्भाशय की दीवाल पर अलग-अलग स्थितियों पर प्रतिष्ठित।

ब—सच्चे अथवा समरूपी जुड़वां, एकाकी झिल्ली तथा एक ही स्थान पर प्रतिष्ठित।

ही लिंग जाति के निर्धारित हो जाने के कारण आवश्यकता के अनुसार ये संयुक्त जुड़वां शिशु एक लिंग जाति के ही होते हैं। गर्भाशय के भीतर अपनी जीवनावधि में ये एक ही गर्भझिल्ली से सम्बद्ध होते हैं। इनके आन्तरिक अंगों के सूक्ष्म आकारों में भी समानता होती है—उपर्युक्त कथन इस सम्भावना के आधार पर है कि संयुक्त जुड़वां में से प्रत्येक शिशु को साधारण विकासके लिये समान साधन तथा समान परिस्थितियाँ मिलें। दो व्यक्तियों के आकार तथा रूप में इतनी अधिक स्पष्ट समरूपता होने के कारण ही इन शिशुओं के लिये—समरूपी शिशु—यह नाम प्रचलित हो गया है।

एक प्रसवमें बहुशिशुओं के जन्म-सम्बन्ध में यदि यह प्रस्तावन उपयुक्त हो सकती है कि स्वाभाविक आकार से विचलन, साधारण और नियमित विकासात्मक कार्यविधियों में उत्पन्न अधिक अथवा कम मात्रा के प्रतिरोधों के परिणाम हैं तो यह आशा होगी कि विकासकालीन प्रतिरोधों और विघ्नों के घटने के काल तथा उनके प्रभाव की मात्रा के अनुसार यमजत्व अथवा जुड़वांपन के विविध अंश पाए जाने चाहिये। वास्तव में ऐसा होता भी है—दो स्पष्ट तथा पृथक यमज शिशुओं से लेकर पूर्णरूप से संयुक्त जुड़वां शिशुओं तक, बीच की सब स्थितियां इस प्रकार के शिशुओं के जन्म में पाई गई हैं। ऐसे दृष्टान्त भी मिलते हैं कि यद्यपि दो यमज व्यक्ति स्पष्ट हैं, पर तब भी समान आकार के नहीं हैं—एक शिशु लघु आकार का तथा कम विकसित हो सकता है। इस तरह के उदाहरणों में कभी कभी ऐसा भी होता है कि निर्बल शिशु अपने शरीर में रक्त-संचार के लिये दोनों की एकाकी गर्भझिल्ली से ही नहीं, परन्तु अपने निर्बल शरीर के संयोजन द्वारा भी स्वस्थ तथा स्वाभाविक शिशु पर निर्भर होता है।

उपर्युक्त प्रकार के आकार-भेद के अतिरिक्त और सब प्रकार के संयुक्त यमज अथवा जुड़वां शिशु भी पाए जाते हैं—दोनों शिशु समान आकार के तो हों, परन्तु स्पष्ट रूप से पृथक नहीं, अथवा दोनों शिशुओं के शरीरों के मध्य कोई विशेष भाग एकाकी हो। इस प्रकारके संयोजन आंशिक दृष्टि से कम संयुक्त भी हो सकते हैं—जैसे दोनों धड़ों के मध्य एक कम्पनशील दण्ड; अथवा विस्तृत अंश का संयोजन भी पाया जा सकता है—जैसे तथा कथित स्याम के यमज, जिस संयुक्त यमजों अथवा जुड़वाँ शिशुओं के शरीर वस्तिप्रदेश, वक्ष-प्रदेश अथवा उदर-प्रदेश पर विस्तृत रूप से संयुक्त हों (चित्र—३५)। अन्तिम दृष्टान्त अधिकतर राक्षसी आकारों के उदाहरण हैं तथा इस प्रकार के यमज-शरीरों में इतने अधिक अंश में आन्तरिक अस्वाभाविकताएँ तथा विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होजाती हैं कि यह शिशु कदाचित् हीजीवित रह पाते हैं। ऐसे उदाहरण भी पाए जाते हैं जिनमें यमज-शरीर साधारणतः स्पष्ट तथा पृथक हों, परन्तु युग्मता के कुछ प्रमाण अवश्य हों—युग्मता के प्रमाण, शरीर की किसी सीमित भाग की युग्मावस्था से लेकर शिशु-शरीर के दाहिने तथा बाँएँ अर्धांगों में लगभग अव्यक्त तथा अस्पष्ट भेद तक, युग्मता के विविध अंशों का प्रदर्शन कर सकते हैं। विविध अंशों में युग्मावस्था के पाये जाने के प्रमाण पहले कहे गए अनुसन्धान-तथ्य का और अधिक अनुमोदन करते हैं कि साधारण विकासात्मक क्रिया-विधियों में विघ्न के फलस्वरूप यमज-अवस्था उत्पन्न होती है, तथा युग्मावस्था का अंश

अज्ञात विघ्नोत्पादक प्रभाव की मात्रा तथा विघ्न-प्रघटन के समय पर निर्भर होती है।
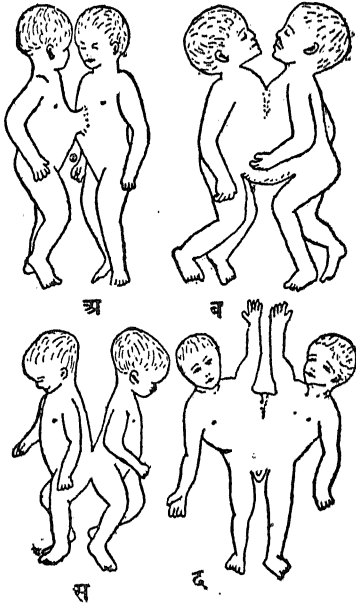
(चित्र ९५) संयुक्त जुड़वां शिशुओं के विविध नमूने
अ—वक्ष-प्रदेश के निचले भाग पर जुड़े हुए।
ब—वक्ष प्रदेश तथा उदर-प्रदेश पर जुड़े हुए।
स—मेरु दण्ड के निचले सिरे पर जुड़े हुए।
द—वस्ति प्रदेश तथा निचले अवयव के बीच पूरे जुड़े हुए।

गर्भित रजाण्ड के गर्भाशय की छोटी दीवाल में स्वाभाविक रूप से प्रतिष्ठित होने की जगह कभी कभी कम उपयुक्त स्थान में रजाण्ड स्थापित हो जाता है, इस परिस्थिति में भी विकृत आकार अथवा राक्षसी आकारों की उत्पत्तिहोने की सम्भावना रहती है। जिन गर्भ-नलिकाओं में होकर रजाण्ड गर्भाशय को जाता है, विविध कारणों से गर्भित रजाण्ड उन्हीं नलिकाओं के भीतर ही प्रतिष्ठित हो सकता है—इस प्रकार गर्भ-नलिका वाली गर्भावस्था साधारण भ्रूण के विकास को अधिकतर पूरा नहीं होने देती क्योंकि छोटे आकार वाली तथा पतली दीवालों वाली गर्भ-नलिका ऐसे साधनों और सुविधाओं को प्रस्तुत नहीं कर सकती है जो कि विकासगत भ्रूण के द्वारा वांछित विशाल फैलाव तथा समुचित गर्भझिल्ली के निर्माण में सहायता दे सकें। उपर्युक्त स्थान से भी कम अनुकूल तथा अनुपयुक्त अवस्था रजाण्ड की स्थापना के लिये वह होती है जिससे कि गर्भित रजाण्ड डिम्बप्रणाली के धरातल पर अथवा उदर प्रदेश की आन्तरिक सतह पर प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार स्थापित हुए भ्रूण नियमानुसार प्रसवकाल तक की विकसित अवस्था प्राप्त करने में असफल होते हैं; और यह अस्वाभाविक अवस्था माता के लिये भी अधिकतर सांघातिक होती है।

मानव शरीर के लगभग सभी अंगों तथा भागों के विकासकाल में वह स्थितियां सदा आती हैं जब कि बाहिरी प्रतिकूल परिस्थितियाँ अथवा कोष्ठों की कुछ अन्तर्निहित कमियां (जिनका प्रभाव विकास कार्य पर पड़ता है) अंगों के विकास में रोक, स्वाभाविक विकास-मार्ग से विचलन अथवा किसी एक अंग के विकास में आधिक्य उत्पन्न कर सकती हैं। किसी अंग पर पड़ने वाले इस प्रकार के प्रभाव उस अंग में विशेष अस्वाभाविक अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। अस्वाभाविक गर्भ-विज्ञान के उपर्युक्त मूल-तथ्यों को स्पष्ट करने का एक दूसरा तरीका निम्नलिखित है—प्रत्येक अंग अथवा भाग के लिये आकार-भेद वाली तथा अस्वाभाविक अवस्थाएँ एक अथवा अनेक हो सकती हैं और यह अवस्थाएँ किसी भी व्यक्ति में प्रगट हो सकती हैं जिसके शरीर में वह अंग अथवा भाग अस्वाभाविक रूप से विकसित हो जाता है। इस स्थान पर विविध प्रकार के आकार-भेदों में से उन्हीं का वर्णन आवश्यक तथा अभीष्ट है जो कि अधिकतर पाए जाते हैं और आंशिक दृष्टि से कम विकृत आकार हैं।

शिशु की मुखाकृति में सबसे अधिक साधारण आकार-भेद की अवस्था सम्भवतः एक अथवा अनेक भागों का चौड़ा हो जाना है। गर्भावस्था में दूसरे मास में गर्भपिण्ड के विकासकाल के अन्तर्गत मुखाकृति के विकास का विवरण यह तो स्पष्ट कर ही देता है कि अल्पावस्था में मुखाकृति के सब भाग अपेक्षाकृत चौड़े होते हैं—मुख-छिद्र अत्यधिक चौड़ा होता है, नाक चौड़ी और चपटी होती है तथा नेत्र एक दूसरे से अधिक दूरी पर स्थित होते हैं। यदि विकासकाल की इस स्थिति में प्रतिरोध उत्पन्न हो, तो एक ऐसे व्यक्ति का जन्म हो जायगा जिसमें कि

उपर्युक्त गर्भपिण्डीय स्थिति के सब चिन्ह प्रदर्शित होते होंगे—मुख-छिद्र के कोने परस्पर सम्बद्ध होने में सम्भवतः असफल हो गए हों, नासिका चौड़ी और चपटी हो जिसमें ऊपरी बाह्याकार की रचना बिल्कुल नहीं हुई हो अथवा उसका कम विकास हुआ हो तथा नेत्र अधिक दूर स्थित हों। मुखाकृति के विकासकार्य में प्रतिरोध का परिणाम अधिकतर 'हेयर-लिप' अर्थात् शावक-ओष्ठ की रचना होता है, जिसमें नाक के नीचे वाले गड्ढे के एक अथवा दोनों ओर ऊर्ध्वोष्ठ (ऊपरी-ओष्ठ) अधिक या कम फटा हुआ होता है (चित्र—३६ अ)। यह विकास-कालीन प्रतिरोध कभी कभी इतना अधिक प्रभावशील होता है कि ऊर्ध्वोष्ठ के साथ साथ ही मुख की ऊपरी छत—तालू भी फटा हुआ होता है (चित्र—३६ ब)। उपर्युक्त अस्वाभाविक अवस्थाएँ उस समय उत्पन्न होती मानी जाती हैं जब कि ऊपरी जबड़े तथा समीपवर्त्ती भागों की रचना में प्रयुक्त कोष्ठसमूहों के अनेक दण्डों के सम्बद्धीकरण में असफल हो जाय। मुखाकृति के स्वाभाविक विकासकाल में घटने वाले पृथक पृथक अनेक कोष्ठसमूहों में पारस्परिक और जटिल अनेक सम्बद्धीकरण होने के ही कारण ऐसा प्रतीत होता है कि शिशु की मुखाकृति उन क्षेत्रों में से एक है जो कि अस्वभाविक विकास के द्वारा अत्यधिक प्रभावित हो सकते हैं।

शिशु के नेत्र भी अनेक आकार-प्रकार के आकार-भेदों का प्रदर्शन कर सकते हैं—हो सकता है कि 'प्यूपिलरी मेम्बरेन' अर्थात् पुतली की झिल्ली, जो गर्भ के चौथे से छठवें मास तक पुतली को साधारणतः ढँके रहती है, जन्म के पूर्व लुप्त होने से विफल हो जाय, इस परिस्थिति के परिणाम स्वरूप वह झिल्ली पुतली को पूरी तरह अथवा विभाजित रूप से ढँके रह सकती है। अल्पावस्था की नेत्र-प्यालियों के कोनों के सम्बद्ध हो जाने में विफलता के फलस्वरूप नेत्र-बिन्दु फटा हुआ अथवा दरार-युक्त पाया जा सकता है (चित्र—३६ द) कभी-कभी ललाट के मध्य में एक नेत्र ही विकसित हो सकता है, परन्तु इस अस्वाभाविकता के साथ साथ मस्तक प्रदेश के अन्य क्षेत्रों में इतने अधिक अंश की अस्वाभाविकता पाई जाती है कि ऐसे नेत्र वाला व्यक्ति प्रसव तक जीवित नहीं रह पाता है (चित्र—३६ स)।
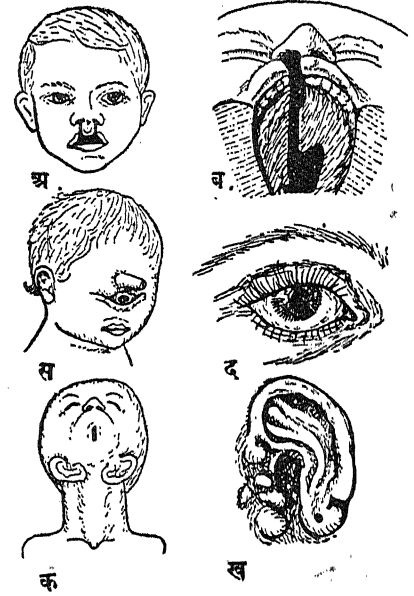
चित्र ३६) चेहरे के विविध आकृति-विकार

अ—दो दरार वाला ओठ

ब—दरार वाला तालू, एक दरार वाले ओठ के साथ

स—साइक्लोपिया—मध्य स्थित एकाकी नेत्र, जिसके ऊपर सूंडनुमा नाक निकली हुई है।

द—दरार वाली नेत्र-पुतली।

क—मस्तक के पार्श्वों पर, कानों के चढ़ने में विफलता छोटा मुंह तथा कमजोर जबड़े।

ख—आकार-विकृत कान, जिनमें कान बनाने वाली कुछ घुण्डियां परस्पर सम्बद्ध नहीं हुई हैं।

आकार-भेद के सम्बन्ध में यह भी हो सकता है कि शिशु की श्रवणेन्द्रिय—कान, कण्ठप्रदेश के समीप वाली अपनी गर्भपिण्डीय स्थिति से स्वाभाविक स्थिति में अवतरित न हो पाये—यह अवस्था सम्भवतः निचले जबड़े के विकास में अवरोध के कारण होती है, यदि इस कारण नहीं तो निचले जबड़े के कम विकसित होने वाली अवस्था के

साथ-साथ तो अवश्य पाई जाती है। भीतरी श्रवणेन्द्रिय से मस्तिष्क तक समुचित सम्बन्ध स्थापित करने वाली आवश्यक नाड़ियाँ यदि अपने विकास अथवा आकार-वृद्धि में विफल हो जायं तो शिशु में जन्मजात बहरेपन की अवस्था हो सकती है। यह तो बतलाया ही जा चुका है कि बाहिरी कानों का निर्माण कोष्ठसमूहों की सात या आठ छोटी छोटी घुण्डियों के पारस्परिक सम्बद्धीकरण के द्वारा सम्पूरित होता है, सम्बद्धीकरण का कार्य यह सम्भावना प्रस्तुत कर देता है कि इस कार्य में विघ्न पड़ने पर बाहिरी कानों के आकार तथा उनकी सुघड़ता में विविध आकार-भेद वाली अनेक अवस्थाएँ उत्पन्न हो सकती हैं (चित्र—३६ ख)।

मुख के भीतर दन्त-किनारी के ऊपर यदि स्वाभाविक संख्या के अतिरिक्त दन्त-कलियों की आकार-वृद्धि बाहर की ओर हो जाय तो दांतों की संख्या तथा उनकी स्थिति के सम्बन्ध में विविध आकार-भेदशील अवस्था उत्पन्न हो सकती हैं। निम्न-जाति के पशुओं में पाए जाने वाले श्वास-छिद्रों के समान आकार वाले दरारों के क्रम, जो कि गर्भस्थ शिशु के कण्ठ-प्रदेश पर स्थित होते हैं, शिशु के कण्ठ पर छोटी छोटी बन्द सूजनें पैदा कर देते हैं—यह 'सिस्ट' सम्भव है कि पूरी तरह लुप्त न हों (यह सूजनें स्वयं तो हानिकारी नहीं होती हैं, वरन् रोग-कीटाणुओं के संक्रमण के लिये उपयुक्त केन्द्र-स्थल बन सकती हैं और इनको हटा देना आवश्यक है।

शिशु के धड़ पर प्रगट होने वाले अनेक आकार-भेदों का वर्णन पहले ही आ चुका है—बाँह की जड़ से वस्तिप्रदेश तक उदर-प्रदेश के पार्श्व के सहारे फैली हुई, गर्भपिण्डीय अवस्था वाली दुग्ध-ग्रन्थियों के क्रम की रेखा के सहारे कहीं पर भी अतिरिक्त दुग्ध-ग्रन्थियां विकसित हो सकती हैं। अतिरिक्त दुग्धग्रन्थियों के विकास के साधारणतः इतने अधिक दृष्टान्त पाए जाते हैं कि एक विशाल जन-संस्था की अंक- गणना पर यह पाया गया कि सम्मिलित रूप से उस संख्या के छठे भाग के दोनों लिंग-जाति के सदस्यों में यह अतिरिक्त दुग्ध-ग्रन्थियां देखी गईं। गर्भपिण्डीय जीवन के दो मासों में सम्भवतः पाई जाने वाली पूँछ, कभी कभी जन्म तक स्थायी बनी बनी रहती है—शिशु के शरीर में एक से तीन इंच लम्बे कोमल और मांसल ठूँठ के समान यह पूँछें अधिकतर शिशु के नितम्बों में छिपी होती हैं। आकार-भेद के सम्बन्ध में ऐसी अवस्था की सम्भावना भी है जब कि हाथ तथा पैरों पर अँगुलियां अथवा अँगूठे अतिरिक्त संख्या में विकसित हों, अथवा समीपवर्त्ती अँगुलियां तथा अँगूठे परस्पर संयुक्त हों। अँगुलियों तथा अँगूठों के सम्बन्ध में यह आकार-भेद सम्भवतः हथेली तथा तलवों की नालियों में अँगुली अथवा अँगूठों को प्रतिचिन्हित करते समय उत्पन्न हो जाते हैं।

गर्भस्थित शिशु के विकासकाल के विवरण में यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि मानव शरीर की दीर्घ-अस्थियों की रचना का प्रारम्भ उन अस्थियों के कोमलास्थि-प्रतिरूपों के निर्माण से होता है और फिर धीरे-धीरे कोमलास्थि पदार्थ को कठोर अस्थि-पदार्थ के द्वारा स्थानान्तरित करके दीर्घ-अस्थि की रचना सम्पूरित होती है। इस दृढ़अस्थि की आकार-वृद्धि लम्बाई में उस समय तक होती रहती है, जब तक कि अपनी विकासगत अवस्था में कोमलास्थि-प्रतिरूप अस्थि-पदार्थ के द्वारा पूरी तरह स्थानान्तरित न हो जाय। अस्थि-पदार्थ का विकास प्रतिरूप की कोमलास्थि के अन्तिम अंश को स्थानान्तरित कर चुकने के समय तक ही होता है, और उस समय तक प्राप्त आकार ही अस्थि का सम्पूर्ण स्थायी आकार होता है। स्वाभाविक और नियमित परिस्थितियों में कोमलास्थि-प्रतिरूप का विकास और उसकी आकार-वृद्धि इतने समुचित रूप से होती है कि वंश तथा जाति की प्रकृति के अनुसार उस नूतन व्यक्ति को अपनी अस्थियों में एक औसत आकार प्राप्त हो जाता है। प्रसव से पूर्व अथवा प्रसवकाल के उपरान्त, दोनों विकास-कालों के अन्तर्गत, कोमलास्थि-प्रतिरूप के विकास की गति को विविध प्रकार के विघ्न तथा विरोध कम या अधिक कर सकते हैं; और विकास-गति में उत्पादित विभेदों का प्रभाव विकासकाल की अवधि पर भी पड़ सकता है। स्वाभाविक कालावधि के पूर्व ही कोमलास्थि-पदार्थ का स्थानान्तरित हो जाना शिशु के शरीर में बौनापन ला देता है और इसके विपरीत कोमलास्थि-प्रतिरूप के आकार में स्वाभाविक से अधिक विशालता के परिणाम स्वरूप बड़ी अस्थि के निर्मित होते जाने के कारण दैत्याकार की उत्पत्ति हो जाती है।

अस्थियों में आकार-परिवर्त्तन के समकाल ही उनकी संख्या में अधिकता अथवा कमी पैदा हो सकती है। संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक प्रचलित उदाहरण मेरु-खण्डों तथा पसलियों में अतिरिक्त अस्थियों की स्थापना है। पेचीले विकास की अनुगामिनी, ये अस्थियां कभी कभी अपने विकासकाल में प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पड़ जाती हैं, दृष्टान्त स्वरूप—वक्षप्रदेश के अस्थिकंकाल का निर्माण स्वभावतः दो अस्थि-भागों के संयोजन के द्वारा उत्पन्न होता है; दोनों अस्थि-भाग प्रत्येक पसली-क्रम के निचले सिरे से अलग अलग संयुक्त होते हैं; इस निर्माण-कार्य में विकासकालीन प्रतिरोध दरार-युक्त एकवक्षास्थि-कंकाल की रचना कर देगा।

शिशु के आन्तरिक अंगों में, गर्भपिण्डीय स्थिति के आकारों तथा रूपों के स्थायी बने रहने का प्रदर्शन हो सकता है और अधिकतर ऐसा होता भी है। दोनों 'ओरिकिल्स' अर्थात् हृदय के प्रकोष्ठों के बीच वाला छिद्र, जो कि भ्रूणीय जीवन में निष्क्रिय फेफड़ों से बचाकर रक्त को सीधा शरीर-संचार में प्रवाहित करता है, शिशु तथा वयस्क मनुष्य दोनों में ही स्थायी बना रह सकता है। अंग-गणना के अनुसार प्रत्येक चार व्यक्तियों में एक वयस्क मनुष्य में इस छिद्र के कुछ चिन्ह पाये जाते हैं, परन्तु यह आकार-दोष इस प्रकार स्थित होता है कि हृदय के उन दोनों प्रकोष्ठों के बीच रक्त नहीं के बराबर मात्रा में रिस पाता है। यदि कभी यह छिद्र अधिक चौड़ा होकर स्थायी बना रहे तो नवजात शिशु में रक्त विभक्त होकर फेफड़ों से अलग प्रवाहित हो निकलता है तथा इस परिस्थिति के फलस्वरूप इस आकार-दोष से शिशु के रक्त में पीली आभा उत्पन्न हो जाती है—रक्त में इस दोष के फलस्वरूप उत्पादित शिशु की अवस्था साधारणतः नीले शिशु के नाम से प्रचलित है (अर्थात् दूषित रक्त वाला शिशु)। इस अवस्था के अधिक उग्र हो जाने पर, शिशु अपने भीतर श्वास के रुद्ध हो जाने के परिणाम स्वरूप मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

दो मास की आयु के गर्भपिण्डीय शरीर में प्राथमिक भोजन-नली को कोष्ठों की ठोस डाटें बन्द किये होती हैं, कभी कभी यह डाटें स्थायी बनी रहकर शिशु की आँतों तथा कण्ठस्थ भोजन-नली को पूरा या आधा बन्द कर देती हैं। आँतों तथा कण्ठस्थ भोजन नली के इन डाटलगे खण्डों को शिशु के जीवन की रक्षा के हेतु चीर कर के अलग हटा देना आवश्यक है। एक मास की आयु के गर्भपिण्डीय शरीर के गुदा-द्वार पर आँतों के बाहिरी छिद्र को बन्द करने वाली झिल्ली भी स्थायी बनी रह सकती है और इसके फलस्वरूप छिद्रहीन गुदा की रचना हो जाती है। अंकगणना के आधार पर वयस्क मनुष्यों की दो प्रतिशत संख्या में शरीर की लघु-आँतों के एक भाग से सम्बद्ध छोटी और बन्द एक थैली होती है—इस थैली के पूर्वविकासके अध्ययन से यह पता चलता है कि पाँच सप्ताह की आयुवाले गर्भपिण्ड की योक-थैली का यह वह अवशेष है जिसके द्वारा योक-थैली का संयोजन प्राथमिक भोजन-नली से था, योक-थैली का वह डण्ठल परिस्थितिवश कदाचित स्थायी बना रह गया है। योक-थैली का यह स्थायी डण्ठल कभी कभी आँतों से नाभि-प्रदेश तक बढ़कर आ जाता है तथा नाभि-स्थल में उसका एक द्वार शरीर के बाहर की ओर हो जाता है, परन्तु यह अवस्था बहुत कम उदाहरणों में पाई जाती है। गर्भावस्था के दूसरे मास में उत्पन्न हुई स्वाभाविक अवस्था—अल्पकालीन गर्भानालीय' हर्निया' (जिसमें आँतों का कुछ भाग गर्भनाल में अवतरित हो जाता है) कभी कभी स्थायी रहकर 'शिशु के शरीर में जन्मजात गर्भनालीय 'हर्निया' की अवस्था उत्पन्न कर देती है।

मनुष्य शरीर के आन्तरिक अंगों की अतिविलक्षण तथा अद्भुत एक अवस्था में शरीर के वाम पार्श्व में पाए जाने वाले सब अंग (हृदय तथा आमाशय आदि) दाएँ पार्श्व में स्थित होते हैं और स्वाभाविक रूप से दाएँ पार्श्व में पाए जाने वाले अंग (जैसे यकृत, पित्त कोष्ठ तथा 'ऐपेण्डिक्स' आदि) शरीर के वाम पार्श्व में स्थित होते हैं। इस प्रकार की अवस्था को प्रदर्शित करने वाले शरीर के आन्तरिक अंगों की तुलना यदि साधारण मानव शरीरों के आन्तरिक अंगों से की जाय तो स्पष्टतः यही निष्कर्ष निकलेगा कि एक अवस्था दूसरी का प्रतिबिम्ब है—शरीर के सब अंग दोनों उदाहरणों में समान सापेक्षिक स्थिति तो ग्रहण किये होते हैं, परन्तु शरीर के विपक्षीय पार्श्वों में प्रतिष्ठित होते हैं। विपक्षीय पार्श्वों में आन्तरिक अंगों वाली

इस अवस्था के कारण तथा विकास-इतिहास पूरी तरह अभीतक नहीं समझे जा सके हैं।

प्रजनन तथा मूत्र संस्थान के स्वाभाविक विकास के लिये गर्भस्थ शिशु के शरीर के भीतर घटनेवाली पेचीली कार्य-विधियों तथा जटिल रूपपरिवर्त्तनों (जैसे पेचीली स्थिति-स्थापना, विकास प्राप्त करके गर्भावस्था में ही प्रलुप्त हो जाने वाले आकारों की रचना, विविध भागों के संयोजन करने वाली कार्यविधियां तथा अंगों की स्थापना करने वाले कार्यविधान) के कारण ऐसे अनेक अवसर उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें असाधारण विचलनों उत्पत्ति हो जाय। यह सम्भावना बनी रहती है कि गुर्दे, जो कि सबसे पहले वस्ति प्रदेश में निर्मित होकर अन्त में उदरप्रदेश में स्थायी स्थिति ग्रहण करते हैं, कदाचित् वस्तिप्रदेश के बाहर न आ सकें। गुर्दों के ब्राह्माकारों से निर्मित होने वाली संग्रहकारी प्रणालियां तथा उनके ऊपर की ओर स्थित मूत्र-निस्तारक नलिकाओं के पारस्परिक संयोजन स्वाभाविक कार्यसंचालन के लिये आवश्यक है। यदि दोनों का संयोजन समुचित रूप से न हो पावे और मूत्र-निस्तारक नलिकाएँ अपना कार्य प्रारम्भ कर दें, तो मूत्र परिस्थितिवश नलिका के भीतर ही भरा रहेगा और इसके कारण नलिका सूज जायगी तथा गुर्दों में फफोले पड़ जायंगे। यदि यह सूजा हुआ गुर्दा अधिक बड़ा हुआ तो स्वाभाविक गुर्दे के कार्यसंचालन में गहन बाधा उत्पन्न हो जायगी।

शिशु की शुक्र-ग्रन्थियाँ स्वाभाविक विकास की अवस्था में उदरप्रदेश के बाहर अण्डकोषों में उतर जाती हैं, इस सम्बन्ध में यह सम्भव हो सकता है कि शुक्र-ग्रन्थियों का अवतरण पूर्ण रूप से सम्पन्न न हो और शुक्र-ग्रन्थियां वस्तिप्रदेश में ही रुक जायं—शुक्रग्रन्थियों की यह दशा 'क्रिप्टोर्चिज्म' अर्थात् गुप्त शुक्र-ग्रन्थि कहलाती है और इस दशा में शुक्रग्रन्थियाँ सदा पुंसत्वहीन होती हैं। यदि वह छिद्र, जिसमें होकर उदर-प्रदेश से अण्डकोषों का अवतरण होता है, अवतरण के उपरान्त पूरी तरह बन्द नहीं हो पावे और आँतों का एक भाग इस छिद्र में धँस जाय तो वह अवस्था उत्पन्न हो जायगी जिसको 'इग्विनल हर्नियां' कहते है। कभी कभी शिश्न, जो कि लघुआकार वाली जनन-धुण्डी के विस्तृतविकास के फल स्वरूप अपनी आकार-प्राप्ति करता है, अपने स्वाभाविक आकार को नहीं प्राप्त कर पाता है।

मादा शिशु में उन दोनों जनन-प्रणालियों के निचले सिरों का संयोजन कभी कभी अपूर्ण रह जाता है, जो कि संयुक्त होकर मध्यस्थित एकाकी गर्भाशय तथा योनिमार्ग की रचना करते हैं,—इस अवस्था में दो गर्भाशय निर्मित हो जाते हैं। कभी कभी योनि-द्वार को बन्द करने वाली झिल्ली ('हाइमन' अर्थात् योनि का पर्दा) स्वाभाविक से अधिक मोटी होकर लगभग पूरी तरह छिद्रहीन हो जाती है।

गर्भपिण्डीय अवस्था वाली प्रजनन-संस्थान की उभय-लिंगी प्रकृति ऐसे अस्वाभाविक अवसर उत्पन्न कर देती है जिनके कारण विपरीत लिंगजाति के अप्रयुक्त आकार स्थायी बने रह सकते हैं अथवा इन आकारों का विकास हो सकता है—इस अवस्था के फलस्वरूप मानव- शरीर में 'हर्मोफ्रोडाइटिज्म' अर्थात् उभयलिंगी प्रकृति विकास पा जाती हैं। ऐसी प्रकृति वाले व्यक्तियों के शरीर में शुक्र-ग्रन्थियाँ दोनों ही पाई जाती हैं। मानवजाति में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते है, परंतु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिल सका है कि ये दोनों जनन-ग्रन्थियाँ सक्रिय हों—अर्थात् एक ही मनुष्य के शरीर में गर्भधारण योग्य रजाण्ड तथा परिपक्व शुक्रकीट एक ही समय अथवा कुछ काल के अन्तर पर भी, उत्पन्न हो सकें। ऐसे उभयलिंगी व्यक्ति दोनों लिंग जातियों के आन्तरिक तथा बाह्य जननांगों का मिश्रण अपने शरीरों में प्रदर्शित करते हैं—उनके शरीर में गर्भाशय, योनि, 'प्रोस्टेट-ग्रन्थि' तथा शुक्र-थैली जैसे आन्तरिक अंग तथा शिश्न, अण्डकोष और दुग्धग्रन्थियां जैसे बाह्य अंग भी पाये जाते हैं। उपर्युक्त प्रकार की उभयलिंगी प्रकृति वास्तव में सच्ची-उभयलिंगी अवस्था कहलाती है।

एक दूसरी प्रकार की उभयलिंगी प्रकृति के उदाहरण भी पाए जाते हैं—एक स्पष्ट लिंग-जाति के प्रतीत होने वाले व्यक्ति में कभी कभी दूसरी लिंग-जाति के कुछ आन्तरिक जननांग विकसित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में उस शरीर के भीतर दोनों में से किसी लिंग-जाति के जननांग उतने विकसित नहीं हो पाते हैं जितने कि एक लिंगजाति वाले स्वाभाविक वयस्क मनुष्य में।

गर्भस्थ शिशु के स्वाभाविक विकास-मार्ग से विचलन—इस सम्बन्ध में किये गए आधुनिक अध्यन के फलस्वरूप अस्वाभाविक अवस्था के कारणों में दो प्रकार के प्रभाव पहचाने गए हैं। आन्तरिक प्रभाव गर्भपिण्ड के शरीर के भीतर अपना कार्य करते हैं, और बाह्य प्रभाव वह है जिनमें बाहिरी वातावरण तथा बाहिरी परिस्थितियां गर्भपिण्ड को प्रतिचिन्हित करती हैं—ये दोनों प्रकार के प्रभाव शिशु के आकार-भेद के कारण हो सकते हैं। कुछ आकार-भेद आनुवंशिक होते हैं जो कि एक वंश से दूसरे वंश में क्रमानुसार प्रकट होते रहते हैं—नियमित संख्या से अधिक अंगुलियों तथा अंगूठों की उपस्थिति अस्वाभाविक अवस्था का आनुवंशिक गुण माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक मानव जीव में इन अस्वाभाविक गुणों का निर्धारण हो जाता है और फिर साधारण आनुवंशिक गुणों के समान ही ये अस्वाभाविक गुण भी एक वंश से दूसरे वंश में पहुँचते रहते हैं—नेत्रों का वर्ण बड़ा उपयुक्त दृष्टान्त है।

गर्भपिण्ड के शरीर में, तथा शिशु अथवा वयस्क मानव में भी शक्ति-शाली 'ऐण्डोक्रीन' ग्रन्थियों की अस्वाभाविक अवस्था उत्पन्न हो सकती है। यह अस्वाभाविक ग्रन्थियां जीव के विकासमार्ग तथा उसके विकास की प्रवाह-गति में परिवर्त्तन उत्पन्न कर देंगी, दृष्टान्त—मानव शरीर के विशाल आकार तथा लघु आकार (बौनेपन) को जन्म देने वाली प्रकृति, गर्भपिण्ड तथा शिशु के शरीर में उपस्थित 'थायराइड' 'पिट्युचरी' ग्रन्थियों के अस्वाभाविक कार्य-सम्पादन से सम्बन्धित है। विकास-मार्ग से अनेक विचलन सामूहिक रूप में घटती है, जिसका कारण यह समझा जाता है कि विकास की अल्पावस्था में एक छोटा विघ्न अस्वाभाविक आकार-वृद्धि के एक पूरे धाराप्रवाह को जन्म दे देता है। तीन सप्ताह की आयुवाले गर्भपिण्ड के मस्तक की ओर के भाग में पैदा हुआ एक अज्ञात विघ्न सामूहिक आकार-भेद वाली एक परिस्थिति उत्पन्न कर देता है जिसमें 'साइक्लोपिया' (एक नेत्र वाली अवस्था), कम विकसित मस्तिष्क, विकृत नाक, निचले जबड़े के विकास में अवरोध, स्वाभाविक स्थिति से स्थानच्युत हुए कान आदि अवस्थाएँ पैदा हो जाती हैं।

आन्तरिक प्रभाव के सहयोग में बाहिरी प्रभाव भी अस्वाभाविक रूप को जन्म देते हैं। गर्भपिण्ड के बाहिरी वातावरण में उग्र प्रकृति का विघ्न उसके स्वाभाविक विकास में अवरोध पैदा कर देगा। अधिक उग्र विघ्नकारी परिस्थिति में गर्भपिण्ड की मृत्यु भी हो सकती है। आकार-भेद उत्पन्न करने वाले बाह्य प्रभाव विशेषकर गर्भझिल्ली के कार्य-संचालन से सम्बन्धित हैं। गर्भझिल्ली के द्वारा, गर्भपिण्ड के लिये भोजन, जल तथा आक्सीजन यदि समुचित मात्रा में प्राप्त नहीं किया गया, तो गर्भपिण्ड के विकास में विघ्न पड़ सकता है और इसके फलस्वरूप विविध प्रकार के अस्वाभाविक रूप उत्पन्न हो जायगे। यदि माता के रक्त द्वारा गर्भझिल्ली में पहुँचे हुए पदार्थों में किन्हीं विशेष विटामिन अथवा धातु अंशों की कमी हो तो गर्भपिण्डीय शरीर में दांतों तथा अस्थियों का अस्वाभाविक अथवा प्रतिरुद्ध निर्माण हो सकता है। गर्भझिल्ली के द्वारा विषैले पदार्थों का शोषण, जो कि गर्भपिण्ड के लिये हानिकारी हों, मस्तिष्क अथवा दूसरे किसी अंग के स्वाभाविक विकास को रोक सकता है।

विज्ञान-प्रेमियों से निवेदन

विज्ञान के प्रचार में सक्रिय सहायता आप करना चाहें तो ५ या १० हिन्दी प्रेमियों का पता दें जिनको आप जानते हों और उन्हें पत्र लिख कर ग्राहक बनने के लिए उत्साहित कर सकें। हम आप के आदेश से उन पतों पर विज्ञान के नमूने या वी० पी० भेज देंगे।

—सम्पादक

हमारा प्रकाशित पुस्तकें

१—**विज्ञान प्रवेशिका, भाग १**—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक—ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम०.एस.सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी० ; मू० ।।।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८) । इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।

५—**वैज्ञानिकों परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहाल-करण सेठी डी० एस-सी० ; १)

६—**समीकरण मीमांसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स)** गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटर-मीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—**वृषो और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी ; ।=)

१०—**सुवर्णकारी**—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

११—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**- विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१२—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम ए०; १७५ पृष्ठ, सैकड़ों चित्र, सजिल्द २)

१३—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले० प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा ; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द २) (अप्राप्य)

१४—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर, सजिल्द, २)

१५—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का ब्योरेवार वर्णन । ले०-डा० गोरख-प्रसाद और श्री रामरतन-भटनागर, एम० ए०, २१८ पृष्ठ, ३१ चित्र, सजिल्द; ५) (अप्राप्य)

१६—**कमल पेवंद**—ले० श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; २० चित्र; मालियों मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी, सजिल्द; २)

१७—**जिल्दसाजी**—इससे सभी जिल्दसाजी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० सजिल्द, २)

१८—**तैरना**—तैरना सीखने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है । ले०—डा० गोरखप्रसाद, मूल्य १)

१९—**सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग**—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद । बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़ों पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन-कथा तथा भरतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है । सजिल्द मूल्य ६) (अप्राप्य)

२०—**वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएं**—ले०—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२१—**खाद्य और स्वास्थ्य**—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२२—**फोटोग्राफी**—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, सजिल्द मूल्य ४)

२३—**फल संरक्षण**—फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली, शरबत अचार, चटनी सिरका, आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२४—**शिशु पालन**—लेखक-श्री मुरलीधर बौड़ाई । गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि का वैज्ञानिक विवेचन । मूल्य ४)

२५—मधुमक्खी पालन—द्वीतीय संस्करण। ले०—पंडित दयाराम जुगड़ान; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों या जन-साधारण को इस पुस्तक का अधिकाँश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, सजिल्द; ३)

२६—घरेलू डाक्टर—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी० घोष, एम० बी० बी० एस०, डी० टी० एम०, प्रोफेसर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच०, डी, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी, बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। १५० चित्र, सजिल्द, ४)

२७—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—संपादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक-एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। मूल्य ३॥)

नवीन पुस्तकें

२८—फसल के शत्रु—लेखक श्री शंकर राव जोशी मू० ३॥)

२९—साँपों की दुनिया—ले० श्री रामेश वेदी मू० ४)

३०—पोर्सलीन उद्योग—ले० प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस मू० ॥)

३१—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ— मू० २)

३२—गर्भस्थ शिशु की कहानी—ले० मारग्रेट शी गिल्बट (अनु० प्रो० नरेन्द्र) मू० २॥)

हमारे यहाँ नीचे लिखी पुस्तकें भी मिलती हैं:—

१—साबुन-विज्ञान—विद्यार्थियों और व्यवसाइयों के लिये एक सरल और सुबोध पुस्तक, जिसमें साबुन तैयार करने की विभिन्न विधियाँ और नाना प्रकार के साबुन तैयार करने की रीतियाँ हैं, विवरण के साथ-साथ सैकड़ों के साथ-साथ अनुभूत और प्रमाणित नुसखे भी दिये गये हैं। लेखक-श्री श्याम नारायण कपूर बी० एस-सी, ए० एच० बी० टी० आई०, फेलो, आयल टेकनोलोजिस्ट एसोसिएशन आफ इंडिया

२—भारतीय वैज्ञानिक—१२ भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियाँ—ले०—श्री श्यामनारायण कपूर, सचित्र ३८० पृष्ठ, सजिल्द; मूल्य ३॥) अजिल्द ३)

३—वैक्युमब्रेक—ले०—श्री ओंकारनाथ शर्मा। यह पुस्तक रेलवे में काम करने वाले फिटरों, इंजन-ड्राइवरों, फोरमैनों और कैरेज एग्जामिनरों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। १६० पृष्ठ ३१ चित्र जिनमें कई रंगीन हैं. २)

Reg. No. 372

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उपसभापति, एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मंत्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ५) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश-शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ ७० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, विवरणों इत्यादि बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम

सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज प्रयाग प्रकाशक—विज्ञान परिषद् बैंक रोड, इलाहाबाद